हिन्दी संसार से—

हिन्दी संसार के सम्मुख अपना यह नम्र प्रयास उपस्थित करते हुए हमें आनन्द हो रहा है। बाल-शिक्षा-सम्बन्धी नूतन विचारों के प्रचार के लिए पिछले नौ वर्षों से हम इस मासिक को गुजराती में और गत एक वर्ष से मराठी में भी निकाल रहे हैं। हमें यह प्रकट करते हुए हर्ष होता है कि गुजरात और महाराष्ट्र की जनता ने हमारे इन मासिकों को पर्याप्त-रूप से अपना लिया है।

भारतवर्ष के दस करोड़ से भी अधिक स्त्री-पुरुषों की भाषा राष्ट्र-भाषा हिन्दी है। अपने इन करोड़ों भाई-बहनों को हम बाल-शिक्षा-सम्बन्धी अपना नूतन सन्देश नम्रता-पूर्वक सुनाया चाहते हैं। आशा है, हिन्दी संसार हमारे इस प्रयत्न को अपना लेगा, और हमारे संदेश को व्यापक बनाने में सहायक होगा!

हमारा प्रधान कार्यालय भावनगर (काठियावाड़) में है। यह पत्रिका इन्दौर से प्रकाशित हो रही है। हमारे जिन मित्रों ने सेवा-भाव से प्रेरित होकर इस कार्य का उत्तरदायित्व स्वीकार किया है, हम उनके आभारी हैं।

इस पत्रिका में अधिकतर मूल गुजराती लेखों का हिन्दी अनुवाद रहा करेगा। संभव है कि इसी कारण पाठकों को इसमें कहीं-कहीं भाषा-सम्बन्धी त्रुटियाँ खटकें। इसकी भाषा को शुद्ध, सरल और बामुहावरा बनाने का सम्पूर्ण प्रयत्न करने पर भी जो त्रुटियाँ रह जायँ, आशा और प्रार्थना है कि पाठक उन्हें निबाह लेंगे।

हमने यह नया साहस इसी आशा पर किया है कि हिन्दी संसार हमारे इस प्रयास को प्रेम-पूर्वक अपना लेगा, और इस सम्बन्ध में हमारा विश्वास तो अटल ही है।

प्रधान कार्यालय,
दक्षिणामूर्ति बाल-मन्दिर,
भावनगर, (काठियावाड़).

विनीत
गिजुभाई,
ताराबहन.

हिन्दी
शिक्षण-पत्रिका

वर्ष पहला
जून, १९३४

अङ्क पहला
ज्येष्ठ, १९९१

प्रधान सम्पादक
गिजुभाई और ताराबहन

सम्पादक
काशिनाथ त्रिवेदी

देश में, एक रुपया : वार्षिक मूल्य : विदेश में, दो शिलिंग

बालक का शरीर छोटा है, पर उसकी आत्मा महान् है। उसकी देह का गठन हो रहा है। उसकी शक्तियाँ खिल रही हैं; किन्तु उसकी आत्मा सम्पूर्ण है और उसकी शक्ति विकसित है। इस आत्मा को हमें अपनी रीति-नीतियों से भ्रष्ट और कलुषित न करना चाहिए। उसे अपनी आत्मा के अनन्त विहारों में विचरण करने देना चाहिए। इस महान् कार्य में हम निमित्तमात्र हो जायँ, तो भी हम धन्य हैं। जहाँ-जहाँ बालकों का विकास होता हो, वहाँ-वहाँ हमें अपनी तीर्थ-भूमि समझना चाहिए—अपना देव-मन्दिर मानना चाहिए।
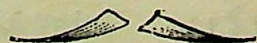
परीक्षा का परिणाम।

परीक्षा केवल बाहरी वस्तु है। परीक्षा से केवल यही जाना जा सकता है कि विद्यार्थी ने रट-रट कर या समझ-समझ कर अपने मस्तिष्क में कितना संग्रह किया है। परीक्षा से विद्यार्थी की ग्रहण करने और शिक्षक की ग्रहण कराने की शक्ति का माप किया जा सकता है; किन्तु वह विद्यार्थी के विकास और विकास-क्रिया को सहायता देनेवाली शिक्षक की शक्ति को सुदृढ़ नहीं बनाती।

परीक्षा से विद्यार्थी बहिर्मुख होता है। परीक्षा विद्यार्थी को अन्दर ले जाने के बदले बाहर निकालती है। बाहरी दृष्टि में दूसरों की अपेक्षा वह कैसा है, यह बताती है और बाहरी माप से अपने को तौलना सिखाती है। यहाँ स्पर्धा और ईर्ष्या की जड़ मौजूद है। इसमें दूसरों की पराजय पर अपनी विजय रहती है; इसमें दूसरों की न्यूनता पर अपनी पूर्णता समझी जाती है और दूसरों की त्रुटियों की तुलना में अपनी त्रुटियाँ छिप जाती हैं।

परीक्षा से अभिमान और निराशा उत्पन्न होती है। बाहरी दृष्टि में जो अग्रगण्य समझा जाता है, वह मिथ्याभिमानी बनता है और परीक्षा जिसे पीछे ढकेल देती है, वह निरुत्साही हो जाता है। मिथ्याभिमानी और निरुत्साही दोनों की प्रगति परीक्षा की क्रिया से बन्द हो जाती है। परीक्षा अभिमान उत्पन्न करके ज्ञान के वास्तविक मार्ग को अन्धकार में डाल देती है और निरुत्साह करके विघ्न उत्पन्न करती है।

परीक्षा के बहुत से स्पष्ट और अस्पष्ट प्रकार विद्यालयों में ही नहीं, घर में भी दीख पड़ते हैं। इसीसे आज का मनुष्य अन्तर्मुखी न रहकर बाह्यमुखी हो गया है। वह अपने लिये न जीकर बाहर के लिये जी रहा है। अन्तर्नीति, अन्तर्धर्म और आन्तरिक बल के बदले बहिर्नीति, बहिर्धर्म और बाहरी बल पर वह मुग्ध है। बाहरी माप-तौल से अपने को तोल कर सन्तुष्ट होता है और सार्थकता अनुभव करता है। संक्षेप में, यों कहना चाहिये कि वह अन्दर से अर्थात् आत्मा से मर कर, बाह्यतः अर्थात् शरीर से जीता है।

बाहरी परीक्षाओं में अभ्यस्त मनुष्य दिन प्रतिदिन दम्भी बनता जाता है। लोग क्या समझेंगे, उन्हें क्या अच्छा लगेगा, मेरे विषय में वे क्या कल्पना करेंगे, मुझे किस प्रकार तौलेंगे, इसका ही उसे विचार होता है। उसे अपनी आत्मा का दमन करना पड़ता है। आन्तरिक वेगों को दबाना पड़ता है और अन्त में आत्म-शून्य होकर जीवन बिताना पड़ता है।

बाहरी परीक्षा का विष जिसे चढ़ जाता है, वह हमेशा भयभीत रहता है। "हाय! अब परीक्षा होगी, पास हूँगा या फेल, कसौटी पर खरा उतरूँगा या खोटा?" इस भूत के कारण बेचारा भ्रमित रहता है। जब परीक्षा का यह भय सारे जीवन में व्याप्त हो जाता है, तब यह उसे एकदम कडुवा बनाकर छोड़ता है; और यदि वह इस भय से मुक्त न हुआ तो पागल हो जाता है।

परीक्षा की प्रथा में तैयार हुवा मनुष्य "रेस" के घोड़े के समान है। शर्त लगाने पर ही उसमें बल आता है। जीवन के जुए का एक भी प्रसंग उसे आनंद दिये बिना नहीं

रह सकता। इस जुए में जीवन की बाज़ी लगाकर वह सोचता है कि या तो हारेंगे या जीत ही जायँगे।

परीक्षा से निकला हुआ मनुष्य बँधे हुए पशु के समान है। बाहरी दुनिया में खड़े रहने के समय, संसार का अभिप्राय जानने के समय, कौन जाने कहाँ से उसमें नशेबाज़ का-सा क्षणिक बल आ जाता है; किन्तु जिस प्रकार नशा उतरते ही नशेबाज़ एक पाई की क़ीमत का रह जाता है, उसी प्रकार इस बाहरी उत्तेजन के हट जाने पर ऐसा मनुष्य शिथिल होकर पड़ रहता है।

परीक्षा ने मनुष्य को स्वयं प्राण की खोज में जाने से रोका है; आत्म-ज्ञान के मार्ग से उसे भ्रष्ट किया है। इसीसे वह सम्पूर्ण जीवन सांसारिक दृष्टि से व्यतीत करता है और आत्म-ज्ञान के बदले निरंतर दूसरों के झगड़ों में फँसा रहता है।

परीक्षा बाहरी नहीं, आन्तरिक होनी चाहिए। परीक्षा ज्ञान की नहीं, शक्ति की होनी चाहिए। परीक्षा प्रसंगों की नहीं, विकास की होनी चाहिए। परीक्षा परार्थ नहीं, आत्मार्थ होनी चाहिए। परीक्षक भी बाहरी नहीं, आन्तरिक होना चाहिए। गि.

शिक्षा का आरम्भ

बालक की शिक्षा जन्म से ही आरम्भ होती है। एक ओर बालक अपने ही प्रयत्न से, अपनी प्रेरणा का अनुसरण करके अपने शरीर, इन्द्रियों और मन आदि को तैयार करता है, दूसरी ओर हमारे प्रयत्न से, अर्थात् हमारे तैयार किये हुए वातावरण से वह विभिन्न प्रकार के प्रभाव ग्रहण करता है, और अपने स्वयंविकास के काम में उसका उपयोग करता है।

बालक स्वतः विकासशील है; परन्तु विकास के लिए वह वातावरण चाहता है। प्रत्येक बालक में चलना, बोलना आदि सीखने की स्वाभाविक भूख होती है। परन्तु यदि बालक के पैर बाँध दिये जायँ या मुँह बन्द कर दिया जाय, तो बालक चलना या बोलना नहीं सीख सकता। यानी उसे इच्छित वातावरण न मिलेगा अथवा उसके विकास के विरुद्ध वातावरण मिलेगा, तो वह स्वतः शिक्षा के मार्ग में रुक जायगा; बल्कि किसी-किसी दशा में पीछे हट जाने की भी आशंका है।

इसलिए माता-पिताओं को या शिशु-पालकों को ऐसा विश्वास रखकर कि बच्चा स्वतः शिक्षा प्राप्त करेगा, शिक्षा के प्रयत्न को संभव और सफल बनाने के लिये उचित वातावरण तैयार करना चाहिए। जो शिक्षक या माता-पिता उचित वातावरण तैयार करेंगे, वही बालक का योग्य विकास सिद्ध कर सकेंगे।

यह समझना भ्रमपूर्ण होगा कि सब शिक्षा वातावरण में ही है। अथवा वातावरण ही शिक्षा है। वातावरण खाद है; बीज और बीज के उगने की शक्ति स्वयं बालक में ही है। खाद के द्वारा, वातावरण के द्वारा, बालक में जो बीज होगा, वह उग आयेगा और फूले-फलेगा।

अतः खाद के रूप में किस प्रकार वातावरण को बनाना चाहिए, बारीकी से इसका विचार करने की आवश्यकता है। बीज के लिए उचित वातावरण तैयार करने के लिए बीज को देखते रहना चाहिए, उसका अध्ययन करते रहना चाहिए। और उसके अनुसार पोषक वातावरण तैयार करना चाहिए।

वातावरण में पहली अति आवश्यक वस्तु शान्ति है। प्रत्येक वस्तु स्वस्थता और शान्ति में उगती और वृद्धि पाती है। यह निसर्ग का स्वाभाविक नियम है। बालक भी शान्ति में ही अपनी इच्छित वस्तु वातावरण से ग्रहण कर सकता है।

पृथ्वी में सतत भूकम्प जारी रहने पर खूब ध्यान से उगाये जानेवाले पौधों की जड़ें भी स्थिर नहीं रहेंगी और इससे पौधे वृद्धि नहीं पायेंगे। इसी प्रकार जिन घरों में अस्थिरता, शोर और अशान्ति-रूपी भूकम्प होता रहता है, उन घरों में बालकों के विकास की जड़ डालना और वृद्धि का काम करना कठिन ही नहीं असम्भव हो पड़ता है।

वृक्ष को किस प्रकार उगना चाहिए, इस चिन्ता में पड़नेवाला माली पेड़ को अच्छी तरह नहीं उगा सकता; पेड़ को जल्दी उगाने के विचार से उसकी बहुत अधिक देख-भाल और सेवा करनेवाला पेड़ को सड़ा देता है। इसी प्रकार बालक की बहुत अधिक सँभाल रखनेवाला भी करता है। वह बालक को परेशान कर डालता है।

माता को बालक के शरीर के लिए आवश्यक खूराक वैद्यक दृष्टि से देना चाहिए। दूध पिलाने के समय निश्चित करने चाहिएँ। शीशी का और धाय का दूध बच्चे के लिए बहुत हानिकारक है। इसिलए माता को अपने स्वास्थ्य के नियमों का पालन करना चाहिए। जीभ का शौक़ पूरा करने या स्वाद के लिए मनमानी चीज़ें खा-पीकर बिमार न बनना चाहिए; क्योंकि माँ की तन्दुरुस्ती ही छोटी उम्र के बच्चे की तन्दुरुस्ती है। माता के शरीर से भिन्न होने पर भी विज्ञान ने बच्चे को माता का अंगभूत स्वीकार किया है।

इसलिए माता को बच्चे के स्वास्थ्य की रक्षा करनी चाहिए। इसी प्रकार, उसे और बच्चे के पिता को अपने मानसिक स्वास्थ्य की भी रक्षा करनी चाहिए।

इस छोटी उम्र में बच्चे का मन माता-पिता के मन के साथ इतना संयुक्त होता है कि उनके अच्छे या बुरे मन के परिणाम-स्वरूप उसपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। इस उम्र में ही बालक के चारित्र्य की समग्र शक्ति और भावी विकास का प्रथम शिलारोपण होता है।

माता-पिता बड़े बालकों की उपस्थिति से डरकर या उनसे सावधान होकर उनकी उपस्थिति में सभ्य, विवेकी और सत्यवादी बनते हैं; परन्तु बिलकुल छोटे बच्चे की उपस्थिति को वे उपस्थिति ही नहीं समझते। इस कारण जब छोटा बच्चा बग़ल में ही सो रहा या लेटा होता है, तब वे परस्पर असभ्य रूप से व्यवहार करते हैं, झूठ बोलते हैं, स्वाभाविक और अस्वाभाविक, धर्म्य और अधर्म्य, सब करते हैं। परन्तु उस छोटे बच्चे पर, छोटा होने पर भी, माता-पिता के इस व्यवहार का पूर्ण प्रभाव पड़ता है। और इसी कारण वह बड़ा होने पर माता-पिता के गुण-दोषों के अनुरूप ही निकलता है।

शिशु-पालन का भार अकेली माता के सिर पर आ जाना भी माता और बच्चे दोनों के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ है। पिता अर्थ-उपार्जन के लिए बाहर काम करता है। इसीसे वह शिशु-पालन के उत्तरदायित्व की माता से अपेक्षा रखता है। बहुत समय से घर और बाहर के कामों के विभाग पड़े हुए हैं, और अबतक उनका पालन होता आया है। पर, अब इस पुरानी पद्धति से शिशु-पालन नहीं हो सकता। आज माता और पिता के लिए अपने प्रेम-फल को समान रूप से सँभालने की, संवर्द्धन करने और संस्कृत करने की आवश्यकता है। शिशु-पालन एक तपस्या है; मनुष्य-विकास का एक स्तम्भ है, और उसके हक़दार और ज़िम्मेदार माता-पिता दोनों हैं। इस कारण पिता को भी अपने बाहरी कामों के सिवा माता को शिशु-पालन में सहायता देने की आवश्यकता है; और इसी प्रकार हिल-मिलकर पिता को, जहाँतक हो, घर के व्यर्थ के काम के बोझ से मुक्त करना माता का काम है। शिशुपालन का भार अबतक केवल माता के ही ज़िम्मे था, अब इस बहाने वह अपने बोझ से मुक्त हो जाती है। परन्तु पिता की सहायता का अभाव क्षम्य नहीं है; बल्कि हानिकारक है। माता-पिता दोनों के गुणों और व्यवहारों के वातावरण में पालन करने से बच्चे अच्छी तरह पलते हैं।

माता-पिता को शिशु-पालन का कार्य केवल प्राकृत दृष्टि से न करना चाहिए। यह बच्चा बड़ा होगा, तब हमारी सेवा करेगा, हमारे बुढ़ापे का सहारा होगा; इस दृष्टि से लड़की और लड़के के पालन में भेद उत्पन्न हो गया है। यह भेद हममें न होना चाहिए।

पालन करनेवाले माता-पिता की दृष्टि ऐसी होनी चाहिए—"यह बालक हमारे पवित्र प्रेम का मूर्त्त स्वरूप है। इसका रक्षण और पालन प्रेम का रक्षण और संवर्द्धन है। बालक का श्रमपूर्वक संवर्द्धन, अर्थात् स्त्री-पुरुष के प्रेम का अग्निहोत्र!" पवित्र कुल-शीलवाले माता-पिता की यही दृष्टि होनी चाहिए।

क्षुद्र और पामर माता-पिता बच्चे को अपनी भूल का आकस्मिक परिणाम समझकर अपने-आपको पशुओं से भी निम्न कोटि में रखते हैं; और ऐसा करके वे अपना और अपने बालकों का पतन और हनन करते हैं।

सच्चे माता-पिता बच्चे को अनुकूलता-रूपी वल्लरी की अगली शाखा समझते हैं। बालक समग्र जनता की विराट् देह का अंग है, ऐसा समझकर वे उसकी सेवा के द्वारा समष्टि की सेवा करते हैं। यह सेवा निर्व्याज और निःस्वार्थ होती है।

हमारे माता-पिता शिशु-पालन में यह सेवा पाकर कृतार्थ हों! गि.

जो लोग त्याग करेंगे, वे ही प्राप्त भी करेंगे।

सच्चा प्रेम त्याग ही में है! —गिजुभाई

देश की ग़रीबी और बाल-शिक्षा

यह सच है कि हमारा देश ग़रीब है। परन्तु इससे यह कहना कि बालकों की शिक्षा के लिए ख़र्च करने में वह बिलकुल असमर्थ है, शिक्षा की उपयोगिता और मूल्य को न समझने या उसे अस्वीकार करने के समान है। अथवा, दूसरे रूप में, शिक्षा न देने का विचार रखना है। आज-कल अमीर से लेकर ग़रीब तक सभी लोग जो भाँति-भाँति के ख़र्च कर रहे हैं, क्या वह ग़रीबी को शोभा देने योग्य है? ऐसे ख़र्च करके, देश की ग़रीबी बढ़ाने के बाद, शिक्षा देते समय ग़रीबी की दुहाई देना क्या लज्जा की बात नहीं है? राजाओं की झूठी विलासिता के लिए ख़र्च होनेवाले लाखों रुपयों के द्वारा अच्छी-से-अच्छी शिक्षा-संस्थायें आसानी से चल सकती हैं। एक ओर कुरीतियों और कुप्रथाओं के लिए पैसे ख़र्च किये जा रहे हैं, दूसरी ओर धर्म के नाम पर पैसे का दुर्व्यय हो रहा है, तीसरी ओर वहम और अज्ञान के कारण लोग पैसे गँवा रहे हैं, और चौथी ओर सत्ता आदि शक्तियों से प्रजा चूसी जा रही है। ये सब अपव्यय जहाँ हो रहे हों, वहाँ यह स्वीकार करना अधिक सत्य होगा कि शिक्षा के प्रति लोगों में प्रेम नहीं है।

यदि देश वास्तव में ग़रीब है, अपनी ग़रीबी से उसे असन्तोष है, और उसे वह भली नहीं मालूम होती, तो उससे मुक्ति पाने ही में उसका कल्याण है। मुक्ति का उपाय है, शिक्षा। दूसरे देशों के समान ही हमारे देश को भी बुद्धिबल और क्रियाशक्ति प्राप्त करनी चाहिए; प्रतियोगिता में नहीं, परन्तु जीवन को स्थायी और सुखी बनाने की समृद्धि प्राप्त करने के लिए। देश के सादगी के आदर्श में ग़रीबी या दरिद्रता को अवकाश ही नहीं मिल सकता।

यह सब शिक्षा द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जो शिक्षा हमें आर्थिक रूप से स्वतन्त्र करती है, उसके लिए इस समय क़र्ज़ लेकर भी ख़र्च करना उचित है। अबतक की शिक्षा ने हमें उद्योगी, आविष्कर्त्ता या अपने पैरों पर खड़े रहकर उदर-पोषण करनेवाले लोग देने के बदले क्लर्क, पेट के लिए ज्ञान को बेच देने पर भी भूखे रहनेवाले, और किसी भी काम को पूर्ण करने में अश्रद्धा रखनेवाले लोग दिये हैं। आर्थिक उत्कर्ष करने की उनकी शक्ति नष्ट हो जाती है। उनमें हाथ-पैर और दीमाग़ का परिचालन करने की शक्ति नहीं रहती। शिक्षा के लिए ऐसी ही ख़राब पद्धति बनी हुई है। शिक्षा का आदर्श झूठा बना हुआ है। हमारा सबसे बड़ा कर्त्तव्य है, आदर्श और पद्धति को बदल डालनेवाली प्रत्येक शिक्षा-पद्धति के पीछे ग़रीबी को मिटाने के लिए द्रव्य ख़र्च करना। यह कर्तव्य अपने प्रति है और अपनी अपेक्षा अपनी भावी पीढ़ी के प्रति अधिक है। जबतक हम भविष्य की पतवार लिये बैठे हैं, तबतक उसकी ज़िम्मेदारी हमीं पर हैं। अपनी ग़रीबी की वसीयत से अपनी भावी पीढ़ी को तो हम बचा ही लें।

स्थूल ग़रीबी से हम जितने पीड़ित हैं, उसकी अपेक्षा अधिक पीड़ित हैं, अपनी शक्तियों की ग़रीबी से। वहम हमारे यहाँ हैं; धर्मभीरुता, धर्मान्धता, गुलामी की वृत्ति, आलस्य और

शेखचिल्लीपन हम में है; छूतछात, जाति-पाँति, मृतक-भोज आदि प्रथायें हमें सुशोभित कर रही हैं। अशिक्षित या अर्धशिक्षित और परतंत्र-हृदय की समस्त समृद्धियों ने कृपा करके हमारे यहाँ निवास कर रखा है। इससे जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में हम निस्तेज और निर्वीर्य के समान बन गये हैं। कर्म करने की शक्ति को गँवाने के साथ ही वेदान्त की बातों से मुक्ति और ग़रीबी में सादगी का सुख मानने का भ्रम हममें उत्पन्न हो गया है। इन सबका उपाय शिक्षा ही हो सकती है। अन्धकार से प्रकाश में, प्रमाद से प्रवृत्ति में, पराधीनता से स्वाधीनता के क्षेत्र में जाना चाहते हैं, तो ऐसी शक्ति देनेवाली शिक्षा की शरण में हमें जाना चाहिए। मोंटीसोरी-पद्धति का तात्विक मूल्य यदि सचमुच उचित मालूम होता हो, तो ऐसी स्थिति में उसके लिये किया जानेवाला ख़र्च एकदम मामूली समझा जाना चाहिए।

हम अनेक प्रकार से ग़रीब हैं; परन्तु इससे हमारी ज़िम्मेदारी और बढ़ जाती है। घर में खाने के लिए कुछ न होने पर माता-पिता अपना पेट काटकर भी बच्चों का पेट भरते हैं, और उन्हें जीवित रखते हैं; कारण कि बच्चे भविष्य के आधार हैं। चाहे हम कितने ही ग़रीब क्यों न हों, एक बार तो हमें भविष्य सुधारने के लिए अपने सब सुखों और उन पर ख़र्च होनेवाले द्रव्य को बचाकर शिक्षा के लिए व्यय करना ही चाहिए। बालक हमारी बड़ी-से-बड़ी सम्पत्ति है। यदि इस विचार को हम अपने सामने रखेंगे, तो ग़रीबी की दलील हमारे सामने नहीं टिक सकेगी।

सच बात तो यह है कि हमारी दृष्टि ही में फ़र्क़ है। बालकों के गहनों और कपड़ों के लिए ख़र्च करने में हम कभी ग़रीब नहीं होते। उनका विवाह करते समय आँखें मूँदकर ख़र्च करते हैं। उन्हें ज़बर्दस्ती पढ़ाने के लिए ट्यूशनों में पैसा बर्बाद करते हैं। उन्हें नौकरी-पर लगाने के लिए रिश्वतों में पैसा ख़र्च करते हैं। यह सब ख़र्च हम अपनी प्रजा के लिये ही करते हैं। पर यह ख़र्च का अनुचित प्रयोग है। बीमार मनुष्य को अच्छा करने के लिए किया हुआ ख़र्च यदि उसे तन्दुरस्त रखने के नियम बतलाने के लिए ही किया जाय, तो आधे ख़र्च में काम निबट जाय और मनुष्य बीमारी से बचे, सो घाते में! इसी प्रकार असफल मनुष्य को सफल बनाने के लिए ख़र्च करने की अपेक्षा उसे सफलता की शिक्षा देने के लिए ख़र्च करना सच्चा अर्थ-शास्त्र है।

ग़रीब होने के कारण ही यदि ग़रीबी से बचाने के लिए अन्तिम पाई ख़र्च करके भी अच्छी-से-अच्छी पद्धति से शिक्षा देने के विचार पर हम दृढ़ रहेंगे, तो कोई अति ख़र्चीली पद्धति भी सस्ती ही सिद्ध होगी; कारण कि वह कल्याण-दायिनी होगी। गि.

मेरे बच्चे पराधीन संसार में जी नहीं सकेंगे। —गिजुभाई

माता-पिता की प्रतिज्ञा

हम अपने बालकों के लिएः—

शिशु-पालन और बाल-शिक्षण का नित्य अध्ययन करेंगे।

बालक को स्वस्थ और सुखी रखने का सब तरह से यत्न करेंगे।

घर को स्वच्छ, सुशोभित और व्यवस्थित रखेंगे।

घर में शान्ति, सुघड़ता और सुवास रखेंगे।

हम मन ही मन कभी न कुढ़ेंगे।

हम अपने अवगुणों को नष्ट करने का सदैव प्रयत्न करेंगे।

हम सन्देह को आचरण में न लायेंगे और न संदिग्ध वचन बोलेंगे।

हम असभ्य न बनेंगे और न असभ्यता का व्यवहार करेंगे।

हम किसी की निंदा न करेंगे और न किसी के द्वारा निंदा होने देंगे।

हम पारस्परिक काम में सहायता देंगे और लेंगे।

हम अपने बालकों को नौकरों पर निर्भर नहीं रखेंगे, हम स्वयं उनकी साल-संभाल करेंगे।

हम ऐसे-वैसे मेहमानों का उनके साथ साबक़ा न पड़ने देंगे।

हम मित्रों और मेहमानों के साथ उन्हें ऊधम न करने देंगे।

हम उन्हें रोते हुए छोड़कर नाटक-सिनेमा देखने न जायँगे।

हम उन्हें मेहमानों को दिखलाने और खुश करने के खिलौने न समझेंगे। गि.

शिक्षा-विभाग की शोभा कैसे शिक्षकों से है ?

जो शिक्षा-विभाग के प्रति ईमानदारी दिखलाते हैं, उनसे।

जो शिक्षा-विभाग से मिथ्या भय न करते हों, उनसे।

जो शिक्षा-विभाग की सम्मुख स्तुति और पीछे निंदा नहीं करते, उनसे।

जो शिक्षा-विभाग की सर्वदा उन्नति चाहते हैं, उनसे।

जो शिक्षा-विभाग की पद्धति में विश्वास रखते हैं, उनसे।

जो शिक्षा-विभाग की त्रुटियों को सचाई के साथ दूर करते और शंकाशील नहीं रहते हैं, उनसे।

जो शिक्षा-विभाग की हानि सहन न कर सकें, उनसे।

जो शिक्षा-विभाग के सब भाइयों को मित्रवत् समझते हैं, उनसे।

जो शिक्षा-विभाग को उत्तरोत्तर लोक-प्रिय, उपयोगी और प्रतिष्ठावान बनाने की धुन रखते हैं, उनसे।

जो शिक्षा-विभाग की उन्नति में अपनी उन्नति मानते हैं, उनसे।

जो यह अनुभव और व्यवहार करते हैं, कि हमारे प्रयत्न से शिक्षा-विभाग उन्नत है, और हमारे प्रयास से ही अवनत होगा, उनसे।

अनाथ बालक

अनाथ बालक वह है, कि जिसे पिता के नौकर धमकाते और पीटते हैं।

अनाथ बालक वह है, कि जिसके माता-पिता इसका ध्यान नहीं रखते कि बालक कहाँ है, और क्या करता है।

अनाथ बालक वह है, कि जिसके शरीर में फोड़े-फुन्सियाँ निकली हों, कान बहते हों, दाँत सड़ते हों, सिर में जूएँ पड़ गई हों; पर कोई उसकी ख़बर न लेता हो। कोई उसे दवा-खाने में न ले जाता हो।

अनाथ बालक वह है, कि जिसे कड़ाके की भूख लगी हो, पर महराजिन खाना परोसने में आलस्य दिखलाती हो।

अनाथ बालक वह है, कि जिसके माता-पिता धनी-मानी हों, तो भी जिसे मनचाही चीज़ों के लिए तरसना पड़े।

अनाथ बालक वह है, कि जिसे क्या पहनाना और क्या न पहनाना यह नौकर निश्चित करते हैं।

अनाथ बालक वह है, कि जिसे अपने मातापिता के मित्रों के सम्मुख उन्हें खुश करने लिए गाना या नाचना पड़ता है।

माँ कहती है—

माँ कहती है, "सँभलकर चलो, गिर पड़ोगे।" तिसपर भी मैं गिर पड़ता हूँ।

बाबूजी कहते हैं, "सो जाओ, सवेरे जल्दी उठना है।" तिसपर भी मुझे नींद नहीं आती।

माँ कहती है, "जल्दी जाकर थाली ले आओ।" किन्तु मुझसे जल्दी चला नहीं जाता।

बाबूजी कहते हैं, "ठीक-ठीक बोलने में भूल कैसी होती है?" तिसपर भी मुझसे बार-बार भूल हो जाती है।

माँ कहती है, "रोओ मत, रोना न चाहिए।" तिसपर भी मुझे रोना आ ही जाता है।

बाबूजी कहते हैं, "पूछे बिना बाहर मत जाओ।" पर मैं जान-बूझकर बाहर चला जाता हूँ।

माँ कहती है, "दूसरों के यहाँ चुप रहना चाहिए।" तिस पर भी मैं बोल उठता हूँ।

गि.

माँ का इकरार

मैंने अपनी बच्ची को मारा !

बच्ची को आठ वर्ष की ज़िन्दगी में मैंने एक ही बार मारा; परन्तु उसका कटु स्मरण मेरे हृदय पर अभी तक ताज़ा है। उसको भी उसका दुःखद स्मरण है। याद ताज़ा होने पर उसे ऐसा दुःख होता है कि जैसे उसका महान् अपमान हुआ हो। और, यह देखकर मैं भी लज्जित होती हूँ।

बात यह हुई कि जब मेरी लड़की क़रीब छः वर्ष की थी, तब उसका स्वभाव कुछ ऐसा होता जा रहा था कि जो मन में आता, वही कर बैठती थी। उसे कहीं जाना होता, तो मुझ-से बिना पूछे चली जाती। जहाँ जी चाहता, जाती। जब इच्छा होती,लौटती। जहाँ चाहती, खा लेती। सोने के लिए रात को घर आती थी। कोई भी छोटी-मोटी बात मुझसे पूछने की उसे ज़रूरत न मालूम होती और मेरा कहा मानना वह पसन्द भी नहीं करती थी। मुझे यह स्थिति भयंकर मालूम हुई। उसके साथ बहस करके उसे समझाना सम्भव न था। और जो कुछ वह कर रही थी, वह करने देना भी उसके हित की दृष्टि से इष्ट न था।

मैं सोच में पड़ गई। बहुत विचार किया, अनेक उपाय खोजे, परन्तु कुछ सूझ न पड़ा। मैं उसके साथ न बोलूँ, तो यह उसे दण्ड देना कहा जायगा। उसे डाँटना भी ठीक नहीं। समझाने से वह समझ नहीं सकती। उसे कोई लालच देना या भय दिखलाना भी मुझे ठीक न मालूम हुआ। मुझे एक भी उपाय सूझ नहीं रहा था।

मैंने सोचा कि छोटे बच्चे प्राथमिक मनुष्य कहे जाते हैं, उनके साथ प्राथमिक रीति से व्यवहार करने पर ही वे समझ सकते हैं। दृष्टान्त देना या आत्म-संयम का उपदेश आदि उनके किस काम का ? मैंने उससे कहा कि अब यदि वह न मानेगी तो मैं उसे पीटूँगी। ज्यादा करके उसने इस बात को सच न माना होगा। अथवा सच बात तो यह होगी कि अबतक मैंने उसे मारा न था, इससे मारने पर कैसा लगेगा, सो उसे मालूम न था। इससे मेरी बात उसके कान तक तो पहुँच गई, पर उसका अर्थ उसके दीमाग़ में न पहुँच सका।

एक रोज़ वह हौज़ में नहाने लगी। एक घण्टे तक खेल होता रहा। तब मैंने कहा, "अब निकलो।" तीन बार कहा, परन्तु अपनी रोज़ की आदत के अनुसार उसने ज़रा भी ध्यान न दिया। मैंने पिटाई का प्रयोग आज़माने का निश्चय किया। पहले उससे कहा कि वह बाहर न निकलेगी, तो मार खायेगी। पर वह और भी गहरे पानी में जाकर खेल करने लगी। मैंने उसे बाहर निकाला और उसकी पीठ पर दो-तीन धौल जमाये। उसने मेरी ओर देखा। मैंने उसकी ओर देखा। वह रो पड़ी। मैं भी रो पड़ी। मैं वहाँ से चली आई। मैं समझ गई कि वह जड़ प्राथमिक दशा में नहीं है; परन्तु सूक्ष्म से सूक्ष्म भावना को ग्रहण कर सकने योग्य संस्कार-क्षम दशा में है।

उस रोज़ काम-काज में मेरा जी न लगा। किसी के साथ बातचीत करना भला न मालूम हुआ। अपने हाथ की ओर देखने में भी मुझे

शर्म मालूम होती थी । न देखूँ, तब भी मेरा हाथ मुझसे अलग कैसे हो सकता था? उसके अन्दर तो बालिका की पीठ पर पड़ी हुई मार का कोई विलक्षण संवेदन हो रहा था। हाथ मलने पर भी वह मिट नहीं रहा था। भूलने का प्रयत्न करने पर भी वह नहीं भुलाया जा रहा था। दो-तीन घण्टे तक बालिका मेरे पास न आई। मैं भी उसके पास न जा सकी। हम दोनों एक दूसरे के सामने आ जातीं, तो वह धिक्कार-युक्त कटाक्ष करके चली जाती। क्या उसने मेरे अपराधी हृदय को पहचाना होगा? रात को हम इकट्ठी हुईं। एक-दूसरे से लिपट गईं। लिपट कर रो पड़ीं। बालिका सिसक-सिसक कर रोने लगी। मैंने उसे हृदय से लगाया। उसका करुण रुदन हृदय-वेधक था।

बहुत देर बाद वह शान्त हुई। रो-रो कर वह सो गई।

रात के स्वप्न में भी वह सिसकियाँ ले रही थी और मेरे गले से लिपट रही थी।

उस रात को मेरी आँखों में नींद कहाँ?

ता.

अपने व्यवसाय की उन्नति कीजिये

ऐसा कभी न सोचिये कि हमारी कोई हस्ती ही नहीं है। ज़रा ठहरिये और बारीकी से विचार कीजिये। हम सारे गाँव के, सारे प्रान्त के और समस्त देश के बालकों को शिक्षा देनेवाले हैं। उनके मन और शक्ति का विकास करनेवाले हैं। उनके आत्मिकबल को प्रकाश में लानेवाले हैं। उनकी नीतिमत्ता और धर्म के मूल को सींचने वाले हैं। सारांश, हम उनके द्रष्टा, मार्ग-दर्शक और नेता हैं।

पर हम तो यह समझते हैं कि हम गुरुजी हैं, मास्टर हैं, हमारी कोई बिसात नहीं है। हम इतने दीन होकर यह कहते और ऐसे रहते हैं कि एक साधारण पुलिस का सिपाही भी हमें सरलता से घूँसा मार सकता है। एक लेन-देन करनेवाले क्लर्क की प्रतिष्ठा हमसे अधिक है। सरकारी चिट्ठी-पत्री की व्यवस्था करनेवाले एक डाकबाबू का दर्जा हमसे ज्यादा ऊँचा समझा जाता है।

इस दीनता की क्या ज़रूरत है? वेतन थोड़ा मिले, चाहे ज्यादा, अपना मस्तक उन्नत रखकर हमें क्यों न चलना चाहिए? हम यह क्यों जतलायें कि डॉक्टर, वकील या अन्य किसी भी व्यवसायवाले की हम बराबरी नहीं कर सकते?

हमने अभी अपने व्यवसाय की क्षमता को और उसके मूल्य को नहीं समझा है। हमारा व्यवसाय बीमारों को अच्छा करना नहीं है, झगड़ा-फ़साद करनेवाले लोगों के झगड़ों का फ़ैसला करना नहीं है, अपराधियों को दण्ड देकर जेल भेजना नहीं है, अराजक प्रजा को नियन्त्रण में रखकर राज्यतन्त्र चलाना नहीं है, हमारा व्यवसाय तो है, बीमारी, झगड़े-फ़साद, अपराध आदि को नष्ट करने की औषधी तैयार करना और व्यवस्था तथा शान्ति के लिए मूल से ही उपाय करना।

बालक, मनुष्य जाति का मूल है।

उसकी शिक्षा हमारे हाथ में है। उसका भविष्य हमारे अधिकार में है। उसमें हम जो रोपेंगे, वही उगेगा। जो सींचेंगे, वँही पनपेगा। इसीसे हमारी खेती बीज की है, और इसी-कारण हमारा व्यवसाय सर्वोत्कृष्ट है।

तिस पर भी हमारी दशा ऐसी क्यों है? कारण यह है कि हम अपने व्यवसाय की उन्नति नहीं कर रहे हैं। हम अपने स्वाभि-मान की रक्षा नहीं कर रहे हैं। हम सच्चे शिक्षक नहीं बन रहे हैं। दुनिया को असली चीज़ की आवश्यकता है। वैद्य और वकील की अपेक्षा हज़ार गुनी अधिक शिक्षक की आवश्यकता है। सच्चे शिक्षक बन जाने पर लोग घर पर ही हमें पूछने आयेंगे। चरण धोने के लिए तैयार होंगे। पढ़ाने के लिए हमें घर-घर भटकना न पड़ेगा। पूर्वकाल में ऋषि-मुनियों के यहाँ राज-कुमारों को भी पढ़ने के लिए जाना पड़ता था; यही नहीं, उनकी सेवा भी करनी पड़ती थी। वही स्थिति आज भी उपस्थित हो सकती है। परन्तु उसके लिए हमें अपने व्यवसाय को उन्नत बनाना चाहिए।

क्या आज हम अपने व्यवसाय को उन्नत बना रहे हैं?

नहीं, हमारे पास ज्ञान की पूँजी ज़रा भी नहीं है। अच्छे विद्वान् के बदले हम साधारण विद्वान् भी नहीं है। साहित्यिक होने के बदले शुद्ध भाषा लिखने की योग्यता भी बहुत कम रखते हैं। ज्ञान के भण्डार होने के बदले लगभग अति अल्पज्ञ हैं। ऐसे ज्ञानहीन पुरुष को भला शिक्षक कौन कह सकता है? डॉक्टरी का ज्ञान न होने पर कोई डॉक्टर कैसे कहला सकता है?

सामान्य ज्ञान में तो हम लगभग कोरे हैं ही; पर पाठ्य पुस्तकों के जिन विषयों को हमें पढ़ाना रहता है, वे भी हमें पूर्ण रूप से शायद ही मालूम रहते हैं। हम इतिहास, भूगोल आदि विषयों को जितना जानते हैं, क्या उससे अधिक हमें न जानना चाहिए?

और, हमने पढ़ाने की अपनी पद्धति पर कितना विचार किया है? आज दुनियाभर में जिन अनेक नई-नई पद्धतियों की योजना हो रही है, और जिनके द्वारा शिक्षण-कार्य सरल बन रहा है, क्या उनसे हम ज़रा भी परिचित हैं?

हमारा पुराना ज्ञान अब कबतक काम देगा? पुराना वेष, पुराना ढंग और पुरानी पद्धति छोड़कर जबतक हम नवीन पद्धति को न अप-नायेंगे, तबतक हमारी शिक्षा कोई ग्रहण न करेगा, और यही उचित भी है।

क्या हम मनोविज्ञान का ककहरा भी जानते हैं? मनोविज्ञान के ज्ञान विना बालकों को पढ़ाना वैसा ही है, जैसा शरीरविज्ञान के ज्ञान बिना औषधि देने को तैयार होना। आज के नवीन जगत् का नवीन शिक्षक नवीन डॉक्टर के समान है----नवीन वैज्ञानिक के समान है। वह अपने कार्य में "अपटुडेट्" है।

हमें भी सब बातों में "अपटुडेट्" बनना पड़ेगा। फेंक दीजिये अपनी सब सड़ी-पुरानी चीज़ें! नवीन प्रकाश को उत्साह से अपनाइये और दृढ़ता से अपने व्यवसाय को उन्नत करने में जुट जाइये। फिर किसमें शक्ति है कि हमें अनादर की दृष्टि से देखे? एक बार शक्ति आ जाने पर सभी भक्ति करने लगेंगे।

गि.

बालक रोता क्यों है ?

एक घर में रोज़ साँझ पड़ते ही बालक रोने लगते थे, जिससे चिढ़कर माँ उन्हें मारती और वे रो-रोकर सो जाते थे।

उनके रोने का कारण क्या था ?

कारण भूख का दुःख था। माँ जल्दी भोजन नहीं बनाती थी। बालकों के खेलने-कूदने के लिए विस्तृत चौगान था। खेल में कोई बाधा डालनेवाला भी न था। वे दिनभर खूब खेलते, उछलते और पेड़ पर चढ़कर कूदते; कई तरह से खेलते और थक जाते। ज्योंही घर आते, भूख सताती और रोटी-रोटी चिल्लाने पर उन्हें रोटी के बदले मार मिलती। मार खाकर वे रोते-रोते सो जाते।

बहुधा बोलना जानते हुए भी, और 'भूख लगी है' 'प्यास लगी है,' 'थक गये हैं,' 'नींद आती है,' 'गर्मी लगती है,' इत्यादि शरीरधर्मों को बराबर पहचानकर भी, बालक उन्हें व्यक्त नहीं कर सकते। सात-सात, आठ-आठ वर्ष की आयु हो जाने पर भी ऐसा होता है। यदि कभी कहते भी हैं, तो बड़े लोग अपने कामकाज में फँसे रहने के कारण पूरा ध्यान नहीं देते, और बालक को सिवा रोने दूसरा मार्ग नहीं सूझता।

२

एक बालक बार-बार रोया करता था। माँ उसे घुमाती, फिराती, सब कोई उसे बहलाने की कोशिश करते। माँ बार-बार उसे दूध पिलाती, पर वह चुप न होता। रोता रहता। उसके रोने का कारण क्या था ?

कारण था, माँ का अज्ञान। बालक छः मास का था और माँ अभी बालिका ही थी। बेचारी अल्पवयस्क और अशिक्षित ! घर के बड़े लोग जैसा कहते, वैसा ही करने लगती। वे कहते, बालक रोता है, ले, इसे दूध पिला। इसका कण्ठ सूख जायगा। बेचारी नियम सीख गई। लड़का जभी रोता, तभी दूध पिला देती।

कहीं उसके पेट में दर्द हो रहा हो और वह रो रहा हो, तो ? खटमल या मच्छर उसे काटते हों और वह रोता हो, तो ? कान दुखता हो और उसके दर्द से वह रोता हो, तो ? चींटी काट रही हो, और इससे वह रोता हो, तो ? इन बातों की उस बेचारी को क्या ख़बर !

जब माँ दूध पिलाती है, तो बच्चे को कुछ अच्छा मालूम होता है; किन्तु जबतक मूल कारण दूर नहीं होता, तबतक उसका रोना कैसे बन्द हो सकता है ? इधर भूख न होने पर दूध पिलाने से पेट बिगड़ता है और पेट का विकार अधिक बढ़ जाता है। माता के इस अज्ञान से बालक का रोना घटता नहीं, बढ़ता ही जाता है।

३

एक ढाई वर्ष का बालक देखने में सवा या डेढ़ वर्ष का मालूम होता है। पेट बढ़ गया है। हाथ-पैर सूखकर लकड़ी हो गये हैं। मुँह पर ज़रा भी तेज नहीं है। प्रफुल्लता नहीं है। रो-रोकर अपने और दूसरों के प्राण ले रहा है। बहुतों ने उसका नाम "रोती शक्ल" रख दिया है। माँ को अपना काम-काज करना है, ज़रा आराम भी करना है; बेचारी क्या करे ? रात-रात भर कब तक जागे ? बालक के हाथ में कुछ खाने की चीज़ देकर शान्त कर देती

है। या तो उसे चूसनी देकर चुप करती है, या ज्यादा से ज्यादा हुआ, तो उसे बार-बार दूध पिलाकर शान्त करती है । अथवा घर के लोग उसे इधर-उधर घुमाते हैं। कभी उसके सामने दो-चार खिलौने पटक देते हैं। पर बालक तो रोता ही रहता है । कारण ?

कारण बालक की शारीरिक कमज़ोरी है। उसकी शारीरिक अव्यवस्था है। फिर से चुप करने के लिए बहुत बार उसे इधर-उधर की चीज़ें खिलाई जाती हैं। इससे उसकी देह में अस्वस्थता घुसती है। उसके पेट में शूल उठता है, और इसी कारण उसकी नींद भी हराम हो जाती है। शारीरिक पीड़ा के कारण खेलना भी नहीं भाता। किसी तरह मन भी नहीं बहलता। और, लोग झुँझला उठते हैं। ऐसे समय उसे पीट भी देते हैं, और बुरे-बुरे विशेषण प्रदान करते हैं। इसी कारण बालक की ऐसी स्थिति हो जाती है।

माँ-बाप बालक का इलाज करायें, उससे व्यायाम करायें, उसे नियमित भोजन दें, तो उसका रोना सहज ही बन्द हो जाय और वह सुखी भी रहे।

४

एक दूसरा लड़का है। उसका शरीर पुष्ट होने के बदले सूखता जाता है। घर में खाने के लिए सब कुछ मौजूद है--जो चाहे, खाने को दिया जाता है। हलुवा, पेड़ा, बर्फ़ी, अल्लम-ग़ल्लम, उसके माँ-बाप उसे खिला देते हैं। तो भी वह हर समय रोता है। खुद परेशान होता है, और माँ-बाप को भी परेशान करता है। उस पर कोई नाराज़ नहीं होता। कोई उसे हाथ तक नहा लगाता। वह जैसे चाहे, वैसे खिलौने पा सकता है, जो चाहे, वह वस्तु उसे मिल सकती है। तो भी उसके दिन का बड़ा भाग रोने में बीतता है; कष्ट से गुज़रता है; रात्रि का अधिकांश भी उसी तरह। माँ-बाप खिला-पिलाकर उसे प्रसन्न और हृष्ट-पुष्ट रखने की बहुत कोशिश करते हैं, पर सब व्यर्थ। इसका कारण ?

कारण यह है कि उसके माता-पिता काफ़ी असावधानी दिखलाते हैं। बालक को हृष्ट-पुष्ट बनाने के सच्चे तरीक़े उन्हें डॉक्टरों से जान लेना चाहिएँ। खाने को जो भी माँगे, वही देकर खुश करने से बालक हृष्ट-पुष्ट होने के बदले दुर्बल, चटोरा, भुक्खड़, और असन्तोषी बन जाता है। इससे उसका शरीर बिगड़ जाता है, और फिर येही कारण उसके रोने के कारण बन जाते हैं।

'जिससे प्रेम होता है, वह वस्तु याद रहती है, और जिससे प्रेम नहीं होता, वह याद नहीं रहती। तात्पर्य, स्मरणशक्ति नामकी कोई वस्तु ही नहीं है।

—गिजुभाई

बालक के शरीर की स्वच्छता

अपने बालक के शरीर को खूब साफ़ रखिये–अर्थात्,

उसका सिर बार-बार साबुन से मल-मल कर धोइये।

चिकने तैल सिर में न डालिये।

हर किसी के कंघे से बाल न सँवारिये।

ऐसे खेलों से बचाइये, जिनमें धूल उड़-उड़ कर बालों में घुसती हो; अथवा ऐसे अच्छे खेल खेलते या काम करते समय उनके सिरपर रूमाल बाँध दिया कीजिये।

नाखून बार-बार काटते रहिये। नाखूनों में भरा हुवा मैल भोजन में मिलकर पेट में जाता है।

आँखों में कीचड़ आता हो, तो डॉक्टर का इलाज कराइये।

नहलाते समय आँखें खूब धो डालिये। आँखों के कीचड़ को पोंछने के लिए बालक को साफ़ रूमाल दीजिये।

आँखें आने पर मदरसे मत भेजिये। दूसरे बालकों के साथ खेलने न दीजिये।

बालक को आँखों के रोगी बालकों के साथ खेलने न भेजिये।

कान के अन्दर मैल न जमने दीजिये। इसके लिए अन्दर से कानों को गीले कपड़े से साफ़ करते रहिये।

बालों के कारण कान बाहर से भी मैले रहते हैं। उन्हें साबुन से साफ़ करते रहिये।

कान के अन्दर के मैल को पिघलाकर बाहर निकालने के लिए समय-समय पर कान में तैल की बूँदें डाला कीजिये।

नाक का रेंट साफ़ करने के लिये रूमाल दीजिये। रेंट बहता ही रहता हो, तो डॉक्टर की सलाह से इलाज कराइये। गन्दी नाक को पोंछना और धोना सिखाइये।

हाथों और पैरों पर मैल न जमने दीजिये। हाथ-पैर मलकर धोना सिखाइये। धोकर पोंछना बताइये।

गीले पैरों धूल में चलने से मैल ज्यादा चढ़ता है। पैर धोने-धुलाने की आदत डालिये।

बालक का जन्म

बालक की तीन वर्ष की आयु के बाद मोन्टीसोरी शाला का क्षेत्र आरम्भ होता है। इसके मानी यह नहीं कि उसके ये तीन वर्ष कम महत्व के होते हैं, अथवा ध्यान देने योग्य नहीं होते। इसका अर्थ यही है कि बालक तीन वर्ष तक मुख्यतः शारीरिक विकास की साधना करता है। ढाई या तीन वर्ष के पश्चात् वह मानसिक विकास की साधना भी अधिक रूप में करने लगता है। इसलिए इस आयु से उसे बौद्धिक, ज्ञान-विषयक और क्रिया-शक्ति विषयक साधन मिलने चाहिएँ। और, तबतक उसके स्वास्थ्य की रक्षा पर ध्यान देना चाहिए।

समान्यतः इन तीन वर्षों में बच्चे बहुत

से रोगों के शिकार हो जाया करते हैं। अनुभवी लोगों की भी यही मान्यता है। छोटे बच्चों को इस अवस्था में ऐसा ही हुआ करता है। परिणाम स्वरूप बालकों की जीवन-शक्ति कम हो जाती है।

बालक के जन्म के पूर्व ही, अर्थात् गर्भावस्था से ही सावधानी के साथ उसकी साल-सँभाल आरम्भ कर देनी चाहिए। एक तरह से गर्भावस्था में उसकी सँभाल सरल है; क्योंकि तब वह पूर्णतः माता के अधिकार में होता है। किन्तु मालूम होता है कि इसी कारण उसकी साल-सँभाल में कम ध्यान दिया जाता है। गर्भधारण के समय माता और पिता की शारीरिक और मानसिक अवस्था स्वस्थ होनी चाहिए। इसे जानते हुए भी लोग इसमें सबसे अधिक लापर्वाही दिखलाते हैं। भली प्रकार शिशुपालन का सच्चा आरम्भ तो इसी समय होना चाहिए। बालकों की प्राप्ति के लिए हम अनेक धर्म-कर्म करते हैं, अनेक मनौतियाँ करते हैं और यम-नियम पालते हैं; किन्तु इनके बदले इस एक ही नियम का पालन किया जाय, एक ही धर्मकृत्य का आदर किया जाय, तो पर्याप्त है कि माता-पिता दोनों को शारीरिक स्वास्थ्य और मन की पूर्ण प्रसन्नता के बिना संभोग न करना चाहिए। यही एक नियम बालक के लिए हितकर है, और इसीसे ईश्वर भी प्रसन्न रह सकता है।

गर्भ-धारण के पश्चात् माता को अपने शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक प्रसन्नता की रक्षा करनी है। खाने-पीने में संयमितता, और खुली हवा में पूरा व्यायाम आवश्यक है। साथ ही मन पर दुःख, चिन्ता या हर्ष का धक्का पहुँचानेवाली पुस्तकें, नाटक या सिनेमा अथवा बातचीत वर्जित हैं। झगड़े-फ़साद और कलह में माता को भाग न लेना चाहिए। नित्य नहा-धोकर स्वच्छ रहना चाहिए। अपना समय आलस्य में न खोना चाहिए। साथ ही बिना आराम के काम भी न करना चाहिए। उद्योग और विश्रांति की मर्यादा रखनी चाहिए। सरलता से पच जाने वाला अच्छा और स्वादिष्ट भोजन करना चाहिए। आदत के नाम पर जो मन में आये, नहीं खा लेना चाहिए। मन को वश में रखना चाहिए। इस तरह गर्भावस्था में माता बालक के शरीर और मन का पोषण कर सकती है। उसकी रक्षा कर सकती है।

इसके पश्चात् विशेष सावधानी की ज़रूरत प्रसूति के समय है। मिस मेयो-जैसी स्त्री हमारे देश पर टीका-टिप्पणी करती है, तो हमें अच्छा नहीं लगता। पर हम अपनी स्थिति पर भी कभी विचार करते हैं? प्रसूति इत्यादि के विषय में शिक्षित और विचारक पुरुष भी प्रायः लापर्वाही दिखाते हैं। वे तो स्त्रियों के विषय में कुछ भी विचार नहीं करते। स्त्रियों का इस संबन्ध का अज्ञान दूर करने का भार पूर्णतः घर के पुरुषों पर निर्भर है। हमारी सन्तान के जन्म का विषय केवल स्त्रियों पर कैसे छोड़ा जा सकता है? उनके अज्ञान से जन्म के समय जो गम्भीर भूलें हो जाती हैं, उनका परिणाम बालक और स्त्रियों को आजन्म भोगना पड़ता है। प्रसूति के विषय में स्त्रियों पर अनेक अज्ञानमूलक रूढ़ियों और वहमों ने अधिकार कर रखा है। पुरुषों को इनके विरुद्ध धार्मिक युद्ध करना चाहिए--विद्रोह जगाना चाहिए। उनका दुर्लक्ष्य अक्षम्य है।

प्रसूति के विषय में निम्न-लिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ–

१–प्रसूति-गृह में ताज़ा चूना पुतवा देना चाहिए। फ़िनाइल के पानी से धोकर उसे बिलकुल स्वच्छ रखना चाहिए और फ़िज़ूल की चीज़ें न रहने देनी चाहिएँ।

२–कमरे में स्वच्छ हवा और सूर्य-प्रकाश का आना आवश्यक है। ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि हवा जच्चा को न लगे; पर कमरे में घूम जाय। जिस कमरे में ऐसी व्यवस्था हो, वही प्रसूति-गृह के उपयुक्त समझा जाना चाहिए।

३–ऐसा कमरा यदि घर में न हो, कहीं दूसरी जगह हो, अथवा निकट अस्पताल में हो, तो प्रसूति के लिए वहीं जाना चाहिए। ग़रीब और मध्यम स्थिति के लोगों के लिए अस्पताल में जाना उपयोगी है।

४–प्रसूति-गृह में प्रयुक्त होने वाले वस्त्र गर्म जल में उबाले हुए होने चाहिएँ। पुराने भले ही हों; पर साबुन या भट्टी लगाकर स्वच्छ किये हुए और धूप में सुखाये हुए वस्त्र प्रत्येक जच्चा को रखने ही चाहिएँ। इसके अतिरिक्त कोई वस्त्र काम में न लाना चाहिए।

५–गाँव में शिक्षित नर्स हो, तो प्रसूति के लिए उसीको बुलाना चाहिए। ऐसी नर्स न मिले, तो चतुर और अनुभवी दाई को बुलाना चाहिए। और उसके हाथ-पैर धुलाकर ही उसे अन्दर आने देना चाहिए। विशेष कष्ट न हो, तो उसे फ़िज़ूल की गड़बड़ न करने देना चाहिए। प्रसूति स्वाभाविक रीति से ही होने देना चाहिए। चाकू, छुरी या कैंची पानी में उबाली हुई ही काम में लाना चाहिए। अस्वाभाविक प्रसूति के समय गाँव में नर्स या स्त्री डॉक्टर न हो, तो पुरुष डॉक्टर की मदद ले लेनी चाहिए। पर अज्ञान और फूहड़ दाई की मनमानी न होने देनी चाहिए।

६–धूनी की और विशेषकर धुआँ अथवा असह्य ताप की प्रथा निकम्मी है। धूनी तो देनी ही नहीं चाहिए। दूसरे, अन्दर धूनी देकर और खिड़की और दरवाज़ा बन्द करके प्रसूति-गृह की हवा ख़राब न होने देना चाहिए। प्रसूतिगृह में अन्धकार, अस्वच्छ वायु और मैले कपड़ों के लिए घर की बड़ी-बूढ़ियों से युद्ध करना पड़ेगा। क्योंकि इस विषय में उनमें अनेक अज्ञान-जन्य वहम घर किये हुए हैं। वे पुरानी प्रथाओं को त्यागने के लिए एकाएक तैयार नहीं होतीं।

७–खाने-पीने के विषय में भी उनमें इसी तरह के वहम समाये हुए हैं। प्रारम्भ में प्रसूता को हलका और पौष्टिक भोजन देना चाहिए। धीरे-धीरे उसकी शक्ति बढ़ जाने पर हलुवा और गोंद वग़ैरह के लड्डू-जैसे भारी पदार्थ दिये जायँ, तो कोई हानि न होगी। आरम्भ में मोटे आटे की लपसी या दूध के साथ गुड़ का मीठा दलिया देना ठीक है। इससे उसे पोषण मिलता है, और पचने में मुश्किल नहीं होती। साथ ही अमुक खाया जाता है, अमुक नहीं खाया जाता, इस विषय में भी सामान्यतः जो सहज पच जाय, वही अधिक खाने को दिया जाना चाहिए। जिससे पेट में वायु-

विकार हो, कब्ज़ियत हो, अथवा दस्त लगें, ऐसा भोजन कदापि न करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपना भोजन स्वयं निश्चित कर लेना चाहिए।

८-प्रसवकाल में गरम औषधियाँ इत्यादि देने का तो सख्त विरोध करने की आवश्यकता है। प्रसव के पश्चात् गरम औषधियों को खाने की कोई आवश्यकता नहीं होती। कोई रोग हो जाय, तभी उनकी आवश्यकता समझी जानी चाहिए। अफ़ीम या ऐसी अन्य दवा-मिश्रित गोलियों के लिए तो सरकारी प्रतिबन्ध की आवश्यकता है। ऐसी गोलियाँ देनेवाले को सख्त सज़ा देने की आवश्यकता है; क्योंकि यह तो बालक को ज़हर देने के समान है!

तीन वर्ष तक के शिशु के पालन और उसके मानसिक पोषण के विषय में फिर कभी लिखा जायगा।

ता०

शिक्षण—पत्रिका के नियम

१. पत्रिका प्रतिमास अंग्रेज़ी महीने की १५ तारीख को प्रकाशित होती है।
२. प्रबन्ध-सम्बन्धी सारा पत्र-व्यवहार व्यवस्थापक के नाम और बदले के पत्र और पुस्तकें और सम्पादक से सम्बन्ध रखनेवाला सारा पत्र-व्यवहार सम्पादक के नाम नीचे लिखे पते से किया जाना चाहिएः---

हिन्दी शिक्षण-पत्रिका-कार्यालय,
५३, कृष्णपुरा, इन्दौर. सी. आई.

३. पत्रिका का वार्षिक मूल्य देश में १) और विदेश में २ शिलिंग है। एक अंक का मूल्य डेढ़ आना; इन्दौर में एक आना।
४. ग्राहकों को अपना नाम और पूरा पता खूब साफ़ लिखना चाहिए, ताकि पत्रिका के पहुँचने में गड़बड़ न पड़े।

मोन्टीसोरी ट्रेनिंग क्लास

तारीख की तलाश में रहिये!

दक्षिणामूर्ति बाल-अध्यापन-मन्दिर, भावनगर का नया सत्र इस वर्ष दीवाली की छुट्टियों के बाद आरंभ होगा। इस अध्यापन-मन्दिर या ट्रेनिंग क्लास में शिक्षकों को डॉ. मोन्टीसोरी के सिद्धान्तों के अनुसार ३ से ७ वर्ष की छोटी उम्र के बालकों को पढ़ाने की पद्धति का अभ्यास कराया जाता है। जो शिक्षक और शिक्षिका इस अध्यापन-मन्दिर में भर्ती होना चाहें, वे नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार करें:--

आचार्य दक्षिणामूर्ति बाल-अध्यापन-मन्दिर, भावनगर, (काठियावाड).

मुद्रकः—मध्यवर्ती सहकारी मुद्रणालय, इन्दौर.
प्रकाशकः—काशिनाथ त्रिवेदी, शिक्षण-पत्रिका-कार्यालय, ५३, कृष्णपुरा, इन्दौर.

आवश्यक निवेदन

शिक्षण-पत्रिका का दूसरा अंक आपकी सेवा में जा रहा है। आशा है, आपको पत्रिका पसन्द आई होगी! अतएव यदि अब-तक आपने पत्रिका के ग्राहक बनने का निश्चय न किया हो, तो अब तत्काल कर डालिये आर मनिऑर्डर द्वारा एक रुपया वार्षिक मूल्य भेजकर हमें अनुग्रहित कीजिये। अथवा हमें आज्ञा कीजिये कि हम पत्रिका का अगला अंक आपकी सेवा में वी. पी. द्वारा भेजें। यदि आप किसी कारण वश ग्राहक होना न चाहें, ता कृपा कर हमें १० अगस्त १९३४ तक अपने इस निर्णय की सूचना भेज दीजिये। आपका कोई उत्तर न आने पर तीसरा अंक आपकी सेवा में पहुँचेगा, और आशा है, कि आप वी. पी. लौटाकर हमें व्यर्थ हानि पहुँचाना उचित न समझेंगे।

व्यवस्थापक

जाता। वह फिर भी बच्चा ही
नहीं, बल्कि छोटे बालक की
केवल खुराक और नींद ही में
ें, उसे केवल शारीरिक लाल-

खूब लाड़-चाव होता हो, अधिकार उसके बढ़े-
चढ़े हों, उसकी विशेष चिन्ता रक्खी जाती हो,
तो यह सब उसके विकास में बाधक होता
है। बढ़ती हुई उम्र के साथ बालक को उसके
... मिलता

वर्ष पहला
जुलाई, १९३४ प्रधान सम्पादक आषाढ़, १९९१

गिजुभाई और ताराबहन

सम्पादक
काशिनाथ त्रिवेदी

देश में, एक रुपया : वार्षिक मूल्य : विदेश में, दो शिलिंग

एक क़दम रखकर दूसरा क़दम उठाना ही चाहिए। एक कार्य करके दूसरा कार्य शुरू करना ही चाहिए। एक सफलता प्राप्त करके दूसरी के लिए कमर कसनी ही चाहिए। एक सत्कार्य करके दूसरे सत्कार्य का आरम्भ करना ही चाहिए।

हम खड़े न रहें। खड़े रह भी नहीं सकते। प्रगति का अर्थ ही आगे बढ़ना है। उत्साह-पूर्वक, श्रद्धा-पूर्वक, उद्देश्य को सामने रखकर आगे बढ़िये। पारस्परिक सहयोग द्वारा अपना बल बढ़ाकर आगे बढ़िये। क़दम पर क़दम बढ़ाते ही चलिये। काम पर काम करते ही चलिये। यही मनुष्य जाति की उन्नति का राजमार्ग है। इसी पर चलकर हम आज यहाँ तक पहुँचे हैं। आइये, हम और भी आगे बढ़ें।

बड़ा बच्चा उसे उतार कर खुद गोद में बैठने का हठ करता है और छोटे से ईर्ष्या करता है। उसकी यह ईर्ष्या कैसे मिट सकती है ?"

बालकों के परिचय में आनेवालों के लिए इस प्रश्न का अनुभव रात-दिन का अनुभव है। अपने ही छोटे भाई-बहन को या दूसरों के बच्चों को जब माँ उठाती है, तो बालक उसे उतरवा कर खुद गोद में बैठने का हठ पकड़ते हैं। बहुधा बालक यह भी कहते हैं कि 'इस छोटे को कोई ले जाओ; मैं अपनी माँ के पास सोऊँगा और उसकी गोद में बैठूगा'।

रात-दिन की और प्रायः सब के अनुभव की बात होने के कारण ही यह प्रश्न कुछ कम विचारणीय नहीं है। क्योंकि यदि ऐसे अवसरों पर बड़े-बूढ़ों का व्यवहार उचित न हुआ तो संभव है, कि बालक के मन पर उसका बहुत ही बुरा असर पड़े। इसलिए ऐसे प्रश्नों को न-कुछ और क्षुद्र समझ कर टाल देना कदापि उचित नहीं।

पहले तो स्त्रियों को चाहिए कि वे ऐसे प्रसंगों को विनोद और हँसी-मज़ाक का साधन कभी न बनावें। जब लड़का किसी से डाह करता है, तो जान-बूझ कर उसके सामने दूसरे लड़के को उठा लिया जाता है और फिर बहनें बालक से कहती हैं, कि 'देखो, माँ ने तो उसे गोद में बैठाला है; यह तुम्हारी माँ नहीं है'।

बच्चा परेशानी ...ता है या हठ-पूर्वक ... कि ... उसे उतार दो, और मुझे बैठा लो,' और इसी समय सब खिलखिला कर हँस पड़ते हैं। बालक को इस प्रकार ईर्ष्यालु बना कर खुद मज़ा लूटना कदापि इष्ट नहीं।

बहनें हठ और ईर्ष्या को बढ़ाने का एक और सचोट तरीक़ा अख्तियार करती हैं। वे बालकों के सामने बार-बार यह कहती हैं कि 'यह तो मुझे दूसरे बच्चों को उठाने ही नहीं देता; बड़ा ईर्ष्यालु है यह;' और इस प्रकार बालक के मन में जगनेवाली अस्पष्ट वृत्ति का नाम लेकर और उसे बालक की विशेषता बता कर अधिक दृढ़ बनाया जाता है। यह तरीक़ा भी पहले की तरह ही हानिकारक है।

बालक के अन्दर पैदा होनेवाली ईर्ष्या को नष्ट करने के लिए हमें दो काम करने चाहिएँ। यह तो स्वाभाविक है कि घर में नये बालक के जन्म लेने पर माता-पिता का और बड़े-बूढ़ों का ध्यान विशेष-रूप से उसकी ओर आकर्षित होता है, परन्तु यह आकर्षण इतना न होना चाहिए कि जिससे पहले के बालकों की उपेक्षा होने लगे। ऐसा न हो कि उनकी माँगों, आवश्यकताओं और कठिनाइयों की ओर घर में कोई ध्यान देनेवाला ही न रह जाय। अथवा ऐसा न होता हो, तो भी बालक को यह ख़याल तो कभी न होना चाहिए कि घर में उसकी उपेक्षा की जा रही है।

नया बालक नन्हा है, इसी कारण तीन वर्ष पहले का जन्मा हुआ बालक एकाएक बहुत

बड़ा नहीं बन जाता। वह फिर भी बच्चा ही रहता है। यही नहीं, बल्कि छोटे बालक की आवश्यकतायें तो केवल खुराक और नींद ही में समाप्त हो जाती हैं, उसे केवल शारीरिक साल-संभाल की ही ज़रूरत रहती है, जब कि ढाई-तीन वर्ष का बालक मानसिक पोषण भी माँगने लगता है। अतएव उसके साथ विशेष सावधानी का व्यवहार करने की आवश्यकता रहती है। उसकी ज़रा भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार नये बच्चे के कारण बड़े बच्चे को भूखों नहीं मारा जा सकता, उसी प्रकार विकास का वातावरण छीन कर उसे प्राणहीन भी नहीं बनाया जा सकता। पूरी सावधानी के साथ हमें उसके मनःप्राण का पोषण करना ही चाहिए।

दूसरी बात, बालक को कभी ऐसा खयाल न होना चाहिए कि वह पदभ्रष्ट हो गया है। उसके मन में यह विचार तक न आना चाहिए कि पहले तो मैं राजा था और सारा संसार मेरे आस-पास घूमता था, पर अब मैं पदच्युत हो गया हूँ, और यह नया बालक मेरी गादी पर बैठ गया है, और मेरा महत्त्व कम हो गया है। आरम्भ में बड़े बालक को आवश्यकता से अधिक लाड़-चाव में पाला हो, और वही लाड़-चाव अब नये बालक पर बताया जाता हो, तो उसमें बड़े को अपना अधिक अपमान प्रतीत होगा। यदि शुरू से ही बालक को उचित सम्मान और लाड़-चाव में पाला जाय, तो बाद में उसे इतना दुखी न होना पड़े।

बात यह है कि घर में दूसरा कोई बच्चा न हो, और एक ही छोटा बच्चा होने से उसका खूब लाड़-चाव होता हो, अधिकार उसके बढ़े-चढ़े हों, उसकी विशेष चिन्ता रक्खी जाती हो, तो यह सब उसके विकास में बाधक होता है। बढ़ती हुई उम्र के साथ बालक को उसके विकास का पोषक वातावरण अवश्य मिलता रहना चाहिए। हम पर आधार रखने की उसकी आदत धीमे-धीमे कम होनी ही चाहिए; फिर भले ही बालक इकलौता हो, सबसे छोटा हो, या सबसे बड़ा हो, या अनेकों में से एक हो।

एक तीसरी बात और ध्यान में रखने योग्य है। हमारी होड़-भरी बातों और एक को चढ़ाने और दूसरे को उतारनेवाली तुलना आदि से भी ईर्षा का अंकुर फूटता है। नये बालक का जन्म होने पर, यह तो ख़ूबसूरत है, और वह तो रोनीसूरत था, यह समझदार है, यह नालायक है, वग़ैरा कई बेमतलब बातें कह कर लोग बच्चों के कोमल दिल को दुखाया करते हैं। ख़ूबसूरत या बदसूरत होना, काला या गोरा होना, बालक के हाथ की बात नहीं है। इसलिए बालक के सामने ऐसी कोई बात नहीं कहनी चाहिए, जिससे उसका अपमान होता हो, या उसे उलाहना दिया जाता हो। अगर बालक रोता है, तो यह उसकी तन्दुरुस्ती बिगाड़नेवाले माता-पिता का कसूर है, और अगर वह नहीं रोता है, तो उसे सयाना या समझदार कहना ज़रूरी नहीं है। तन्दुरुस्त होने पर बालक नहीं रोता, न होने पर रोता है; इसमें न तो बालक का सयानापन है, न नालायकी है। बग़ैर अपमान किये और बग़ैर स्पर्धा जगाये, बड़ी उम्र के बच्चों को हम हक़ीक़त के रूप में जो चाहें, कह सकते हैं;

इससे उन्हें नुकसान नहीं पहुँचता। उल्टे बालक अपने बचपन की बातें सुन कर खुश होता है।

इसी तरह अगर माता-पिता घर में बच्चे का जो स्थान है, उसके बारे में एक बात का खयाल रक्खें तो स्वभावतः बालक को किसी से कुढ़ने या जलने का कारण ही न रहे। उसकी उचित चिन्ता रक्खी जाती हो, उसकी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की उपेक्षा न की जाती हो, और शुरू ही से उसे बहुत अधिक महत्त्व का स्थान न दिया गया हो, तो बालक में ईर्ष्या उत्पन्न होने का कोई कारण ही नहीं रहता।

फिर भी मान लीजिये कि किसी कारण से ईर्ष्या उत्पन्न हो गई, तो बालक को बुरा-भला कहने या डाँटने-डपटने से वह नहीं जाती। बालक के अन्दर हमें आदि मनुष्य के अनेक गुणों का कमोबेश दर्शन होता है, उसी तरह यदि ईर्ष्या का दर्शन भी हो, तो उसे केवल प्रेम द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है। खुद बड़े बालक की गोद में हम छोटे बालक को दे दें; छोटे की साल-सँभाल का काम उसे सौंप दें; छोटे को खेलाने में, उसके अंग-संचालन में और उसके नन्हे-नन्हे हाथ-पैरों को देखकर खुश होने में अगर हम बड़े बच्चे को भी अपना भागीदार बना लें, तो सहज ही प्रेम ईर्ष्या का स्थान ले लेगा। और, तब बालक उसे अपने हिस्से में हिस्सा बँटानेवाला और अपना प्रतिस्पर्धी नहीं समझेगा, बल्कि उसे अपना छोटा भाई, या छोटी बहन मानकर उसकी साल-संभाल करना और वात्सल्य-पूर्वक उसे रखना सीखेगा; अपना सब कुछ उसे देने को तैयार हो जावेगा, और अगर कोई उसे सताये या रुलायेगा तो बालक उसका विरोध करेगा।

इसकी एक सच्ची घटना है।

वह अपनी माँ की इकलौती लड़की थी। जब उसकी उम्र आठ वर्ष की थी तब उसकी मौसी कुछ दिन उसके यहाँ रहने आई। मौसी के साथ उसका चार बरस का एक लड़का भी था। शुरू में लड़की को अपने बहुत से हक़ छिनते हुए मालूम पड़े। वह अपने भाई का डाह करने लगी। 'माँ के पास तो मैं ही सोऊँगी;' 'पहली चीज़ तो माँ मुझे ही देगी,' 'मैं जो कहूँगी वही होगा।' इन शब्दों में वह अबतक सोचती थी। अब इसमें फरक पड़ा। वह ईर्ष्यालु बनी। माँ ने भाई को बहन के सुपुर्द कर दिया:—"देखो, यह तुम्हारा छोटा भैया है। इसे तुम अपने साथ रक्खो। अपने पास सुलाया करो, अपने साथ खेलने ले जाया करो, और इसे सम्हाला करो।" धीमे-धीमे बहन के ख़याल बदल गये। भैया को नहलाने में, उसे पाख़ाना-पेशाब के लिए ले जाने में और खिलाने-पिलाने में बहन को मज़ा आने लगा; और सब कामों में भाई की संभाल रखना उसे मुश्किल मालूम होने लगा। अब वह खुद माँ की मदद माँगती थी। "माँ, मैं खेलने जाती हूँ, तुम भैया को रखना। उसे अपने पास सुला लेना।" पहले के ख़याल अब बदल गये थे। ईर्ष्या की जगह वात्सल्य ने ले ली थी। बहन के हक़ तो कायम ही थे, लेकिन शुरू-शुरू में उसे ऐसा जान पड़ा मानों माँ भाई को ही ज़्यादा चाहती हैं। वही जब उसका छोटा भाई बन गया तो माँ की मदद उसे अच्छी लगने लगी।

इस प्रकार ईर्ष्या के जन्मते ही उसे सावधानी और तत्परता के साथ प्रेम में बदल डालना चाहिए; अन्यथा बचपन के इन क्षुद्र असन्तोषों के कारण अक्सर आदमी की सारी ज़िन्दगी ख़राब हो जाती है। ईर्ष्या को मन का एक विकार या रोग मान कर उचित समय पर उसका उचित इलाज कर ही डालना चाहिए।

ता.

ज़बर्दस्ती क्यों ?

क्या हमें यह पता भी है कि जब बालक पिट-पिटाकर ज़बर्दस्ती पाठशाला जाता है, तो उसका वह दिन व्यर्थ हो जाता है? उस दिन वह पढ़ने में ध्यान नहीं देता। सारा दिन उदासी में बीतता है। दिन-भर मन ही मन वह भेजने-वाले से लड़ा करता है। वह उसके प्रति विद्रोही बन जाता है। पाठशाला को और शिक्षक को बार-बार कड़ी निगाह से देखता है। अवसर मिलने पर दूसरे बालकों को वह पीट भी देता है। पढ़ने में चित्त न होने से वह दूसरे बालकों को भी पढ़ने नहीं देता। उन्हें तंग करता है। जिस-तिस पर कंकड़ फेंकता है, और चिढ़ाता है।

यदि हम उसे ज़बर्दस्ती पढ़ने न भेजते और पाठशाला न जाने का कारण खोजकर उसे दूर करने की चेष्टा करते, तो वह निःशंक होकर और खुशी-खुशी पाठशाला जाता और तब सोचिये कि वह कितनी सुन्दरता से अपना काम करता? बालक को पाठशाला में भेजना महत्त्व की बात नहीं है। उसे पढ़ने के लिए भेजना भी महत्त्व की बात नहीं है। सच्चा महत्त्व तो बालक के पाठशाला में प्रसन्न होकर जाने और वहाँ उत्साह के साथ पढ़ने में है। ज़बर्दस्ती और ढकेलकर बालक को पाठशाला भेजने का जब समय आये, तो ज़रा ठहर जाइये; उसे न भेजिये; बल्कि कारण का पता लगा लीजिये--शायद उस समय बालक रोगी हो, या उसे रोग होनेवाला हो, उसका मन अस्वस्थ हो या उसके मन को आकर्षित करनेवाली कोई चीज़ घर में बनने-वाली हो या बन रही हो। शायद पाठशाला उसे कड़ुई मालूम पड़ी हो। अथवा पाठ मुश्किल होने से याद न हुआ हो, या शिक्षक का भय सता रहा हो, अथवा उसके किसी सहपाठी ने उसे पीटा हो।

ज़बर्दस्ती उसे पाठशाला भेजने से पहले भेजनेवाले इन बातों को टुक सोच लिया करें तो?

गि.

बालकों का मन चंचल है ही नहीं, वह तो स्थिर ही है, और स्थिर ही रहना चाहता है। जब हम उससे उसकी प्रवृत्तियाँ छीन लेते हैं, तभी वह चंचल बनता है।

सबक़

घर में या बाहर, जब मैं किसी के यहाँ जाकर बैठता हूँ और बच्चों को सबक़ याद करते देखता हूँ तो मुझे हार्दिक वेदना होती है। कोई इतिहास पढ़ते दीख पड़ता है, कोई कविता रटते तो कोई किसी चीज़ की नक़ल करते।

सवेरे का सुहावना समय होता है। चारों ओर सुनहली धूप फैली रहती है। थोड़ी देर ठण्डी हवा में घूमने की इच्छा होती है; परन्तु लड़कों को तो उस समय भी पाठ याद करना पड़ता है।

रात का समय सोने के लिए है। आँखों में नींद भरी रहती है; या भोजन करके नई-नई बातें कहने-सुनने का दिल होता है; बाबूजी और माँ के मुँह से मीठी कहानी सुनने को जी चाहता है; या बाहर छिटकी हुई चाँदनी में खेलने-कूदने की इच्छा होती है, परन्तु लड़कों के लिए तो फिर भी वह सबक़ याद करने का ही समय होता है।

सबक़ याद करना भी एक आफ़त है। घण्टों पाठशाला में पढ़ो, और फिर घर पर भी दीमाग़ खपाओ!

शिक्षक पढ़ाते-पढ़ाते थक सकते हैं, पर लड़कों को तो पढ़ने और सबक़ याद करने की दिक्क़त सहनी ही होगी। शिक्षक स्कूल का समय समाप्त होते ही मुक्त हो जाते हैं; पर लड़कों के पीछे फिर भी सबक़ का भूत लगा रहता है; जो न उन्हें रात को आनन्द से सोने देता है, न सवेरे प्रसन्नता से खेलने देता है।

सबक़ पूरी तरह याद न होने पर लड़के चिन्तित रहने लगते, उतावले बन कर अधिक से अधिक पढ़ते, और आकुल-व्याकुल रहते हैं। इससे दीमाग़ उनका कमज़ोर हो जाता है, और पढ़ा हुवा भी याद नहीं रहता। फिर तो बिना समझे रटने से ही काम रहता है।

सबक़ पूरा याद नहीं कर पाये और भोजन का समय हो गया। भोजन किये बिना काम नहीं चल सकता। न पाठशाला जाये बिना काम चल सकता है। परन्तु सबक़? सबक़ पूरा याद नहीं हो पाया। कुछ उदाहरण बाक़ी रह गये। अभी कविता याद नहीं हुई। मास्टर साहब नाराज़ होंगे। नम्बर ख़राब आयँगे।

खाना अच्छा न लगा। पाठशाला पहुँचे। सबक़ याद न था, पर सुनाना पड़ा। मास्टर साहब नाराज़ तो हुए ही। बेचारा खेला-कूदा भी नहीं है, सबक़ ही याद करता रहा, फिर भी याद न हुआ; उसमें उसकी पहुँच न हुई; यह बात मास्टर साहब को क्या मालूम? और मालूम भी हो, तो उसकी परवाह क्यों होने लगी? उन्हें नाराज़ होने, पीटने या इम्पोज़ीशन देने से कौन रोक सकता है? सबक़ फिर भी आगे बढ़ने लगता है। और दूसरे दिन दुगुना और तिसरे दिन तिगुना और परीक्षा के दिन तो मानों सबक़ों का पहाड़ बन जाता है, और उसके नीचे विद्यार्थियों को दब मरना पड़ता है।

क्या सबक़ की इस बला से आप बालकों को नहीं छुडाइयेगा? यदि चाहें, तो उपाय तो अनेक हैं।

पहला उपाय यह है कि घर से

सबक़ याद करके लाना एकदम बन्द करा दिया जाय। पाठशाला में लड़कों को लिखना, पढ़ना और गणित आदि सीखना पड़ता है; परन्तु इनकी अपेक्षा बहुत ज्यादा और क़ीमती बातें उन्हें पाठशाला के बाहर सीखने को मिलती हैं—और सो भी पाठ्य-पुस्तकों और उनके पाठों को रटे बिना। पाठशाला से आकर बालक ऐसी ही बातें सीखें। उनसे घर पर पाठ याद न कराया जाय। इससे भी बेहतर तो यह है कि वे जिस प्रकार खाली हाथ स्कूल जायें, उसी प्रकार खाली लौट भी आयें। और पाठ्य-पुस्तकें आदि स्कूल ही में छोड़ आया करें।

दूसरा उपाय यह है कि पाठशाला ही में उन्हें अच्छी तरह सिखाया जाय। सबक़ याद करने का मतलब है, विषय की तैयारी करना और तैयारी का मतलब है, उसे खूब रटना। कक्षा में अच्छी पढ़ाई न होने पर विद्यार्थी को अपना विषय रटकर तैयार करना ही पड़ता है। यह बात सभी शिक्षक जानते हैं। समझाकर पढ़ाया जाय और समझकर पढ़ा जाय, तो रटने की अवश्यकता ही न रह जाय। यह एक अनुभव की बात है। इसलिए हमें छात्रों को अच्छी तरह पढ़ाना चाहिए। उदाहरण और दृष्टान्त देकर इस प्रकार पढ़ाना चाहिए कि छात्र विषय को हृदयंगम कर सकें और फिर कभी न भूलें।

तीसरा उपाय यह है कि हम अपनी इस धारणा को दूर कर दें कि जो ज़बानी याद है, वही याद है, अन्य नहीं। पाठों में ज़बानी याद करने की बात ही बहुत रहती है, और इसीलिए छात्रों को उनमें कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती। छात्र के लिए विषय के मर्म को समझना बहुत ही ज़रूरी है। तोता-रटन्त व्यर्थ है। परीक्षा में भी परीक्षकों को चाहिए कि वे मुखाग्र पाठों पर ज्यादा ज़ोर देने की अपेक्षा छात्र के बुद्धि--बल की परीक्षा लिया करें।

चौथा उपाय यह है कि जो कुछ तैयार कराना हो, पाठशाला में ही तैयार करा लिया जाय। लड़कों को पाठशाला के समय में से कुछ समय पिछले पाठों का मनन और पुनरावर्तन करने के लिए देना चाहिए। इस समय में क्लास के शिक्षक को उनके बीच में रहकर उनसे दिनभर की पढ़ाई को दोहरा लेना चाहिए। यदि किसी को कोई बात समझ में न आई हो, तो वह शिक्षक से पूछ ले, और इस तरह अपनी दिनभर की पढ़ाई को पक्की कर लिया करे। दूसरे रोज़ नई पढ़ाई शुरू हो जायगी। और उसका विचार भी उसी रोज़ होगा। शाम तक की पढ़ाई को पक्का कर लेना, हज़म कर लेना ही आज का काम है। और यही आज का सबक़ भी है।

स्कूलों में छात्रों से इसी प्रकार सबक़ याद कराना चाहिए। यदि इसके लिए शिक्षा-विभाग के अधिकारी उचित व्यवस्था कर दें और शिक्षकगण इसका प्रयोग करने लगें, तो निःसन्देह उनके छात्र उन्हें दिल से असीसेंगे।

गि.

डर दुनिया का एक बुरे से बुरा तत्त्व है।
प्रेम के अभाव का नाम ही डर है।

बालक की क़द्र कीजिये

एक अनमोल सम्पत्ति की तरह बालक हमारे यहाँ जन्म लेते हैं। किन्तु हम उनकी ज़रा भी परवा नहीं करते! अपने एक साधारण-से छोटे गहने को भी हम अराठे से धो-धोकर साफ़ करते और पोंछते हैं। अपने पहनने-ओढ़ने के कपड़े भी साबुन लगाकर और पछीटकर साफ़ करते हैं, पर मनौती कर-करके प्राप्त किये हुए अपने बच्चों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। वे धूल में लोटते रहते हैं। उनकी नाक पर कितनी ही मक्खियाँ बैठी रहती हैं। आँखों में कीचड़ जमा रहता है। कोई कुर्ते की बाँह चूसता है, कोई पेशाब करके गीली की हुई मिट्टी से खेलता है, तो कोई गालियाँ सीखता है, और कोई गन्दे खेल खेलता है। इस तरह हम अपने बालकों को आवारा बनाते और उनके जीवन को नष्ट करते हैं। वे सदैव हमारे पास रहते हैं, शायद इसीलिये हम उनकी क़द्र नहीं कर पाते। यह तो वही मसल हुई कि जिन्हें चन्दन की आवश्यकता पड़ती है, वे उसे बाज़ार से ख़रीदते हैं, पर एक रुपया ख़र्च करने पर भी वह थोड़ा-सा ही मिलता है, इसलिए चन्दन उन्हें क़ीमती जँचता है; पर जिस जगह चन्दन के जंगल हैं, वहाँ के रहनेवाले जंगली सदा चन्दन का ही भूसा जलाया करते हैं। उनके मन उसकी कोई क़ीमत ही नहीं होती।

इसी प्रकार हम भी अपने बालकों की साल-सँभाल करने में लापरवाह हैं। अब भी हम अपनी ज़िम्मेदारी को समझें, तो बेहतर हो।

गि.

माँ को फ़ुरसत है

"माँ, तुम आओगी न? देखो, हमने ये घर बनाये हैं।"

"हाँ; लेकिन ये माँजे हुए बरतन ऊपर चढ़ा दो, तो झट आ जाऊँगी।"

"माँ, चलो, चलो; तुम्हें रामू का तमाशा बताऊँ। वह देखो, जाली से लटका है, और [illegible] रहा है।"

"चलो, यह आई। झाड़ू लौट कर दे लूँगी।"

"माँ, आज साँझ को हमारे साथ घूमने चलोगी?"

"हाँ चलूँगी, पर ज़रा इसे ठीक-से जमा दोगे, तो जल्दी फ़ुरसत पा जाऊँगी और झट चली चलूँगी।"

"माँ, आज हम चाँदनी में खेलेंगे। तुम आना, भला!"

"भई, ज़रा यह जूठन साफ़ कर दो, तो काम जल्दी हो जाय और मैं जल्दी चलूँ।"

गि.

बाबूजी को फ़ुरसत है

"बाबूजी, चलिये; आपको हमारी खोदी हुई कुइया बताऊँ।"

"अच्छा, तुम चलो। यह इतना पढ़कर मैं भी आता हूँ।"

बाबूजी पढ़ कर देखने गये।

"बाबूजी, हमने आज नया रंग भरा है; ज़रा चलकर देखिये तो!"

"कुछ देर ठहरो। ये दो चिट्ठियाँ बाक़ी हैं। लिखकर आता हूँ।"

बाबूजी ने चिट्ठियाँ लिखीं और रंग देख आये।

"बाबूजी, चलिये, चलिये, आज जीजी कुछ लाई हैं; देखने लायक है।"

"यह आया। यह थोड़ा हिसाब लिख लूँ। दो मिनट ठहरो।"

बाबूजी ने हिसाब लिखा और देखने गये। जीजी नन्हा-सा खरगोश लाई थीं।

"बाबूजी, आइयेगा? बड़े भैया ने आज हमारे भाषण रक्खे हैं। आपको सभापति बनना पड़ेगा।"

"अच्छा? तो चलो, यह आया। दो-चार मिनट की देर है। सभापति तो दो मिनिट देर करके आ सकता है न? यह एक तार लिखकर आया।"

गि.

माँ को फ़ुरसत नहीं

"माँ, माँ, देखो तो! मैंने मोतियों की यह कैसी सुन्दर माला पिरोई है।"

"भाई, मुझे फ़ुरसत नहीं है। दूर हटो। मुझे बरतन माँजने दो।"

"माँ, माँ, इधर तो आओ। इस पेड़ पर कितने-सारे पपीते लगे हैं। और, इसे तो देखो, कितना बड़ा है।"

"भाई, मुझे फ़ुरसत नहीं है। तुम्हीं देखो। मैं तो जूठन साफ़ कर रही हूँ।"

"माँ, तुम आज हमारा खेल देखने आओगी? आज हम एक नया खेल खेलेंगे।"

"भाई, मुझे फ़ुरसत कहाँ। मैं तो कपड़े धोऊँगी।"

"माँ, ओ माँ! चलो, देखो तो, भैया ने एक सुन्दर बँगला बनाया है। देखने लायक है।"

"तुम देखा करो। मुझे फ़ुरसत नहीं। मुझे अभी कपड़े जो सुखाने हैं।"

"ओ माँ, माँ! चलो, तुम्हें एक तमाशा बताऊँ। मुन्नी हँस रही है—देखो तो, कैसी खिल-खिला कर हँस रही है।"

"भाई, मैं ना देख सकूँगी। साँझ पड़ने को है, और मुझे घर बुहारना है।"

गि.

बाबूजी को फुरसत नहीं

" बाबूजी, देखिये तो, इस किताब का कवर कितना सुन्दर है । "

" इस वक्त जाओ; फुरसत में आना । " बाबूजी लेटे-लेटे किताब पढ़ रहे हैं ।

" बाबूजी, देखिये तो, इस सिक्के को राख से माँजकर मैंने कितना चमकदार बना लिया है ? "

" इस वक्त मैं काम में हूँ, फिर आना । " बाबूजी चिट्ठी लिख रहे थे ।

" बाबूजी, आपने देखा, हमारे गुलाब में आज पहला ही फूल खिला है । "

" अभी नहीं, मैं काम में हूँ । " बाबूजी कानून-फ़ौजदारी के पन्ने उलट रहे थे ।

" बाबूजी, चलिये, आपको बिल्ली बताऊँ । आज उसे जंजीर से बाँधा है । "

" देखो, अभी फुरसत नहीं है । तुम बिल्ली के साथ खेलो । " बाबूजी मुवक्किलों के साथ बैठे बातें कर रहे थे ।

" बाबूजी, ज़रा इधर तो आइये । आज हमने अपनी नई मेज़ पर सामान सजाया है । "

" अभी नहीं, फुरसत में देखूँगा । " बाबूजी मित्रों के साथ आराम से बैठे चाय पी रहे थे ।

" बाबूजी, ज़रा ठहरिये । मेरी नई पुस्तक देख कर जाइये । कवर नीला और कितना खूबसूरत है ! "

" देखो, मुझे जल्दी जाना है । अभी फुरसत नहीं है । " बाबूजी अपने दोस्तों के साथ छड़ी लिये हवाखोरी को जा रहे थे ।

गि.

बालक के रूठने पर क्या कीजियेगा ?

१ उसके ऊपर ध्यान न दीजिये ।

२ न खुद कहिये, न दूसरों को कहने दीजिये कि बालक रूठा है ।

३ रूठने पर न तो नाराज़ होइये, न चिढ़िये ।

४ न उसके रूठने पर खुश होकर हँसिये ।

५ रूठ कर कोने में बैठा हो, तो उसे न छेड़िये ।

६ रूठ कर आपके काम-काज में बाधा डाले या तोड़-फोड़ करे तो उठा कर दूर बैठा आइये और शान्ति-पूर्वक समझा दीजिये कि " जब मुझसे हँसकर प्रेम से बात करना चाहो, तब मेरे पास आ जाना; तब तक यहीं बैठो । " आवाज़ में क्रोध या झल्लाहट न हो, पर दृढ़ता अवश्य हो । ढीली-पोली कहियेगा तो बालक मानेगा नहीं ।

७ एक बार बात खड़ी होने पर उसे ठेठ तक निबाहना चाहिए । पर यथासंभव बालक को ऐसा अवसर ही न देना चाहिए कि जिससे वह हमारे मुक़ाबिले में अपनी मनचाही करने का निश्चय कर सके । उचित समय पर

थोड़ा ध्यान रखने से यह अवसर टल सकता है।

८ जिस बालक को ज़रा-ज़रा-सी बात में 'अच्छी बात है', कह कर रूठने की टेव पड़ी हो, उसे इस टेव से मुक्त करने के लिए दृढ़ता-पूर्वक उसकी उपेक्षा करना ही अच्छा है। बालक के रूठने पर उसके साथ कोई बोले नहीं, उसके सामने कोई देखे नहीं, उसे खाने को कोई बुलावे नहीं, कोई मनावे नहीं, खुशामद करे नहीं, बुरा-भला कहे नहीं, टीका-टिप्पणी करे नहीं, चिढ़ावे नहीं। सारांश, उसके साथ किसी तरह का व्यवहार करे नहीं। एकाध बार उसे ऐसा अनुभव हो जाने पर फिर बालक रूठना छोड़ देता है। ता.

पाठ्यक्रम

हम यह मानते और कहते हैं कि बालक के लिए शरीर, बुद्धि और भावना, तीनों की तालीम का प्रबन्ध हमें करना चाहिए और हम करते हैं। लेकिन आज तो हमारा सारा ध्यान अकेली बुद्धि की तालीम पर लगा हुआ है। लेखन, वाचन, गणित वग़ैरा बुद्धि की तालीम के विषय हैं। हम बालकों को बुद्धि की तालीम दिलाते हैं, उसके लिए हम परिश्रम भी खूब करते हैं, और उसकी सफलता पर ही अपनी शिक्षा की और बालक की सफलता का मूल्य ठहराते हैं। इस प्रकार हम एक ओर तो बालक के शारीरिक विकास की तरफ दुर्लक्ष्य करते हैं, और दूसरी ओर भावना की तालीम के लिए थोड़ी भी गुंजाइश नहीं रहने देते; नतीज़ा यह होता है कि हमारे सामने केवल एक पढ़ा-लिखा बालक मात्र खड़ा रहता है। वह शरीर और भावना की दृष्टि से बहुत ही दुर्बल होता है। उसमें शारीरिक और भावना-विषयक या नैतिक शक्ति ज्यादा नहीं होती। यही कारण है कि आज चारों ओर से यह आवाज़ उठ रही है कि विद्यार्थी के शरीर को बलवान बनाओ, उसके चरित्र को सुधारो, उसे नीतिमान् बनाओ, आदि। इसी कारण आज के पढ़े-लिखे विद्यार्थी की शिक्षा व्यर्थ है। शिक्षित विद्यार्थी में आग लगने पर उसे दौड़ कर बुझाने की शक्ति नहीं पाई जाती। दुःख से पीड़ित भाई के दुःख को समझने की कल्पना, अनुभूति और हृदय उसके पास नहीं होता। वह केवल बुद्धिप्रधान होता है, वह दलील करता है, दलीलों द्वारा आत्मवञ्चना करता है, अपने को धोखा देता है, और ऐसा करके मिथ्या संतोष अनुभव करता है।

ऐसी दशा में हमें वर्तमान पाठ्यक्रम को बदलने की ज़रूरत मालूम होती है। पाठ्यक्रम को समतोल बनाने की आवश्यकता है। पाठ्यक्रम पुराना और बेकार हो गया है। जैसे, लोगों को बापदादों का घर छोड़ना अखरता है, वैसे ही इस पाठ्यक्रम के पुराने रक्षकों को, अति परिचय के कारण, इसे छोड़ने की इच्छा नहीं होती। घर की मरम्मत की तरह, पुराने पाठ्यक्रम में भी, कभी-कभी कमी-बेशी, तो कभी काट-छाँट होती रहती है, पर पुराना घर

जर्जर हो जाने पर भी किसी तरह टिका हुआ है।

अब हम सब मिल कर इस घर को तोड़ डालें। पुराना घर गिराते समय तरह-तरह की आपत्तियाँ उठाई जाती हैं, परन्तु एक बार गिर चुकने पर धीरे-धीरे उनका शमन हो जाता है। नया घर बनाते समय भी अड़ोसी-पड़ोसी को कारीगर वग़ैरा से कई तकलीफ़ें उठानी पड़ती हैं; परन्तु नया घर बन चुकने पर सहज ही मनुष्यों के मुँह से यह उद्गार निकल जाता है, कि चलो अच्छा हुआ, जो पुराना मकान गिरा दिया! और हमारे साथ दूसरे भी ऐसा ही कहने लगते हैं।

निःसन्देह पुराना घर तोड़ने का मतलब यह नहीं है कि उसे बिलकुल चूर-चूर कर दिया जाय। उसके मलबे में से काम लायक ईंट, पत्थर, लकड़ी, लोहा और दूसरी उपयोगी चीज़ें लेली जाती हैं और वे नये मकान के काम आती हैं। पर मकान तो नया ही बनना चाहिए।

तब यह था!

कक्षा में तम्बाकू खाना।
कक्षा में पान चबाना।
कक्षा में चाय पीना।
कक्षा में बीड़ी पीना।
मेज़ पर पैर फैलाना।
कक्षा में तपकीर सूँघना।
छात्रों को गालियाँ देना।
परीक्षा में नकल करवाना।
शान्ति के लिए रह-रह कर मेज़ पर बेंत या डण्डा पीटना।
पढ़ाने की जगह रजिस्टरों की खानापूरी करना।
पढ़ाने का काम मॉनीटर को सौंप कर ऊँघना।
पढ़ाने के बदले सवाल छुड़ाने को बैठा देना।
पढ़ाने के बदले नक़शा देखने को कहना।

और अब?

और जब हम नया मकान बनाते हैं, तो इस बात का ज़रूर ख़याल रखते हैं कि उसमें रहनेवाले को हर तरह की सहूलियत रहे, उसे सुख मिले और मकान उसका सुन्दर गिना जाय। साथ ही शिल्प, आरोग्य और सौन्दर्य-सम्बन्धी नये युग के विचारों को भी नया मकान बाँधते समय हम अपने सामने रखते हैं। अर्थात् नया मकान हम आज के नये मनुष्य के अनुकूल बनाते हैं। और ऐसा करते हुए नये और पुराने के बीच जो बहुत अन्तर पड़ जाता है, उसे पड़ने देते हैं। नये पाठ्य-क्रम के सम्बन्ध में भी ऐसा ही होना चाहिए।

जब हम नया पाठ्यक्रम बनाने लगें तो हमें किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए? सब से पहले हमें पढ़नेवाले का विचार करना चाहिए, अर्थात् हमें यह देखना चाहिए कि ऐसी कौनसी चीज़ है, जिससे उसका वास्तविक विकास होगा और जो हमें उसे देनी चाहिए। दूसरे

शब्दों में, उसी वस्तु को हमें सिखाने योग्य मानना चाहिए, जिसके द्वारा विद्यार्थी हर तरह शरीर, मन और भावना से एक क़दम आगे बढ़ सके।

हम अपने निज के आदर्श का अवलम्बन करके पाठ्यवस्तु को निश्चित नहीं कर सकते। अपनी महत्वाकांक्षाओं को सामने रख कर भी पाठ्य-क्रम नहीं बना सकते। बड़ों के हिताहित का विचार करके छोटों को उस दृष्टि से नहीं पढ़ा सकते। हमारी दृष्टि से दूसरों के लिए दिये गये हमारे निर्णय किस काम के?

जो पढ़नेवाले हैं, उन्हें पढ़ने देना हो, तो हम अपनी पढ़ाई उनके माथे न लादें। पहले हम यह जान लें कि वे क्या पढ़ना चाहते हैं। यह देखें कि जिसे भूख लगती है, वह क्या खाना चाहता है। अच्छी-अच्छी चीज़ें तो बहुत-सी हैं। पर वे सब के लिए एक-सी उपयोगी नहीं होतीं। जिसे जो खाना है, उसे वही मिले, तभी उसकी भूख मिट सकती है। तब वह प्रसन्न होकर खायगा और जो कुछ खायगा, अमृत बन जायगा। वह भूख लगने पर खायगा, जो हज़म होकर खून और माँस बनेगा और खानेवाले को मोटा-ताज़ा बनावेगा।

प्राथमिक पाठशालाओं के बालक क्या जानना चाहते होंगे? उनके शरीर की हड्डी, स्नायु आदि को किस विषय में कैसे विकास की आवश्यकता होगी? उनकी व्यवस्थित या अव्यवस्थित भावनाओं को क्या चीज़ संयमित कर सकेगी? संक्षेप में, हमें इस बात का विचार और अन्वेषण करना चाहिए कि प्राथमिक स्थिति से आगे बढ़ने के लिए उनके प्राथमिक मस्तिष्क और शरीर को क्या-क्या रुचेगा।

हम देखें कि क्या बालक यह जानना चाहता है कि आकाश के तारों के नाम क्या हैं, जानवरों की विशेषतायें क्या हैं, पृथ्वी के पेट में क्या-क्या चीज़ें पड़ी हुई हैं, बिना बैल के गाड़ी कैसे चलती है, सूरज एक तरफ़ उगता और दूसरी तरफ़ क्यों डूबता है, साबुन में फेन क्यों आते हैं, बादल कैसे बनते हैं, झाड़ कैसे उगते हैं, आदि। यदि ऐसा है, तो उसके लिए हम उसकी इन जिज्ञासाओं को तृप्त करनेवाले विषय चुन दें। यदि हम देखें कि पेड़ पर से चढ़ कर कूदने, गेंद उछालने आदि से शरीर को चपलता, काबू और स्फूर्ति प्राप्त होती है, तो हम इन वस्तुओं को पाठ्यक्रम में स्थान दें। यदि हमें पता चले कि उन्हें आपस की दोस्ती पसन्द है, हिल-मिल कर सहयोग-पूर्वक काम करना पसन्द है, इस तरह काम करते हुए वे एक दूसरे को समझने लगते हैं, परस्पर प्रेम करने लगते हैं, धीरज आदि गुणों का उनमें विकास होता है, संक्षेप में, भावना और नीति के तत्त्व जीवन में विकसित होते हैं, तो हमें चाहिए कि हम वैसी वस्तु को पाठ्यक्रम का विषय बनायें।

इसी प्रकार यदि हमें पता चले कि बालक रेती के घरोंदे बना कर, घर बाँध कर, मिट्टी के खिलौने बना कर, खड़िया से रेखायें खींच कर या बालू में चित्र बना कर या नन्हें-नन्हें गीत गाकर अथवा रंगीन मिट्टी के चौक पूर कर या बरतन, कपड़े, शंख, मोती आदि को सजाकर अपनी सौन्दर्य-विषयक शक्ति को विकसित करता है तो अवश्य ही हमें वैसे विषयों को पाठ्य क्रम में स्थान देना चाहिए।

और, यदि बालक सूत कात कर, या करवत से लकड़ी काटकर या इसी प्रकार हाथ-पैर से मेहनत करके अपनी सृजनात्मक वृत्ति का परिचय कराते हों, तो इन चीज़ों को भी पाठ्य-क्रम का अंग बना लेना चाहिए।

साथ ही हम पुराने पाठ्य-क्रम को भी न भूलें। उसमें से भी जिन-जिन चीज़ों का बालक अपने विकास के लिए पुनः-पुनः उपयोग करता हो, वे चीज़ें ले लेनी चाहिएँ, और बाक़ी को छोड़ देना चाहिए।

उदाहरण के लिए वाचन और लेखन एक ऐसा साधन है कि जिसके सिद्ध हो जाने पर बालक को मानों एक शस्त्र मिल जाता है। उसके द्वारा वह अपने आप अपने अज्ञान को नष्ट कर सकता है। वह स्वाधीन बन जाता है। वह स्वयं ज्ञान का आनन्द लूटने लगता है और फलतः शक्तिमान् बनता है। हम सब जानते हैं कि ज्ञान एक शक्ति है। अतएव नये पाठ्य-क्रम में वाचन और लेखन की आवश्यकता है; परंतु हम यह भी देख लें कि पुराने पाठ्य-क्रम में से इतिहास वग़ैरा क्या लेने योग्य हैं, और क्या नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि हमें पता चले कि इतिहास बालक को स्वयं पसन्द नहीं है, इतिहास की मनोरंजक कहानियाँ सुनने पर ही वह उसे याद रहता है, अन्यथा भूल जाता है, तो यह सोचकर कि विषय तो अच्छा है, उपयोगी भी है, पर बड़ों के काम का है, उसे बालकों के पाठ्य-क्रम से निकाल देना चाहिए। हम बालक को चाहे जैसे और चाहे जो विषय पढ़ा सकते हैं, उसमें रस उत्पन्न कर सकते हैं, उससे याद करवा सकाते हैं, और यह भी बता सकते हैं कि बालक को वह पसंद है। लेकिन यह सब तो हम करते हैं, और करा सकते हैं। हम हट जाएँ और फिर देखें कि बालक क्या कर सकते हैं; स्वयं उन्हें किस में मज़ा आता है; वे स्वयं किसमें एकाग्र बनते हैं; उन्हें खुद किस बात की लगन है, धुन है, और बिना मेहनत के उन्हें क्या याद रहता है। इस पर से हमें पता चलेगा कि वे कहाँ हैं, और हम कहाँ हैं! हमारी और उनकी प्रिय वस्तुओं में कितना फरक़ है। उनकी और हमारी दृष्टि में कितना अन्तर है। और जब हमें इसकी प्रतीति हो जायगी तो हम किसे मौक़ा देंगे, किसका सम्मान करेंगे? उनकी रुचि का या अपनी रुचि का! हम उनके व्यक्तित्व की चिन्ता करेंगे या अपने विचारों की? हम उनकी पर्वा करेंगे या अपनी?

इन सब बातों पर विचार करके हमें वर्तमान पाठ्य-क्रम में परिवर्तन करना चाहिए। यदि हमें ऐसा जान पड़े कि मौजूदा पाठ्य-क्रम ऊपर बताये गये कारणों से बदलने लायक है, तो हम उसे बदल दें और यह निश्चय करें कि नया पाठ्य-क्रम कैसा होना चाहिए। गि.

परीक्षा

परीक्षा के लिये मेरी पाठशाला पूरी तरह तैयार थी। एक-एक छात्र को इतिहास, गणित, भूगोल, भाषा आदि विषयों में जीतोड़ मेहनत करके तैयार किया था। पूरा विश्वास था कि उनमें से एक भी फेल न होगा। किसी के भी मनमें परीक्षक की या परीक्षाफल की लेशमात्र चिन्ता न थी। छात्रों का उत्साह देखने योग्य था। सारे वर्ष भर अच्छा काम किया था, और अख़ीर-अख़ीर में तो खूब ही मेहनत की थी।

परीक्षकजी पधारे। वह नये थे। मैंने उन्हें प्रचलित पद्धति से परिचित कराया। कार्य-पद्धति और परीक्षा लेने की रीति बताई। उन्होंने गम्भीरता-पूर्वक मेरी बातों को सुना और समझा।

मैंने सोचा कि अब जल्दी ही चौथी कक्षा-के छात्रों को गणित के प्रश्न लिखा कर पाँचवीं कक्षा के वाचन की परीक्षा लेंगे। दूसरी कक्षा वालों की कॉपी बुकें इकट्ठा करके उन्हें और प्राइमर वालों को घर जाने की छुट्टी दे देंगे। थोड़ी ही देर में इस तरह परीक्षा का काम शुरू हो जायगा।

लेकिन हुआ तो कुछ और ही। उन्होंने सब लड़कों को बाहर जाने को कहा और मुझे आज्ञा की –"सारी पाठशाला की अच्छी सफ़ाई करवा डालो।"

मैं अचम्भे में आ गया, पर हुक्म को सर-आँखों पर चढ़ाया और कामवाली से कह कर सारी पाठशाला उसी दम साफ़ करवाई।

परीक्षकजीने कहा--"कचरा पेश करो।"

डब्बे में भर कर कचरा पेश किया गया। गणित के प्रश्न की जाँच करते हों, इस तरह परीक्षकजी ने कचरा देखा और परीक्षा-पत्रक में कचरा के सामने = ० (शून्य) लिख दिया।

उन्होंने कहा –"चलिये, कमरे देख लें।"

उन्होंने बड़े ध्यान से कमरों की एक-एक दीवार देखी; कोना-कोपरा, खिड़की-दरवाज़े देखे और परीक्षा-पत्रक में लिखा-"सफ़ाई = ० (शून्य)।"

फिर उन्होंने मुझसे कहा--"इस कमरे में बैठिये।" और मैं और वह बैठे।

बाहर लड़कों ने धूम मचा रखी थी। ज़ोरों का शोर हो रहा था। शिक्षक उन्हें चुप करने की कोशिश कर रहे थे।

उन्होंने तीसरे खाने में लिखा-"शान्ति= २ (ऋण दो)।"

मैं तो दंग ही रह गया। परीक्षक जी नये थे। ताज़ा बी. टी. थे। इलाहाबाद युनिवर्सिटी के ग्रेज्युएट थे। नये थे, इसलिए उनके साथ बेतक़ल्लुफ़ी से बातें करना भी संभव न था। और, जो दोष वह बता रहे थे वे सवा सोलह आने सच थे।

मैं मन-ही-मन घबरा रहा था, पर करता क्या? मैं सोचता था कि अब इतिहास-भूगोल की परीक्षा लेना शुरू करें, तो अच्छा हो। और, गणित के प्रश्न छुड़वावें तो सभी के सही निकलें।

लेकिन इतने में तो उन्होंने पानी पीने के प्याले और लुटिया मँगाईं, मटके और ढक्कन देखे, और लिखा--"–५ [ऋण पाँच]"

आख़िर उन्होंने कहा---"लड़कों को

अन्दर बुलाइये"। मैंने सोचा, चलो बला टली, अच्छा हुआ, अब काम बनेगा।

मैंने कहा-"दर्जे वार बैठ जाओ। पट्टी-पेन तैयार रक्खो। जिसे बुलावें, वह मेज़ के पास आवे।"

लेकिन मुझे निराश होना पड़ा। वह खड़े हुए और कमरे में बैठे हुए सब लड़कों को घूम-घूम कर देखा।

टोपियाँ देखीं, कोट देखे, कुर्ते देखे, बटन देखे, बाल देखे, नाखून देखे, हाथ, पैर, मुँह और नाक देखी, दाँत और आँख देखी। मेरी आँखें भी यह सब देख ही रही थीं। मैंने अनुभव किया कि सचमुच ये लड़के बहुत ही गन्दे हैं। मैंने सोचा कि इस विषय में --२५ [ऋण पच्चीस] मिलने चाहिएँ।

उन्होंने निरीक्षण समाप्त किया और पत्रक में --२० [ऋण बीस] लिखा।

सुबह का समय बीत चुका था। हँसकर उन्होंने कहा- "लड़कों को आज छुट्टी दीजिये। कल फिर बुलाइये।"

दूसरा दिन उगा और लड़के आये। सब परीक्षा देने के लिए अधीर हो रहे थे।

उन्होंने परीक्षा लेनी शुरू की। इतिहास, गणित, भूगोल, सभी विषयों की नियमानुसार परीक्षा ली। एक-एक छात्र उत्तीर्ण हुआ। सभी को अच्छे नम्बर मिले। लड़के खुश-खुश घर गये। उन्होंने कहा- "पढ़ाई अच्छी हुई है। छात्रों ने अच्छा परिश्रम किया है।"

मैं मुस्कुरा उठा। पर उसी क्षण कल की परीक्षा का परिणाम मेरी आँखों के सामने खड़ा हो गया।

उन्होंने दो तरह के परीक्षा-पत्रक भरे-

(१) जीवन की परीक्षा--मुख्य परीक्षा--शून्य परिणाम।

[२] पढ़ाई की परीक्षा-गौण परीक्षा-सौ फ़ीसदी।

परीक्षा-पत्रकों पर हस्ताक्षर करके उन्होंने वे पत्रक उच्चाधिकारी के पास भेजवा दिये।

गि.

शिक्षण-पत्रिका के नियम

१, पत्रिका प्रतिमास अंग्रेज़ी महीने की १५ तारीख को प्रकाशित होती है।

२. प्रबन्ध-सम्बन्धी सारा पत्र-व्यवहार व्यवस्थापक के नाम और बदले के पत्र और पुस्तकें और सम्पादक से सम्बन्ध रखनेवाला सारा पत्र-व्यवहार सम्पादक के नाम नीचे लिखे पते से किया जाना चाहिए:---

हिन्दी शिक्षण-पत्रिका-कार्यालय,
५३, कृष्णपुरा, इन्दौर. सी. आई.

३. पत्रिका का वार्षिक मूल्य देश में १) और विदेश में २ शिलिंग है।

४. ग्राहकों को अपना नाम और पूरा पता खूब साफ़ लिखना चाहिए, ताकि पत्रिका के पहुँचने में गड़बड़ न पड़े।

मुद्रक:-- मध्यवर्ती सहकारी मुद्रणालय, इन्दौर.
प्रकाशक:-- काशिनाथ त्रिवेदी, शिक्षण-पत्रिका-कार्यालय, ५३, कृष्णपुरा, इन्दौर.

[सहकारी मुद्रणालय, इन्दौर. ७२०, ७-३४, १००००]

शिक्षण-पत्रिका

कि दूध पिलाने के बाद सिर खपाना पड़े, परेश
कपड़े से अच्छी तरह धो पड़े तो वह भी क
के दाँत नहीं हैं, उनके तन्दुरुस्ती सदा की प
रखने की वे सलाह बिगड़ी सो फिर बिगड़ी

वर्ष दूसरा दतौन के समय अंक पहला
जून, १९३५ प्रधान सम्पादक ज्येष्ठ, १९९२

गिजुभाई और ताराबहन

सम्पादक

काशिनाथ त्रिवेदी

देश में, एक रुपया : वार्षिक मूल्य : विदेश में, दो शिलिंग

हमारी श्रद्धा

आज हमने कितना सारा काम किया या कितना कम काम किया, इस कसौटी पर हम अपनी कार्यपरायणता के संतोष-असंतोष, सेवा के आनन्द-निरानन्द अथवा जीवन की सार्थकता-निरर्थकता को न कसें। बल्कि हम यह देखें, कि आज हमने जो थोड़ा या बहुत काम किया उसके पीछे हमारी श्रद्धा कितनी थी, प्रेम कितना था, लगन कितनी थी, हमारे जीवन में उत्साह और उल्लास कितना था—बस इसी तराजू पर हम अपने काम को तौलें।

काम ढेरों किया हो, और फिर भी वज़न में कुछ न उतरे। काम चार छटाँक ही किया हो, फिर भी वह मनों से तौला जाय। वास्तविक वस्तु काम में निष्ठा है, काम की सचाई है।

दाँत मज़बूत होने चा[illegible]
के लिए नहीं; बल्कि चबा-[illegible]
दाँतों से रस्सी काटने, बा[illegible]
पर सुपारी तोड़ने और नारियल की जटा उखाड़ने के काम भी लिये जा सकते हैं; लेकिन दाँत ख़ास इन कामों के लिए नहीं हैं। दाँत तो अन्न चबाने के लिए हैं। जबतक जीना है, तबतक अन्न भी खाना है और अच्छी तरह खाने के लिए यह ज़रूरी है कि दाँत मज़बूत हों; साफ़ और नीरोग हों!

जिनके दाँत गिर जाते हैं, वे बहुत परेशान रहते हैं। उनका मुँह पोपला हो जाता है; चेहरा भद्दा लगने लगता है। जवानी में भी वे बूढ़े दिखाई पड़ते हैं। उनसे ठीक-ठीक बोला नहीं जाता, वे तुतलाने लगते हैं और तब छोटे बालक उन्हें देखकर हँसते हैं। उन्हें नक़ली दाँतों की बत्तीसी बैठानी पड़ती है और उसकी हिफाज़त करनी पड़ती है। जब बचपन में दाँतों की सम्हाल नहीं रक्खी जाती, तो वे जल्दी ही ख़राब होने लगते हैं, और जवानी में बुढ़ापा ला देते हैं।

कुदरत तो हमें मोती के दाँतों-से दाँत देती है। हम उन्हें मैले, गन्दे और पीले रहने देते हैं। कुदरत बत्तीस दाँतों से भरा सुन्दर चेहरा देती है, जिसे हम जान-बूझकर पोपला बना डालते हैं। कभी मार-पीट में दाँत टूट जाते हैं, तो कभी ठोकर लगकर गिरने से! रोगी दाँतों को डॉक्टर से उखड़वाना पड़ता है, और अपनी लापरवाही के कारण भी कभी हमें अपने दाँत निकलवाने पड़ते हैं।

हमारे दाँतों का तो जो होना था, सो हो[illegible]

[illegible]ों के दाँतों की रक्षा में
[illegible]छा हो! एक बार बाल-
[illegible], और मैंने अपने बालकों के दाँत उन्हें बताये। वह पहला दिन था कि जब मैंने यह जाना कि बालकों के दाँत भी इतने ख़राब हो सकते हैं। उससे पहले उनके दाँतों की ख़राबी का मैंने विचार भी नहीं किया था। इन्हीं ख़राबियों से दाँत दुखते हैं, और दुखते-दुखते गिरकर एक दिन मुँह को पोपला बना जाते हैं।

उस दिन से मैं रोज़ अपने बालकों के दाँत देखने लगा। दाँतों के सम्बन्ध में कुछ किताबें भी पढ़ लीं। अहमदाबाद म्युनिसिपैलिटी के स्कूल-बोर्ड की वार्षिक रिपोर्ट में मैंने पढ़ा कि उस साल बोर्ड की ओर से कुल ९,१२७ बालकों के स्वास्थ्य की परीक्षा की गई थी। इन बालकों में से २,७६६ बालकों के दाँत गन्दे, मैले और रोगयुक्त पाये गये थे। ७० बालकों के दाँत सड़ रहे थे, ३ बालक मसूढ़ों की सूजन से और १ 'स्कर्वी' से पीड़ा पा रहा था!

पुराने लोग दाँत के बारे में हमसे ज्यादा सावधान रहते थे। वे नियम से दतौन करते, खाकर कुल्ले करते और नमक से दाँत घिसते थे। खाने के बाद दाँतों को साफ़ रखने के लिए वे अच्छी तरह कुल्ले करते थे—इतने कि मुँह में तनिक भी जूठन न रह पाती थी। मेरे पिता दतौन का बड़ा आग्रह रखते थे। पुरानी चटसालों के पाँडेजी छात्रों से रोज़ दतौन करवाते और घर से दतौन करने का परवाना मँगवाया करते थे।

बिलकुल नन्हें बालक दूध पीने के बाद बिना मुँह धोये ही पड़े रहते या खेला करते हैं। डॉक्टरों

की तो यहाँ तक राय है कि दूध पिलाने के बाद बालकों का मुँह, साफ़ कपड़े से अच्छी तरह धो देना चाहिए; जिन बालकों के दाँत नहीं हैं, उनके मसूढ़ों को घिसकर साफ़ रखने की वे सलाह देते हैं।

जब बच्चों के दाँत आने लगें, तो उन्हें कुछ कड़ी चीज़ें खाने को देनी चाहिएँ। ऐसी चीज़ें कि जिनसे दाँतों को थोड़ी कसरत मिले, पर कष्ट न हो। दाँत आने के बाद भी यदि बालक दूध पीता रहे, या उसे मुलायम और तरल खूराक ही मिलती रहे, तो दाँतों का पाया मज़बूत नहीं रहता और दाँत कमज़ोर बन जाते हैं।

यह सोचकर कि दूध के दाँत तो गिर जायँगे, उनकी ओर से लापरवाह रहना भूल है। इस भूल के कारण बालकों के दाँत सड़ते हैं। सड़ा या बिगड़ा हुआ एक दाँत दूसरे पास के दाँतों को सड़ाता है। दूध वाला दाँत गिरने से पहले ही नये दाँत के सिरे पर अपनी सड़न छोड़ जाता है, और इस प्रकार पुराना दाँत गिरते समय नये दाँत को रोग की विरासत देता जाता है।

जब दाँत आने लगें, तभी से बालकों को दतौन करना सिखाना चाहिए। बालक दतौन करने में आनाकानी करते हैं। रोते और हठ पकड़ते हैं। दतौन कड़ा होता है। वे उसे चबा नहीं सकते। उन्हें चाय या दूध पीने की जल्दी होती है। माँ-बाप उन्हें दतौन करने की आज्ञा करते हैं, पर खुद होकर उन्हें दतौन करने की क्रिया नहीं बताते—उन्हें दतौन करना नहीं सिखाते।

यह सोचकर कि वे बालक हैं, बड़े होने पर सब कुछ करेंगे, उनकी उपेक्षा न करनी चाहिए। दाँत जीवन के आधार हैं। उनकी सँभाल के लिए समय निकालना पड़े तो निकालना चाहिए, सिर खपाना पड़े, परेशान होना पड़े या खर्च करना पड़े तो वह भी करना चाहिए। बिगड़ी हुई तन्दुरुस्ती सदा की परेशानी है—वह एक बार बिगड़ी सो फिर बिगड़ी ही समझिये!

दतौन के समय आप बालक को अपने पास बैठा लीजिये। उसे राख, मंजन या दतौन की काड़ी देकर उससे दाँतों को माँजना सिखाइये। ऊपर नीचे, आजू-बाजू चहुँओर से माँजना सिखाइये! मंजन के बाद कुल्ले करना भी बतलाइये। माँजे हुए साफ़ दाँतों को आइने में देखिये और बालकों को भी यह खेल बताकर उनके आनन्द को बढ़ाइये!

घर में सबको नियम से दतौन करना चाहिए। और इस बात का ख़याल रखना चाहिए कि बालक भी वैसा ही करते हैं या नहीं! कोई कुछ भी खाये या पीये तो तुरन्त पानी से कुल्ले अवश्य कर लिया करें! सुपारी या छालिया खाकर भी मुँह को साफ़ कर लेना ज़रूरी है। खाने के बाद दाँतो को धोकर साफ़ करने की आदत जब एक बार पड़ जाती है, तो सदा के लिए बनी रहती है, और उपयोगी होती है।

भोजन के बाद नमक से दाँतों को माँजना और अच्छी तरह कुल्ले करना अच्छा है।

सोने से पहले बालकों के दाँत मँजवाना यानी उनसे किसी भी प्रकार का दतौन करवा लेना आवश्यक है। सारी रात सोते में मुँह और दाँतों में रही हुई जूठन सड़ती रहती है, और सुबह तक वह काफ़ी बदबू देने लगती है। इसलिए यह ज़रूरी है कि दोनों वक्त दतौन किया जाय और मुँह और दाँत साफ़ रक्खे जायँ।

दाँतों को साफ़ और उजला रखना वैसे भी ज़रूरी है। उजले और सीधे दाँत मुँह की शोभा

है। यह शोभा कुछ कम आवश्यक नहीं है। वह हमें तन्दुरुस्त रखती और दूसरों को आनन्द पहुँचाती है। जो-जो चीज़ें दाँतों को साफ़ और चमकदार रखती हैं, उनमें से सस्ती और अच्छी का हमें उपयोग कर लेना चाहिए। यदि नमक और राख से अच्छा दतौन हो सकता है, तो किसी दूसरी क़ीमती और दुर्लभ चीज़ का उपयोग करना निरर्थक है। बच्चों को तो दाँतों की सफ़ाई एक खेल के रूप में बताई जा सकती है। आईने में दाँत देखना और देख-देख कर उन्हें माँजना बालकों के लिए एक बड़े मज़े का खेल बन सकता है।

माता-पिता को बचपन से ही इस बात की चिन्ता रखनी चाहिए कि बच्चों के दाँत न बिगड़ें; आड़े-टेढ़े और बदसूरत न बनें। अँगूठा-चूसना, मुँह में अँगुली डालकर घुमाना या रूमाल वग़ैरा चीज़ें चबाना स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छा नहीं है। नीरोग दाँतों के लिए इन गन्दी बातों से बचना चाहिए। संक्षेप में स्वच्छ और मज़बूत दाँत मुँह की शोभा और शरीर की एक अनमोल सम्पत्ति हैं, जिसकी उपेक्षा करना अपनी तन्दुरुस्ती खोने के समान है!

बालकों के माता-पिता इस सम्बन्ध में सदा सजग रहें, तो बड़ा काम हो!

गि०

शाला में स्वराज्य

आज हमारे देश में नहीं, सारी दुनिया में स्वराज्य की पुकार मच रही है। आज तक शायद इतने ज़ोर के साथ यह बात कभी नहीं कही गई कि मनुष्य को अपने जीवन से सम्बन्ध रखने वाले निर्णय स्वयं ही करने का अधिकार है। मनुष्य की आत्मा अपना विकास खोज रही है, इस विकास की खोज ही खोज में जब वह आगे बढ़ती हो, तब उसे भूल करने का भी हक़ है। आज हम इस बात को स्वीकार कर रहे हैं। और यह असंभव है कि हम आत्म-निर्णय के इस अधिकार को केवल राजनीति तक ही सीमित रक्खें। जीवन एक अखण्ड वस्तु है। इस कारण जिन नियमों या सिद्धान्तों को उसके एक क्षेत्र में हम क़बूल करते हैं, वे नियम और सिद्धान्त हमें दूसरे क्षेत्र में भी स्वीकार करने पड़ते हैं। आत्म-निर्णय के इस सिद्धान्त को भी यही बात लागू होती है। मनुष्य को अकेली राजनीति ही में नहीं, धर्म, समाज, अर्थशास्त्र, यों कहिये कि, जीवन के हर क्षेत्र में यह अधिकार रहता है।

और, शिक्षा यदि जीवन की तालीम है, तो सारे जीवन में व्याप्त यह सिद्धान्त उतने ही ज़ोर के साथ शिक्षा को भी लागू होना चाहिए। आज हमारे जीवन में आत्म-निर्णय को स्थान नहीं है, क्योंकि शिक्षा में उसे स्थान नहीं। आज की शालाओं में यदि कल के पुरुष पैदा होने वाले हैं, तो इसकी तैयारी आज ही से शाला में शुरू की जानी चाहिए। इस दृष्टि से यदि हम यह चाहते हैं, कि हमारी भावी प्रजा स्वतन्त्र बने, तो उस स्वतंत्रता की तालीम हमें शाला में आज ही से शुरू करनी चाहिए। शाला में इस तरह की स्वतंत्रता को हम शाला का स्वराज्य कहेंगे।

आज हमारे वहाँ शाहियों का दौरदौरा

है। हमारे समाज में पंचों का बोलबाला है। धर्म में पुरोहितशाही का साम्राज्य है और शालाओं में शिक्षकशाही पाई जाती है। तत्व की दृष्टि से ये सब सत्ता या 'शाहियाँ' एक हैं। यदि हमें स्वराज्य की बातें सिद्ध करनी हों तो हमारे जीवन के हरएक क्षेत्र से इस शाही का अन्त होना चाहिए, और इसके स्थान पर आत्म-निर्णय की स्थापना होनी चाहिए। देश में नौकर शाही को हटाकर यदि गुण्डा शाही रखनी हो, तो वह स्वतंत्रता न होगी। यह भी अभीष्ट नहीं कि एक शाही नष्ट हो और उसके बजाय दूसरी शाही का प्रभाव बढ़े। वस्तुतः तो इन सब शाहियों और सत्ताओं को आँच में तपा कर गला डालना चाहिए और इनमें जो शुद्ध धातु बच रहे, उससे स्वतंत्रता की नई मूर्त्ति निर्माण करनी चाहिए। धर्म में पुरोहित शाही का अन्त और यजमान शाही का आरंभ भी उतना ही अनिष्ट है।

व्यापारी दुनिया में जो आज सेठशाही मौजूद है, उसके स्थान पर नौकरशाही का आरंभ कोई नहीं चाहेगा। इसी तरह शाला के स्वराज्य का अर्थ शिक्षकशाही के बदले विद्यार्थीशाही नहीं है। स्वराज्य तो तभी हो सकता है, जब प्रत्येक आदमी पूर्ण स्वतंत्रतापूर्वक अपना विकास कर सके, और तिसपर भी दूसरे की स्वतंत्रता में ज़रा भी बाधक न हो।

अबतक शाला-सम्बन्धी हमारी कल्पना में शिक्षक प्रधान वस्तु रहा है। हम शाला की अच्छी से अच्छी कल्पना करें, तो भी उसमें आदर्श शिक्षक हमारी मुख्य वस्तु होती है। शिक्षक के आगे हम विद्यार्थियों अथवा विधेय का बहुत विचार नहीं करते।

किन्तु नई शाला की कल्पना में विधेय का विचार प्रथम किया जाता है। आदर्श शिक्षक, आदर्श पाठ्यक्रम, आदि उस विधेय के विकास के लिए आवश्यक वातावरण का काम करते हैं। आज शिक्षा की अच्छी से अच्छी भावना से प्रेरित होकर हम विद्यार्थियों के लिए पाठ्यक्रम तैयार करते हैं। उनमें रस पैदा करने के लिए पद्धतियों की खोज करते हैं, ऐसी तरकीबें तलाशते हैं कि विद्यार्थियों को खेल के साथ-साथ ज्ञान भी मिलता जाय। और हम विद्यार्थियों को अपनी रुचि के अनुसार बनाने के लिए हरतरह के जाल फैलाते हैं। इसमें शिक्षक की हैसियस से हमारा आशय चाहे जितना शुभ रहता हो, विद्यार्थी का पूर्ण कल्याण नहीं होता। हमारे वर्तमान पाठ्यक्रम, हमारी मौजूदा शिक्षण-पद्धतियाँ, हमारी आज-कल की पाठ्य-पुस्तकें और शिक्षा के विषय इन सब बातों में जबतक विद्यार्थी की आन्तरिक भूख का विचार नहीं होता, तबतक ये सब बेकार हैं।

परन्तु आज स्वराज्य की इतनी बड़ी तात्त्विक बात की लम्बी चर्चा में हम न उतरें। इस तत्व की दृष्टि से तो जब तक हमारी शालाएँ स्वातंत्र्य और स्वयंस्फूर्ति के सिद्धांत पर फिर से न रची जायँ, तब तक शालाओं में सच्चा स्वराज्य हो ही नहीं सकता।

आज हम इस व्यापक स्वराज्य की बात को छोड़ दें और कल ही से शाला में जो स्वराज्य हम क़ायम कर सकते हैं, उसीका विचार करें।

शाला में शिक्षक और विद्यार्थी ये दो जीवित तत्व हैं। आज शाला की सारी व्यवस्था शिक्षक के हाथ में है। विद्यार्थी जहाँ कहीं इस व्यवस्था में हाथ बँटाता है, शिक्षक की आज्ञा पाकर ही बँटाता है। यह वस्तुस्थिति कल ही से दूर कर

देनी चाहिए। शाला जितनी शिक्षक की है, उतनी बल्कि उससे भी अधिक विद्यार्थी की है। भविष्य में विद्यार्थी को जिस दुनिया में घूमना है, उस दुनिया का थोड़ा-सा परिचय विद्यार्थी को शाला में मिलता है। अतः अपनी इस नन्हीं-सी दुनिया में विद्यार्थी जितना अधिक स्वतंत्र रहेगा, उतनी उसकी ताकत बढ़ेगी और कल की स्वतंत्रता की नींव वह आज डालेगा। मैं जानता हूँ कि कुछ शिक्षकों को इस बात का अविश्वास-सा रहता है; कि विद्यार्थी शाला के कामों में सक्रिय भाग ले सकते हैं, शाला में पैदा होने वाले सवालों का खुद निर्णय कर सकते हैं, और ऐसा निर्णय करते हुए कभी फिसलें, पछाड़ खायँ, तो भी धूल झाड़ कर उठ सकते हैं। परन्तु ऐसा अविश्वास करना भूल है। विद्यार्थी में स्वयं कितनी ताकत है, वह निजी तौर पर छोटे-बड़े निर्णय करने में कितना बल बता सकता है, सो तो अनुभवी ही जान सकते हैं। भावनगर के श्री दक्षिणामूर्त्ति छात्रालय के पिछले बीस-बाईस वर्ष के अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि जिस शिक्षक को विद्यार्थी की शक्ति में ऐसा विश्वास नहीं है, उसे समझना चाहिए कि वह अपने धन्दे का दिवालिया है। आप अपनी शाला में विद्यार्थियों को स्थान दीजिये, उन्हें जिम्मेदारी के काम सौंपिये, उनके निर्णय ग़लत मालूम होते हों, तो भी तत्काल उन्हें कबूल करिये और फिर देखिये कि इस प्रकट अव्यवस्था में से कैसी सुन्दर व्यवस्था पैदा होती है। जो शिक्षक शाला में अनुशासन-अनुशासन, (Discipline) की पुकार मचाते हैं, उन्हें जानना चाहिए कि वर्तमान शालाओं का अनुशासन कोई स्वयंभू अनुशासन नहीं है, किन्तु छड़ी या डंडे के भय से उत्पन्न अनुशासन है। शालाओं के इस अनुशासन के कारण ही अभी तक दुनिया से उपद्रव और अशान्ति का नाश नहीं हो सका है। यही अनुशासन जब अन्दर से पैदा होता है, जब विद्यार्थी खुद ही गिरता-पड़ता, लेकिन तौल सम्हालता, और पैरों पर खड़ा रहना सीख जाता है, तब उस अनुशासन का कुछ मूल्य होता है। और यह सब सिखाने के लिए ही विद्यार्थी को आज शाला में जितनी स्वतंत्रता मिलती है, उससे अधिक स्वतंत्रता मिलने की आवश्यकता है। शाला की सफाई, शाला के खेल, शाला का पुस्तकालय, वाचनालय, शाला के त्यौहार, शाला की यात्रा, और शाला की पंचायत आदि विद्यार्थियों की अपनी दुनिया में उन्हें अधिक स्वतंत्रता देकर हम शिक्षक दूर खड़े-खड़े केवल सलाहकार का ही काम करें, तो विद्यार्थियों में स्वतंत्रता की हवा बहेगी, और आज का बोया हुआ बीज भविष्य में बड़ा वृक्ष बन जायगा।

मैं जानता हूँ कि आज तो विद्यार्थी भी ताज़ा छोड़े गये कैदियों की तरह इस स्वतंत्रता को पूरी तरह पसंद न करेंगे, लेकिन हमें इससे घबराना न चाहिए। अगर यह चीज़ अन्त तक अच्छी ही है, तो हर उचित उपाय से हमें विद्यार्थी को इस रास्ते से ही ले जाना चाहिए। एक बार इस स्वातंत्र्य का स्वाद चखने के बाद वे कभी इसे नहीं छोड़ेंगे और भविष्य में जब शाला में अवसर मिलेगा, वे स्वतंत्रता-पूर्वक अपने विचार प्रकट करेंगे और जब तक उन्हें अपने विचार की गलति समझ में न आवेगी, वे उस पर डटे रहेंगे!

स्वराज्य के लिए इतनी तालीम कम नहीं। आज तो हम में इतनी भी नैतिक हिम्मत नहीं है कि जो हमें सच्चा लगे, उसका हम आचरण करें। हमारे विचार अच्छे से अच्छे क्यों न हों, हमारा

आचरण तो वही पुराने ढंग का होता है। भय की नींव पर खड़े किये गये हमारे इस आचरण को अगर हम शालाओं में न रहने देंगे, तो भावी समाज से यह बुराई अपने आप नष्ट हो जायगी। आज हमारे सारे देश में इस प्रकार की स्वतंत्रता की अधिक से अधिक आवश्यकता है, अतः इसके बीज रूप में हमें शालाओं में वैसा स्वराज्य शुरू कर देना चाहिए, जिसका ऊपर जिक्र हो चुका है।

कोई यह न मान बैठे, कि शाला के स्वराज्य का अर्थ विद्यार्थियों की मनमानी है। या यह कि वह तो विद्यार्थीशाही होगी। विद्यार्थियों के स्वराज्य और विद्यार्थीशाही में वैसा ही फ़र्क़ है, जैसा जनता के स्वराज्य और रैयतशाही में। हम यह जो मानने लगे हैं कि विद्यार्थियों को स्वतंत्रता देने से विद्यार्थीशाही पैदा होती है, सरासर निराधार बात है। बिना विद्यार्थियों को स्वतंत्रता दिये, यह मानते रहना कि स्वतंत्रता का फल बुरा ही होता होगा, कोई शोभा की बात नहीं। यह तो एक तरह स्वयं मनुष्य की आत्मा पर अविश्वास करना हुआ। मैं तो शायद यह भी कहूँगा कि अगर शिक्षक विद्यार्थीशाही के डर से ही शाला में स्वतंत्रता देने के विरोधी हों, तो ऐसी परतंत्रता की अपेक्षा वह विद्यार्थीशाही बुरी नहीं, कुछ अंशों में अच्छी ही है।

अपनी शालाओं के कुछ व्यवस्था-सम्बन्धी कामों में आज हम इस स्वराज्य का आरंभ कर सकते हैं। शाला की व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाले कुछ काम हम विद्यार्थियों को ही सौंप सकते हैं। कुछ शालाओं में ख़ास-ख़ास काम छात्रों से ही कराने की प्रथा होती है, लेकिन उसे हम शाला की स्वतंत्रता नहीं कह सकते। जो काम विद्यार्थियों को शिक्षकों की आज्ञा मात्र से करने पड़ते हैं, और जिनमें अपनी बुद्धि का उपयोग करने, ठोकर खाने और परिणाम सहने की उन्हें स्वतंत्रता नहीं रहती, वह सच्ची स्वतंत्रता नहीं। आरंभ में शाला के विद्यार्थियों को स्वतंत्रता देते समय परि-स्थिति के अनुसार हम उसे परिमित रख सकते हैं, लेकिन फिर भी हमारा लक्ष्य तो यथा समय उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता देने का ही होना चाहिए। शाला की सफाई, समय, नियम, शिकायतें, समय-पत्रक, बगीचा, खेलकूद, वगैरा ऐसे विषय हैं, जिनमें विद्यार्थियों के स्वराज्य को अवकाश है। हमारी मौजूदा शालायें भी इतना स्वराज्य तो कल ही से दे सकती हैं।

निःसन्देह शाला में पढ़ाने की वर्तमान प्रथा के बदले जब तक ऐसी व्यवस्था नहीं होती कि विद्यार्थी स्वयं पढ़ने लग जाय, तब तक वह सम्पूर्ण स्वराज्य तो नहीं कहलावेगा। आज की सारी शिक्षण-पद्धति में शिक्षक दाता है, और विद्यार्थी मात्र ग्रहीता है। इसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन तो बहुत ही आवश्यक है। शिक्षा का सच्चा मार्ग तो यह है कि विद्यार्थी केवल ग्रहीता न रहे, बल्कि स्वयं अपनी राह तय करता जाय और जहाँ ज़रूरत पड़े, शिक्षक की सहायता लेता जाय। शाला में सच्ची स्वतंत्रता उसी दिन आवेगी, जब वर्तमान शालाओं में शिक्षक पढ़ाना बन्द करेंगे और विद्यार्थी भूख का मारा ज्ञान की टोह में निकल पड़ेगा।

लेकिन उस दिन की पूर्व तैयारी के रूप में भी अगर हम वर्तमान शालाओं में भिन्न-भिन्न कामों के सम्बन्ध में विद्यार्थियों को स्वतंत्रता दे दें, तो उस सम्पूर्ण स्वतंत्रता में हमारा विश्वास बढ़ेगा और शाला की सिरपच्ची के अनेक सवाल अपने आप हल हो जायँगे।

हमारी विद्यापीठें आज देश में शिक्षा का नूतन युग स्थापित करने चली हैं। हमें राष्ट्र में सर्वतोमुखी स्वातंत्र्य खड़ा करना है। राष्ट्र-जीवन की इस सर्वांगीण स्वतंत्रता के सोपानरूप में हम विद्यापीठों की शालाओं में और दूसरी तमाम सामाजिक शालाओं में ऐसे स्वराज्य का श्रीगणेश क्यों न करें?

ना०

चिन्ता का वातावरण

तरला एक धनवान सेठ की कन्या है। चार भाइयों में अकेली एक बहन है। इसी लिए सब की लाड़िली है। सब उसके स्वास्थ्य की चिन्ता रखते हैं। उसे ज़रा सिरदर्द हुआ की, डॉक्टर को बुलाने मोटर गई ही है! यदि जल्दी ही आराम न हुआ तो कन्सल्टेशन (परामर्श) के लिए बड़े डॉक्टर को बुलाया जाता है। तरला के घर से रोज़ एक प्रश्नमाला डॉक्टर के पास जाया करती थी। तरला बेसन के पदार्थ खा सकती है या नहीं? उसे दाड़िम दिया जा सकता है या नहीं? कितने दाड़िम दे सकते हैं? उसे आम का अचार भी दिया जाय या सिर्फ़ नीबू का? उसने कल इमली का पना खाया है। कोई हानि तो नहीं? वह गँवारफली का साग खाना चाहती है, दिया जाय या नहीं? इस तरह प्रायः प्रत्येक कार्य डॉक्टर की सलाह से किया जाता था। डॉक्टर की सम्मति के अतिरिक्त भी अन्य कई तरह के बन्धनों से वह बेचारी जकड़ी रहती थी। धूप में निकलना मना, रात को जागरण करना मना, गरम कपड़े पहने बिना सबेरे घूमने जाना मना!

तरला के आगे-पीछे यह सब तो था ही; इसके सिवा सब से अधिक भयंकर बात तो यह थी कि उसे परिवारवालों की चिन्तातुर नज़रों के बीच ही जाना पड़ता था। खाते-खाते हँसने से कहीं पेट में बल पड़ गया या खाँसी आ गई, तो सब उसकी ओर ताकने लगते। कोई उसकी पीठ सहलाता था, कोई दौड़ कर पानी लाता था, कोई पास खड़ा-खड़ा चिन्तातुर भाव से देखा करता था! उसे ज़रा ज़ोर की खाँसी चली नहीं कि उसकी माँ, चाची, भाभी आदि ने उसकी ओर चिन्ताकुल भाव से देखना शुरू किया ही है! नौकर दौड़कर लौंग इलाची ला देता। रसोइया चट् से चाय बना देता। पड़ौसी फौरन पूछने आते—"क्यों खाँसी दूर हुई?" माँ ज़रा मुँह लटका कर जबाब देतीं—"हाँ, कुछ ठीक है। बेचारी की तबियत अच्छी ही कब रहती है? कल बहू के मायकेवालों ने बड़ा आग्रह किया था, सो वहाँ खाने चली गई थी। देखो न, थोड़ी-सी सेव और कोई आधा-पाव लड्डू भर खाया होगा; पर इतने ही से आज यह खाँसी खड़ी हो गई! न जाने मेरा नसीब ही कैसा है? बिटिया की तबियत कभी ठीक ही नहीं रहती।"

दोनो जनीं चिन्ताकुल मुँह बनाये बैठी रहें, और इसी तरह तरला की बीमारी के बारे में कई बातें होती रहें। तरला को बिछौने पर पड़े पड़े सहज ही खाँसी के कुछ अधिक ठसके आ जाते!

इस प्रकार लखपति की कन्या तरला के पास

पैसे से खरीदे जाने वाले तमाम साधन पलक भाँजते हाज़िर हो जाया करते थे। लेकिन तरला कभी तन्दुरुस्त नहीं रहती थी। स्वभाव से ही वह बहुत नाजुक थी। हवा की एक ठण्डी-सी लहर से उसे सर्दी हो जाती थी। और, हलकी-सी लू उसके शरीर की गर्मी बढ़ा देती, उसे बुख़ार ला देती!

तरला की एक सहेली कुसुम थी, जो हमेशा उससे मिलने आया करती थी। वह तरला की सह-पाठिन भी थी। जब वह आती तो उसका स्वस्थ शरीर देखकर तरला की माँ सदा सोचा करतीं; 'मेरी तरला कुसुम की तरह स्वस्थ क्यों नहीं रहती?' और तरला भी कुसुम से पूछती—"बहन कुसुम, तुम इतनी तगड़ी कैसे हो? और मैं ही सदा बीमार क्यों रहती हूँ? तुम भी मुझे अपनी तरह तन्दुरुस्त बनालो न"!

एक दिन की बात! कुसुम आई और उसे देखकर तरला की माँ फिर सदा की तरह तरला के साथ उसकी तुलना करने में लग गईं; इतने में उनके परिवार के एक पुराने डॉक्टर आ पहुँचे। डॉक्टर ने इनकी बातों का रुख समझ लिया था—आते ही बोले—"लक्ष्मी बहन! आप कुसुम की तन्दुरुस्ती की ईर्ष्या क्यों करती हैं? आप तरला को तन्दुरुस्त देखना ही नहीं चाहतीं, तो बेचारी तरला भी क्या करे? आप तो उसे सदा बीमार ही रखना चाहती हैं, और वह बीमार रहती है!" लक्ष्मी देवी ने कहा—"अर्रर्‌! डॉक्टर साहब, आप यह क्या कह रहे हैं? और आप यह कैसे कहते हैं कि हम तरु को बीमार ही देखना चाहते हैं? हम तो उसे स्वस्थ और नीरोग बनाने के लिए पैसे की ओर देखते तक नहीं, और आप कहते हैं, हम उसे बीमार रखना चाहते हैं! बेचारे डॉक्टर व्रजबिहारी रोज़ सवेरे आ कर तरु को देख जाते हैं। मैं तो रात और दिन उसीका ख़याल रखती हूँ। नौकर-चाकरों को भी पूरी ताक़ीद है कि वे बिटिया को कोई तकलीफ़ न दें! इतने पर भी आप ऐसी ग़लत बात कहते हैं! भला यह भी कोई बात में बात है?"

डॉक्टर को भी जोश आ गया। वह बोले-"इससे तो मेरी ही बात मज़बूत होती है। सरला को रोज़ कोई शिकायत नहीं होती, फिर क्यों रोज़ डॉक्टर आते हैं और क्यों आप सब चिन्तित रहते हैं? उसे जो बीमारी है, वह तो जाहिर है! आप लोगों की सतत चिन्ता ही उसकी बीमारी है। आपका यह तरीक़ा ही गलत है। कुसुम से पूछिये, कोई उसे कहता भी है कि यह खा, वह न खा; यहाँ जा, वहाँ न जा। सर्दी लग गई, गर्मी लग गई, सीताफल ने रोग खडा किया; पपीते से नुक़सान हुआ और यह हुआ और वह हुआ! कोई पूछता है, कुसुम से ये सारी बातें? वह खाती है, पीती है, और मौज मनाती है। उसको एक सालके लिए मेरे घर भेज दीजिये और फिर देखिये कि वह कुसुम की तरह तन्दुरुस्त रहती है या नहीं! आपकी तरह धनवानों और पढे-लिखों के घर पैदा होना भी एक कम्बख्ती ही है! आप लोग चिन्ता ही चिन्ता में बच्चों को कुम्हलाये देते हैं! उन्हें पीस डालते हैं। जरा मेरे साथ गांव में घूमने चलिये! न रहने का ठिकाना, पहनने-ओढने का प्रबन्ध। पर्याप्त पौष्टिक भोजन भी नहीं मिलता, फिर भी गरीबों के बालक आपकी तरु से कहीं ज्यादा तन्दुरुस्त रहते हैं। एक नहीं, ऐसे एक हजार बालक मैं आपको बता सकता हूँ। और सब के सब आपकी तरला से ज्यादा तन्दुरुस्त! बात यह है कि

आप चिन्ता ही से उसे मार डालती हैं। आपके दूध-घी और महँगे फलों से उसे पुष्टि मिले तो कैसे मिले ! चिन्ता के इस वातावरण में तो मेरे जैसा भला चंगा आदमी भी बीमार पड़ जाय ! फिर बेचारी तरु का कसूर ही क्या, यदि वह नीरोग नहीं रह पाती ? धनिक लोग सिर्फ़ पैसा ख़र्च करना जानते हैं। लेकिन आनन्दी, प्रसन्न और निश्चिन्त वातावरण का महत्त्व ज़रा भी नहीं समझते। तरला को मैं अपने साथ लिये जाता हूँ। देखिये, छः महीनों के अन्दर वह कैसी बन-कर आती है। ''

लक्ष्मी देवी को डॉक्टर महोदय की बात सच मालूम हुई। उन्हें अपनी भूल का पता चला। उस दिन से तरला का शरीर भी सुधरने लगा और वह प्रसन्न और प्रफुल्लित भी रहने लगी।

ता०

बालकों की एक कुटेव

' हरिजन-बन्धु ' में आचार्य श्री. किशोरलाल मशरूवाला लिखते हैं—

'' आमतौर पर यह देखा जाता है कि डेढ़-दो वर्ष की छोटी उम्र के बालकों में भी अपनी इन्द्रियों को छेड़ने की आदत होती है। लड़कियाँ पेन्सिल या ' पेम ' लेकर उसके द्वारा गन्दे खेल खेलती हैं। लेकिन अक्सर देखा गया है कि जाँघिया या ' नेकर ' पहनने के बाद बालक इस कुटेव को भूल जाते हैं। कभी-कभी यह आदत इतनी मज़बूत हो जाती है कि इसीमें से बालक हस्त-मैथुन का शिकार बन जाता है। एक बहन ने इस विषय पर मेरा ध्यान आकर्षित करते हुए इस सम्बन्ध में कुछ सूचनायें चाही हैं।

बहुतेरे माँ-बाप इस आदत की उपेक्षा करते हैं; वे देखते रहते हैं, पर बालकों को रोकते नहीं। कभी-कभी नासमझ मातायें और नौकर आदि बालकों को स्वयं होकर यह गन्दी आदत सिखाते हैं। लेकिन यह उचित नहीं है। बहुधा लोग इस कुटेव को छुड़ाने के लिए बच्चों से बुरा-भला कहते हैं, या डराते धमकाते हैं। यह भी ठीक नहीं। इस सम्बन्ध में आवश्यक तो केवल यही है कि धीमे से बालक का हाथ वहाँ से हटा दिया जाय या उसे हटाने को कहा जाय। जाँघिया पहनाये रखना भी एक उपाय है।

लेकिन इस सम्बन्ध में एक दूसरी महत्त्व की बात तो उस स्थान की स्वच्छता है। बालक तभी अपनी इन्द्रिय को छेड़ता है, जब गन्दगी के कारण वह खुजलाने लगती है। बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो छोटे बच्चों की इन्द्रिय को पेशाब के बाद भली-भाँति धोते हों। जब बालक बैठे-बैठे पेशाब करता है, तो उसका नीचे का भाग भी गन्दा हो जाता है। उस जगह पर धूल लगने या मिट्टी का खार जमने से खुजली चलने लगती है और बालक उसे खुजलाने को विवश हो जाता है। इसलिए आव-श्यकता तो यह है कि शरीर के दूसरे भागों की तरह ही ये भाग भी स्वच्छ रक्खे जायँ।

धोये हुए अंगों को सूखे गमछे से न पोंछकर यों ही हवा में सुखाने से भी खुजली पैदा हो सकती है। इसलिए पेशाब-पाखाने से निपटने के बाद बालक के अंगों को भली-भाँति धोकर उन्हें

पोंछ देना चाहिए।

इतने पर भी यदि यह मालूम हो कि खुजली बन्द नहीं हो रही है, तो कोई खुजली नाशक वस्तु लगानी चाहिए। इससे बालक इस कुटेव में फंसने से बचेगा और खुजलाने की उसे आवश्यकता भी न रहेगी। मैदे-जैसा कोई भी महीन आटा पाउडर की तरह लगाने से खुजली मिट जाती है।

बालजीवन की करुणता

बाबूमोहनलाल के घर आज जीमनवार था। उनके कई सगे-सम्बन्धी इकट्ठा हुये थे। सावित्री देवी ने आज खीर, पूरी, दो तरह के साग, और पकौड़ी बनाई थी। बारह बरस का वीरेंद्र आज खुश था, दो तीन बार रसोई घर का चक्कर लगा आया था, और रसोई की सुगन्ध ले चुका था। अपने साथी लड़कों से वह कह रहा था—"आज अम्माँ ने बड़े उम्दा भुजिये बनाये हैं! खजूर के और केले के और आम के। ऐसे मीठे लगते हैं! आज तो बड़ा मज़ा आवेगा, दोस्त!" वीरेन्द्र ने आज सबेरे का सारा समय इन्हीं विचारों में बिता दिया कि शाम को कहाँ घूमने जायँगे, और दोपहर को क्या खेलेंगे, कि जिससे बड़ा मज़ा रहे और आनन्द आवे। वीरेन्द्र की खुशी का आज ठिकाना न था। क्योंकि बराबरी के दोस्त मिले थे और अम्माँ ने मन-पसन्द भोजन बनाया था।

ज्योंनार शुरू होने में कुछ देर थी। वीरेन्द्र के पिता और मौसा हिंडौले पर बैठे झूल रहे थे। बातों ही बातों में लड़कों की पढ़ाई की बात निकल पड़ी। मौसा कहने लगे—"हमारे गांव की शाला अच्छी है। मास्टर बड़े अच्छे आये हैं। लड़कों को जरा भी चूँ-चपड़ नहीं करने देते और पहाड़े-पट्टी तो ऐसे पक्के करा देते हैं कि पूछिये ही नहीं। अरे ओ जोगेन्द्र, ज़रा इधर तो आ! बोल, अड़तीस सवाया कितना?" जोगेन्द्र ने चालाकी से एक दम जवाब दिया—'साढ़े सैंतालीस।' ऐसे दो-चार कठिन सवाल मौसा ने पूछे और जोगू ने सच-झूठ जवाब झट-पट दे दिये। मोहनलाल तो खुश हो गये, कहने लगे "ओहो! जोगेन्द्र की गणित तो बहुत पक्की है। हमारे बीरू को तो मामूली चालीस तक के पहाड़े भी अभी याद नहीं हैं। यह बीरू तो बिलकुल मूर्ख है। इसके दिमाग में आलू भरे हैं। गणित से तो इसे बैर है। मामूली अक्ल भी इसमें नहीं है। बाज़ार में जाकर दो पैसे का साग भी इसे नहीं लेते आता।"

वीरेन्द्र के मौसा बोले—"अभी तक साग भाजी भी नहीं खरीद सकता? और जोगेन्द्र तो इतना होशियार है कि भाव-ताव तो कर ही लेता है, पर ऊपर से दो भिण्डी ज्यादा लेकर धीरे से थैले में रख लेता है! उस कूँजड़े को पता तक नहीं चलता! आपको जो मँगाना हो मँगवा लीजिये, बराबर ला देगा।"

मोहनलाल बोले—"अजी साब, हमारा वीरेन्द्र तो बिलकुल निकम्मा है। दो कौड़ी की अकल नहीं। कहते कुछ हैं, करता कुछ है। वीरेन्द्र जरा इधर तो आ। देख, यह जोगेन्द्र कैसे सट्-सट् जबाब देता है। तू क्या कर रहा था!"

वीरेन्द्र—" कुछ नहीं, पिताजी । "

मोहनलाल—" कुछ नहीं, क्या कुछ नहीं ! यह हाथ में क्या लिये हो ? "

वीरेन्द्र (घबरा कर)—"यह......यह...तो चाकू है "

मोहनलाल ने गुस्से में आकर चाकू छीन लिया; उसके हाथ में काग़ज़ के टुकड़े थे, वे भी छीन कर फेंक दिये; और उसे बुरा-भला कहने लगे—" रोज़ कहता हूँ कि ये बेकार के धन्धे न किया कर । रोज़ उठकर या तो काग़ज़ काटेगा या बाँस छीलेगा । इधर चिपकायेगा और उधर चिपकायेगा । ये निकम्मी आदतें तेरा पेट भरेंगी ? कहाँ है, तेरी गणित की किताब ? ला, देखूँ कल तूने क्या सीखा था ? "

वीरेन्द्र घबराता-घबराता गया और गणित की किताब लाकर पिता के हाथ पर रख दी ।

मोहनलाल फिर उबल पड़े:—" यह किताब फट क्यों रही है ? और यह दाग क्यों पड़ा हुआ है ? " इन सवालों के साथ उन्होंने वीरेन्द्र के गाल पर दो तमाचे और जड़ दिये ।

" बोल आज-कल मदरसे में क्या सिखाया जाता है ? " काँपते हुए हाथों से वीरेन्द्र ने त्रैराशिक का पृष्ठ निकाल बताया । आस-पास जोगेन्द्र और दूसरे मित्र खड़े थे । मौसा-मामा भी बैठे थे । वीरेन्द्र को ऊँचा सिर करने में लाज आई, इसलिए वह मुँह लटकाये किताब के सामने देखता रहा ।

मोहनलाल को यह पसंद नहीं पड़ा—"लड़की की तरह यों क्या बैठा है, यों ? " कह कर ज़ोर से उसका मुँह पकड़ा और घुमा दिया । वीरेन्द्र की आखों मे आँसू छलछला आये थे ।

मोहनलाल—" देख, जा अभी इसी वक्त ये पाँच सवाल छुड़ाकर ला । छोकरी की तरह रोता क्या है ? "

वीरेन्द्र की शर्म का ठिकाना न रहा । एक तो सब के सामने यह बात खुल गई कि उसे कुछ नहीं आता । ऊपर से मार पड़ी । और तिसपर आँख के आँसू रोके रुके नहीं, सबने देख लिया और अधूरे में पूरा पिताजी ने यह सर्टिफिकेट दिया कि छोकरी की तरह रोता क्या है ? वीरेन्द्र मारे शरम के ज़मीन में गड़-सा गया । चुपके से उठकर अपनी जगह पर जा बैठा । हाथ में पट्टी और कलम थी । जमीन पर गणित की किताब ।

बेचारा आज खूब आनन्द मनाने वाला था; अपने बनाये हुये काग़ज़ के खिलौने लेकर तालाब पर घूमने जाने वाला था । और खीर और भुजिये ? अरे, वह भोजन तो भोजन की जगह ही रहा । वीरेन्द्र के लिए आज का सारा खाना ख़राब हो चुका था ।

वीरेन्द्र सवाल छुड़ा रहा है, पर जबाब एक भी सही नहीं आता । पेट में भूख लगी है, पर खाना किसी तरह नहीं भाता । गि०

वीएना का शिशु-मंगल-मण्डल

दो साल पहले जब मैं वीएना आया, तो मुझे पता चला कि यहाँ का शिशु-मंगल-मण्डल दुनिया भर के सब मण्डलों से ऊँचे दर्जे का है ।

वीएना म्युनिसीपैलिटी के सोशलिस्ट सदस्यों

ने युद्ध के बाद इसकी स्थापना की थी। जब यह स्थापित हुआ था, यहाँ की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति बहुत ही शोचनीय थी, इसीलिए हम भारत-वासियों के लिए इस संस्था का आदर्श अधिक उपयुक्त है। हमें भी अपने यहाँ ऐसा कोई काम शुरू करने पर राजनैतिक, आर्थिक समस्यायें हल करनी पड़ेंगी।

वीएना के 'शिशु-मंगल-मण्डल' के काम के मूल में सारी मानव जाति की भावी उन्नति की आकांक्षा है। वीएना की म्युनिसीपैलिटी के सोश-लिस्ट सदस्यों ने प्रस्ताव पेश किया कि बालक का हित या अहित केवल व्यक्तिगत जीवन-मरण का सवाल नहीं है; बल्कि सारी जाति के जीवन-मरण का सवाल है। इसी कारण बालक के जीवन और स्वास्थ्य का प्रबन्ध करने के लिए जाति, राष्ट्र और समाज की एकत्र शक्ति की आवश्यकता है। यह मानकर म्युनिसीपैलिटी के सदस्यों ने शिशु-मण्डल के काम को अपना ही काम समझा और उसके ख़र्च का सारा भार शहर की म्युनिसीपैलिटी पर डाला।

बालक के पैदा होने से पहले का काम

इस शिशु-मंगल-कार्य-पद्धति में बालक के पैदा होने से पहले ही शिक्षा का आरम्भ कर दिया जाता है, और उसके साँसारिक जीवन में प्रवेश करने तक के समय में जिन-जिन बातों की आवश्यकता होती है, उन सबका प्रबन्ध किया गया है। मण्डल की ओर से नीचे लिखे काम होते हैं:—

१. कौन माता-पिता सन्तान पैदा करने के लायक हैं—इसकी शिक्षा का प्रचार।

२. शहर की हरएक भावी माता की सम्भाल और जानकारी।

३. उसकी जाँच और आवश्यकता पड़ने पर डॉक्टरी इलाज का इन्तजाम।

नवजात शिशु की परिचर्या

१ नये पैदा हुए बालक की तन्दुरुस्ती देखना और उसकी माता अथवा पालन करने वाली धाय को लालन-पालन सम्बन्धी बातें बताना।

२ जिस बालक को दूध पर रखना हो, उसके लिए अस्पताल या आश्रम में स्थान का प्रबन्ध करना।

बाद का इन्तजाम

१ शाला में जाने योग्य उम्र होने तक, या जब तक बालक को आश्रम में अथवा घर पर रखना हो, तब तक किण्डरगार्टन का प्रबन्ध।

२ शाला में जाने योग्य बालकों के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की देखरेख।

३ बालकों के लिए खेलने की जगह, नहाने की जगह, खेल कूद के लिए मकान वगैरा का इन्तजाम।

४ रोगी बालकों की दवा।

'निरोगी माँ की निरोग सन्तान' शिशु-मंगल-मण्डल का यह मुख्य मंत्र है। इसलिए मण्डल यह ठीक नहीं समझता कि बालक के पैदा होने के बाद उसकी देखरेख और संभाल की जाय। अगर बालक जन्म से ही रोगी हो, तो उसका इलाज करने में ज्यादा ख़र्च बैठता है, इसलिए बेहतर यह समझा गया है कि ऐसा इन्तजाम किया जाय कि जन्म से रोगी बालक पैदा ही न हो। वीएना में यह कानून तो नहीं है, कि जो सन्तान पैदा करने के लिए अयोग्य हैं, उन्हें बेकार बना दिया जाय (स्टेरीलाइज कर दिया जाय); फिर भी 'म्युनिसिपल मैरेज एडवाइस ब्यूरो'—'विवाह-उपदेश-समिति' नामक एक संस्था जनता को इस सम्बन्ध की शिक्षा देती है।

भावी माता की परीक्षा के लिए वीएना में ३४ मातृमंगल-आश्रम हैं। इन सब स्थानों में डॉक्टरी परीक्षा के लिए आवश्यक सारा सामान और सरंजाम है। कोई भी स्त्री इन आश्रमों में जाकर अपने आरोग्य की परीक्षा करवा सकती है। जो इन स्थानों में नहीं जा सकतीं, उनके लिए स्वास्थ्य विभाग के कर्मचारी स्वयं जाकर उनकी परीक्षा कर लेते हैं।

जन्म-रजिस्ट्री-विभाग का मुख्य आदमी हरएक बालक के जन्म के समाचार आश्रम में पहुँचा देता है, और आश्रम वाले उस बालक की परीक्षा कर आते हैं।

इस स्वास्थ्य-परीक्षकों का काम का अंदाज़ नीचे के अंकों से मालूम पड़ेगा—

सन् १९२७ में २३०,००० बार परीक्षा की गई थी। म्युनिसिपैलिटी ने थोड़े ही दिनों में बच्चा पैदा करनेवाली–आसन्न-प्रसवा–माताओं के लिए अनेक अस्पताल खोल रक्खे हैं। वीएना में आधेसे अधिक बालकों का जन्म इन अस्पतालों में होता है। म्युनिसिपैलिटी केवल अस्पताल खोल कर ही नहीं रह गई। जो सरकार से संतान पैदा होने के समय आर्थिक मदद न पा सकें, उन्हें संतान हो चुकने के बाद चार हफ्तों तक हर हफ्ता १० शिलिंग के हिसाब से म्युनिसिपैलिटी मदद करती है।

नवजात शिशु के योग्य लालन-पालन के लिए माता-पिता को नियमित रूप से भिन्न-भिन्न संस्थाओं द्वारा शिक्षा दी जाती है। इसके सिवा नगर-स्वास्थ्य-विभाग हरएक नये पैदा हुए बालक के लिए नई पोशाक देता है। सन् १९२९ में ऐसी अनेक पोशाकें दी गई थीं।

नये जन्मे हुए बालक की रक्षा के लिए म्युनिसिपैलिटी के दो स्थान हैं। इनके सिवा व्यक्तिग रूप से चलने वाली अनेक संस्थायें हैं। म्युनिसिपैलिटी इनकी धन से सहायता करती है।

बड़े बालकों के लिये वीएना में १०२ किंडर गार्टन शालाएँ हैं। शहर के जुदा-जुदा भागों में बँटी हुई हैं। सुबह सात से शामको छः बजे त ये खुली रहती हैं। माता पिता बच्चोंको सुबह य रख जाते हैं और काम पर चले जाते हैं, शाम लौटते समय घर ले जाते हैं। तीन से छः वर्ष उम्र के बालक यहाँ रक्खे जाते हैं। छः बरस उ की उम्र के बालकों के लिए ३४ शालाएँ अलग जिनमें बालक दिनभर रहते हैं।

शाला के छात्रों की तन्दुरुस्ती की परीक्षा हफ्ते की जाती है। पहले साल दमे की बीमारी लिए लड़के और लड़की की खास तौर पर परीक्ष की जाती है। दाँत और आँख की परीक्षा का बाक यदा इन्तज़ाम है।

म्युनिसिपैलिटी की ओर से बालकों के खेल के लिए ३४ स्थान बनाये गये हैं। इनमें १२ स्नान-घर हैं। इनके सिवा छुट्टी के दिनों में श के बाहर ले जाने का प्रबन्ध भी म्युनिसिपैलि करती है।

रोगों के इलाज में दमे के रोगी पर वीएना बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है। क्योंकि की बीमारी वीएना में खूब प्रबल है। दमे के रो के लिए चिकित्सालय और क्षय के रोगी के रहने के घर म्युनिसिपैलिटी की ओर से बने हुए

जिस परिवार में क्षय का कोई बीमार हो है, उस परिवार के बालकों को वहाँ से हटा लि जाता है, जिससे बालकों पर रोग का असर न

इन तमाम बालकों का खर्च म्युनिसिपैलि ही देती है। म्युनिसिपैलिटी ने केवल चिकित्सा

में रोग निवारण का ही भार नहीं ले रक्खा है, बल्कि स्वास्थ्य-वर्द्धक आहार-विहार का प्रबन्ध, छुट्टियों में शहर के बाहर ले जाने का प्रबन्ध और लोकोपयोगी कामों का भार भी उसके जिम्मे है। इससे शहर की मृत्युसंख्या बहुत ही घट गई है।

गि०

मूल का सुधार

पुष्पों में गन्ध नहीं, कलियाँ पूरी तरह खिलती नहीं, पत्तियाँ मुरझा गई हैं, शाखाएँ टेढी-मेढी हैं, तने की छाल गिरी पडती है।

क्या हम फूलों में गन्ध छिडकेंगे ? कलिकाओं को अपने हाथों से खोलेंगे ? पत्तों की किनारों को ठीक करके उन पर रंग लगायेंगे ? डालियों को बढ़ई के द्वारा घड़वा कर समान करवायेंगे ? और तने की छाल गिर न पड़े, उसके लिए उसे धागे से बाँध देंगे ?

पर क्या इस प्रकार करने से वृक्ष अच्छा हो जायगा ? नहीं, कभी नहीं ! तो क्या करना चाहिए ?

हमको चाहिए कि हम वृक्ष के मूल को देखें। जड़ में समाई हुई बुराई की तलाश करके, उसे दूर करने का प्रयत्न करें। जड़ में छिपी हुई बुराई दूर हो जायगी तो वृक्ष नव पल्लवित हो जायगा !

मानवरूपी वृक्ष के विकास के लिए भी हम जड़ पर क्यों न ध्यान दें ?

चलो, हम लोग बालक को सुदृढ और नीरोग बनाएँ।

गि०

वर्षाऋतु

वर्षा की ऋतु है। आकाश में काले बादल उमड़-घुमड़ रहे हैं। कभी बिजली और गर्जना के साथ बादलों से पानी बरसता है और कभी बिना गर्जन-तर्जन के।

पृथ्वी माता ने सारे शरीर पर हरे रंग की साड़ी पहन ली है। पक्षी, मेंड़क और मोर अपने-अपने स्वरों से बादलों का दिन-रात स्वागत करते हैं। कई प्रकार के छोटे-छोटे कीट-पतंग नवीन जीवन प्राप्त कर इधर-उधर भ्रमण कर रहे हैं। यही वर्षा ऋतु है और इस ऋतु का यही सौंदर्य है।

ऐसे समय में जो पाठक पाठशाला के दरवाज़े बन्द करवा कर बालकों को अँधेरे में पढ़ाते रहते हैं और जो 'जहाँगीरी हुक्म' देकर अपने बच्चों को घर में ही बिठा रखते हैं वे प्रकृति के ऐश्वर्य के दुश्मन हैं, वे बालकों के दुमश्न हैं और वे उनकी प्रगति के घातक हैं।

गि०

सरदारी

सरदार बनना सरल है, पर सरदारी को टिकाए रखना सरल नहीं है।

सरदार बनने का अर्थ है काँटों का ताज़ पहिनना! इस ताज़ को पहिनाने के लिए सब आते हैं, पर उसे पहिनाने वाले ही सरदार के मार्ग में काँटे बिछावे तब काँटों का यह मुकुट असह्य हो जाता है।

किसी भी कार्य की सरदारी-नेतागिरी स्वीकार करने से पहिले, हमको अपनी शक्ति का विचार करना चाहिए। अपने साथियों का भी विचार करना चाहिए।

पूर्ण विचार और विश्वास करने के बाद स्वीकार की हुई सरदारी अल्पजीवी नहीं बनती। गि०

पतन का मार्ग

पहाड़ पर चढ़ते-चढ़ते फिसलना और लड़खड़ाना बहुत भयंकर है। अगर आदमी फिसला या लड़खड़ाया तो नीचे गहरी खाई में जाता है। वहाँ से ऊपर चढ़ने में बरसों बीत जाते हैं।

लेकिन यह दुर्भाग्य उसी के ललाट में लिखा होता है—

जो चढ़ते समय अभिमानी बन जाते हैं और चढ़ती के दिनों में स्तुति सुनकर गर्व से फूल उठते हैं।

शराब के नशे में चूर आदमी पहले शरीर से नीचे गिरता है, जब कि अभिमान के नशे में चूर आदमी तो पहले ही से मन और शरीर के साथ नीचे गिर जाता है। गि०

हममें दोनों हैं

हमें यह मालूम हो कि मुझमें कुछ भी नहीं है, तो यह आत्मा की दुर्बलता है। हम यह सोचें कि बस मैं ही हूँ; मुझही में सब कुछ है, तो यह हमारा अभिमान है। हम जैसे हैं, वैसे ही अपने को माने, तो अति दुःख और अतिहर्ष के ज्वारभाटे का हमें सामना न करना पड़े। हममें कमजोरियाँ भी हैं, और विशेषतायें भी हैं।

कमज़ोरियों के लिए हम जागृत रहें, खिन्न नहीं। विशेषताओं के लिए प्रसन्न रहें, मगरूर नहीं। गि०

प्रधान सम्पादक से नीचे के पते से पत्रव्यवहार कीजियेः—

श्री. गिजुभाई,

दक्षिणामूर्ति बालमंदिर, भावनगर (काठियावाड).

मुद्रकः—मध्यवर्ती सहकारी मुद्रणालय, इन्दौर।

प्रकाशकः—काशिनाथ त्रिवेदी, शिक्षण-पत्रिका कार्यालय, ५३, कृष्णपुरा, इन्दौर सिटी।
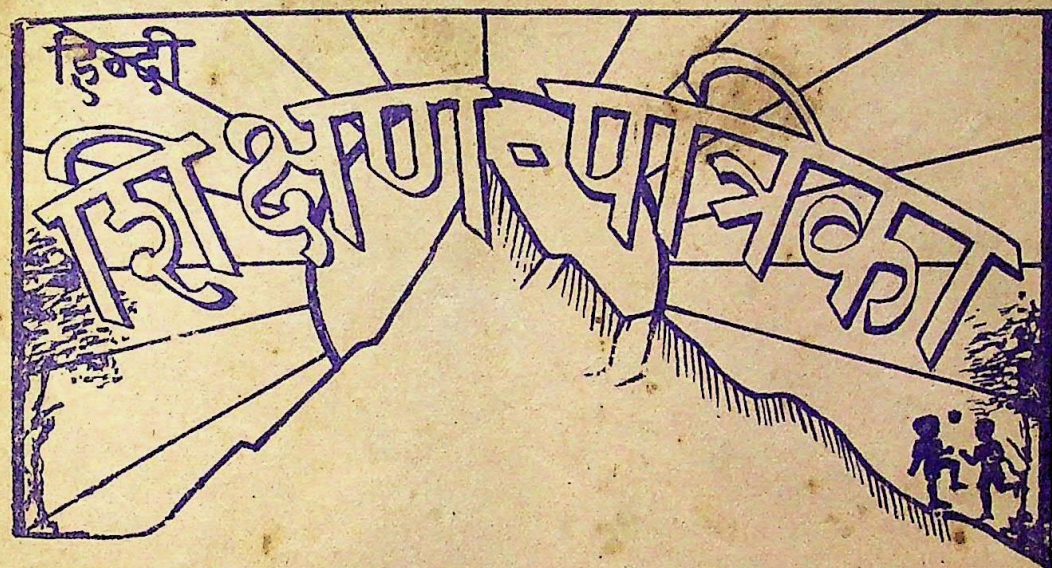
[माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक-पत्र]

वर्ष तीसरा)   जुलाई, १९३६   (अंक दूसरा

प्रधान सम्पादक
गिजुभाई और ताराबहन

सम्पादक
काशिनाथ त्रिवेदी

इन्दौर, जोधपुर, बड़वानी आदि राज्यों के शिक्षा-विभागों द्वारा स्वीकृत।

हिन्दी
शिक्षण-पत्रिका

(माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक-पत्र)

वर्ष तीसरा | अंक दूसरा
जुलाई, १९३६ | आषाढ़, १९९३

देश में, एक रुपया : वार्षिक मूल्य : विदेश में, दो शिलिंग

प्राणवान-असन्तोष

'मै भी कब आगे बढ़ूँ, कब वैसा प्राणवान बनूँ?' यह सोचना, ऐसी वृत्ति रखना, इष्ट है। जबतक उन्नति नहीं होती, तबतक असन्तुष्ट रहनेवाला आदमी उन्नति के पथ पर है; लेकिन जो यह सोचता है कि 'हाय! हाय! वह तो इतना बढ़ गया, और मैं यों ही रह गया; अब आगे जाना व्यर्थ है, चलूँ दूसरा मार्ग पकड़ूँ, घर बैठा रहूँ, जब उसके साथ उसकी चाल से जाना संभव नहीं है, तो चलूँ इन सब कोशिशों से मुँह ही क्यों न मोड़ लूँ!' वह अपना अहित स्वयं करता है। यह एक अनिष्ट वृत्ति है। इस वृत्ति में से उत्पन्न होनेवाला असन्तोष स्वस्थ नहीं, अस्वस्थ, रोगी, असन्तोष है। इस प्रकार का असन्तुष्ट मनुष्य पिछड़ता जाता है, गिरता जाता है। असन्तोष बल भी है और निर्बलता भी है। मनुष्य मात्र को चाहिए कि वह प्राणवान-असन्तोष को पहचाने और उसे अपनाने का प्रयत्न करे।

शान्ति का खेल

कमरा दरवाज़ों और खिड़कियों वाला हो, अन्दर जलती हुई दो-चार अगरबत्तियों की सुगन्धि कमरे को सात्विक शान्ति का रूप दे रही हो, चमकते हुए गुलाब के फूल की तरह उनके सुलगते हुए सिरे अँधेरे में धीमा प्रकाश फैला रहे हों, अन्दर बीस-पचीस नन्हें-नन्हें बालक शान्त बैठे हों,—कोई महान् योगी की तरह ध्यानमग्न हो; कोई आँखों के खुल जाने के डर से उन पर पट्टी बाँधे बैठा हो; कोई शान्ति के इस दृश्य को देखने का आनन्द लूटता हुआ इधर-उधर आँखें घुमाकर यह देखने का प्रयत्न करता हो कि अँधेरे में क्या दिखाई पड़ता है, और कैसा दीखता है; और कोई उस समग्र दृश्य से मुग्ध होकर शान्त भाव से बैठा हो ! ऐसे स्थान में आवाज़ के नाम पर या तो केवल घड़ी की टिक्‌टिक् हो, या बालकों के श्वासोच्छ्वास की ऊँची-नीची सुसकारी; या बाहर होनेवाली किसी बातचीत की ध्वनि, या पक्षियों का कलरव, अथवा किसी की आवाज़ की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए की गई शिक्षक की सूचना की कोई धीमी आवाज़; यह समग्र अनुभव एक अजीब वस्तु होता है। सारा दृश्य अद्‌भुत और अपूर्व !

वानर की तरह एक क्षण को भी स्वस्थ या शान्त न बैठनेवाले ये बीस-पचीस बाल-वानर जब पंद्रह-पंद्रह और बीस-बीस मिनट तक योगी की तरह ध्यान धरे बैठे रहते हैं तो इन्हें देखकर सहज ही हर किसी आदमी को आश्चर्य में डूब जाना पड़ता है।

बाल-मनोविज्ञान की दृष्टि से डॉ० मोण्टीसोरी ने शिक्षा-विषयक जो अनेक आविष्कार किये हैं, शान्ति का यह खेल उन आविष्कारों में एक अनूठी चीज़ है।

अब तक के सभी धुरन्धर शिक्षक इस प्रश्न को लेकर हैरान-हैरान हो गये थे कि बालकों को कैसे शान्त रक्खा जाय। माता-पिता तो अपने ४-६ बालकों से भी ऊब उठे थे। बच्चों का अनुभव रखनेवाले प्रायः सभी लोगों के अनुभव का सारांश लेकर मनोवैज्ञानिकों ने भी यही एक सिद्धान्त स्वीकार कर लिया था कि बालकों का ध्यान बहुत ही थोड़े समय के लिए एकाग्र हो सकता है और वह बहुत ही कम समय तक एक जगह स्थिर बैठ सकता है। किन्तु मैडम मोण्टीसोरी ने अपने अमूल्य प्रयोगों द्वारा इन दोनों सिद्धान्तों का खण्डन किया है, और यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि बालकों का मन शान्त और स्थिर रह सकता है। किसी सुसंचालित मोण्टीसोरी बाल-मन्दिर में जाकर कोई भी दर्शक इसका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

माता-पिताओं को यह जान लेना चाहिए कि बच्चों के जीवन में शान्ति का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, और जानकर उसे उतना महत्त्व भी देना चाहिए। यदि हमारा यह ख्याल हो कि बालक एक क्षण के लिए भी शान्त नहीं बैठ सकते हैं, तो ऊपर बताये गये अनुभव से वह ख़याल झूठा ठहरता है। यदि हम बालकों को शान्ति का स्वाद चखायें, तो वे उसकी मिठास को तुरन्त ग्रहण कर लेते हैं, जिससे उनके समग्र क्रिया-कलाप पर और उनके ज्ञानतन्तुओं पर अतिशय हितकारक प्रभाव पड़ता है। और साथ ही एक बड़ा लाभ यह भी है कि उनके सामने एक नई और गुप्त दुनिया प्रकट हो

जाती है। जब हम हमेशा शोरो-गुल और होहल्ले के बीच ही रहते हैं, तो हमारे आसपास होनेवाली अनेक प्रकार की बारीक, मोटी, मीठी या कर्कश ध्वनियों; सूक्ष्म सुगन्धि या दुर्गन्धियों और अन्य अनेक शान्त और धीमी प्रवृत्तियों की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। फलतः धीमे-धीमे हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ इतनी स्थूल बन जाती हैं कि सूक्ष्म वस्तु को वे ग्रहण ही नहीं कर सकतीं—यानी सूक्ष्म संस्कारों की प्राप्ति का मार्ग ही हमारे लिए सदा के वास्ते बन्द हो जाता है।

जब बालक शान्त होकर बैठते हैं, तो इन सभी सूक्ष्म वस्तुओं की ओर उनका ध्यान आकर्षित होता है। उन्हें ऐसा मालूम होता है, मानों वे किसी दूसरी और नई दुनिया में आ गये हैं, जहाँ वे नई-नई बातें सुनते हैं, नई-नई चीज़ें सूँघते हैं, नया-नया सब देखते हैं और इस प्रकार नित नये अनुभव करने को उत्सुक अपनी इन्द्रियों को वे खूब सतेज और सूक्ष्म बना लेते हैं।

शान्ति का यह खेल हमारे घरों में स्थान पाने योग्य है।

शान्ति का खेल जितना उपयोगी, महत्त्वपूर्ण और लाभदायक है, बच्चों के सामने उसे रखना उतना ही कठिन है। शान्ति का पूरा-पूरा स्वाद चखाते हुए भी उसमें खेल का भाव बनाये रहना, और खेल के भाव को रखकर भी बालकों को सूक्ष्म अनुभवों में अधिकाधिक गहरा ले जाना, ज़रा श्रमसाध्य है, कठिन है; किन्तु असम्भव कदापि नहीं। अपनी आध्यात्मिकता के लिए 'प्रसिद्ध' हम भारतवासियों को तो इस दिशा में इसलिए भी विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है कि जिससे इस खेल को ज़रूरत से ज्यादा गंभीर बनाकर हम बालकों के जीवन में अकाल गंभीरता पैदा न कर दें। दूसरी ओर हमें यह भी ध्यान रखना है कि कहीं हम इसके विपरीत दिशा की ओर न ढुलक पड़ें।

बालक या बालकों को शान्ति के खेल में नीचे लिखे अनुभव कराये जा सकते हैं।

पहला अनुभव है, शान्त बैठने का। न हाथ हिलें, न पैर हिलें, न सिर हिले और न आँख की पलकें हिलें। बालक इस खेल में तुरन्त ही भाग लेने लगते हैं। यदि हम उनके सामने शान्त बैठ जायँ और उनसे कहें कि देखो, हमारा कोई अंग हिलता तो नहीं है, तो वे बड़े कुतूहल के साथ हमें देखने लगते हैं। उनसे हम कह रक्खें कि जब हमारा कोई अंग हिले तो वे फ़ौरन अपनी अँगुली उठा दिया करें। इस रीति से शान्ति की शान्ति बनी रहेगी और खेल का खेल चलेगा। फिर उनमें से एक-एक बालक बारी-बारी से सबके बीच में बैठे और दूसरे सब अँगुली उठाने में रहें। फिर सभी एक साथ शान्त बैठें। और इस तरह खेल चलता रहे। आरम्भ पाव या आध मिनट तक शान्त बैठने से हो, और फिर धीरे-धीरे समय बढ़ता रहे। इस प्रकार एक समय ऐसा भी आयेगा जब बालक देर तक यानी तीन-चार मिनट तक शान्त बैठने में आनन्द का अनुभव करने लगेंगे।

दूसरा अनुभव, अँधेरे का। शुरू में कमरा उजेलेवाला हो, दरवाज़े और खिड़कियाँ खुली हों, फिर एक के बाद एक दरवाज़े और खिड़कियाँ धीरे-धीरे बन्द होने लगें, उजेला कम होता जाय, और अँधेरा बढ़ता जाय। बालकों के लिए यह एक अजीब-सा अनुभव होता है। दरवाज़ों और खिड़कियों पर काले, हरे या लाल पर्दे रखने और उन्हें गिरा देने से भी कमरे में अँधेरा छा सकता है।

हमारे घरों में साधारणतः बालक अँधेरे से डरते हैं, क्यों कि हमारे यहाँ हमारे बहुतेरे बड़े-बूढ़े और ख़ासकर स्त्रियाँ स्वयं बहुत डरती हैं और बहुधा बालक को भी उससे डराती हैं। दूसरे, कइयों के लिए अँधेरे में कोई भी काम करना असम्भव-सा होता है, क्यों कि बिना आँख की मदद के कभी किसी तरह का काम करने की उन्हें आदत ही नहीं होती—प्रसंग ही नहीं आता।

इस दृष्टि से अँधेरे का अनुभव बहुत ही उपयोगी है। शुरू-शुरू में अँधेरा देखकर बालक ज़रा बैचेन-से होने लगते हैं, अतएव घोर अन्धकार के बदले हलका-सा धुँधला अँधेरा रखना चाहिए। इसी तरह थोड़ी देर अँधेरा रखकर फिर तुरन्त उजेला कर देने से बालकों को उसमें बड़ा मज़ा आता है। और अँधेरे को देखने के लिए कमरे के अन्दर एकाध छोटा-सा चिराग़ या मोमबत्ती जलानी चाहिए—इससे बच्चों को बड़े मज़े का अनुभव होता है। हमारे कई शिवालयों में ऐसा दृश्य देखने को मिलता है। अधिक अभ्यास हो जाने पर अख़ीर-अख़ीर में तो अगरबत्ती का उजेला भी एक मज़ा दे जाता है।

तीसरा अनुभव चुपचाप बैठकर अपने आस-पास की दुनिया को देखने-सुनने का है। जैसे जब हम शान्त बैठते हैं, तो बाहर से मोटर और ट्राम के जाने की आवाज़ हमें सुनाई पड़ती है; कहीं दूर से किसी इंजन की सीटी सुन पड़ती है; कभी पक्षियों का कलरव सुनाई देता है; कभी गधे का रेंकना, तो कभी कोयल का कूकना। शान्ति में आवाज़ की भाँति ही तरह-तरह की सुगन्धि का भी अनुभव होता है। कभी रसोई घर से कोई खुशबू आ जाती है, कभी फूलों की कोई महक आ जाती है, तो कभी कहीं से पानी की सोंधी सुगन्ध। इसी तरह हमें अपने आस-पास होनेवाले हलन-चलन का भी पता चलता है। कहीं से किसी के जाने की आहट आती है, कहीं कोई ज़ीने पर से बोलता सुनाई पड़ता है, कहीं पड़ौस के कमरे में कोई मेज़ को हटाता सुनाई देता है। स्वयं तटस्थ रहकर शान्त भाव से इस प्रकार के अनुभव करने में बड़ा मज़ा आता है। और बालक बड़े रस के साथ इनका अनुभव लेते हैं।

चौथा और ख़ास महत्त्व का अनुभव, शान्ति का अनुभव है। गड़-बड़-घोटाले और होहल्ले से बचकर इस प्रकार शान्त बैठने से ज्ञान-तन्तु समतोल बनते हैं, मस्तिष्क शान्त रहता है, और ऐसा अनुभव होता है, मानों सारी थकावट उतर गई हो। बालक को भी यह अनुभव होता है। आजकल की इस प्रपंची दुनिया में अपने आसपास के कोलाहल, मोटरों और ट्रामों की गड़गड़ाहट और रात दिन की दौड़-धूप से हम अपने ज्ञानतंतुओं को कितना थका डालते हैं, इसकी हमें कोई कल्पना ही नहीं है। अतएव बचपन से इस प्रकार की शान्ति में रहने का अभ्यास रखना बहुत ही लाभप्रद है।

माता-पिताओं के लिए यह ज़रूरी है कि वे अपने बालकों को छोटी उमर से ही घर में इस प्रकार की शान्ति का अनुभव करावें।

ता०

विद्याबहन बड़ी

हम लोग पालीताने के पहाड़ पर चढ़ रहे थे। बालक दौड़-दौड़ कर सीढ़ियाँ गिन रहे थे। जो थकते जाते थे, वे डोली में बैठते जाते थे। लेकिन आख़िर तो वे बालक ही थे। दूसरे बालकों को कूदते-फाँदते और सीढ़ियाँ चढ़ते देखकर वे भला कबतक डोली में बैठे रहते ? फिर उतर पड़ते और पैदल चलने लगते, जब थकते, तो फिर डोली में बैठ जाते।

मैं उनके साथ-साथ चल रहा था। चलने में बाल-स्वभाव का अवलोकन और दर्शन करता जा रहा था। कुछ बालक सचमुच थकने पर और थकावट के कारण ही डोली में बैठते थे। कुछ को पैदल चलते शरम-सी लगती थी, इसलिये वे डोली में बैठना पसन्द करते थे। कुछ बड़े घर के बालक पैदल पहाड़ चढ़ने को हलका काम समझते और डोली पर बैठने में बड़प्पन का अनुभव करते थे। कुछ दूसरे हट्टे-कट्टे और चलने के शौक़ीन होते हुए भी अधिक अनुकरणशील होने के कारण देखादेखी डोली में बैठते थे। कुछ ऐसे भी थे, जो समझते थे कि डोली में न बैठने से उनका हक़ छिन जायगा, या यह सोचते थे कि जब दूसरे बैठते हैं, तो हम क्यों न बैठें ? इस प्रकार की होड़ाहोड़ी में पड़कर वे पैदल चलने के आनन्द से वंचित रहते थे।

मैं इन सब प्रकार की बालवृत्तियों को देख रहा था। स्वस्थ और अस्वस्थ मन का भेद समझ रहा था। मैं देख रहा था कि पहाड़ पर चढ़ना, दौड़ना, हाँफना और हाँफते हुए खड़े रहना, थकावट उतारना और फिर चल पड़ना, बच्चों के मन ये सब बड़ी प्यारी क्रियायें थीं। किन्तु भाँति-भाँति की मानसिक विकृतियों के कारण वे ऊपर बताये ढंग से डोली में बैठकर पहाड़ की चढ़ाई का मिथ्या आनंद लूटने का प्रयत्न करते थे और जब वहाँ उन्हें वह आनन्द न मिलता तो फिर पैदल चलने लगते थे।

बड़ी विद्याबहन चढ़ाई चढ़ रही थीं। डोली देखकर उनका मन ललचाता न था। यह देखकर कि दूसरे बालक बैठे-बैठे पहाड़ चढ़ रहे हैं, उनके मन में कोई शिकायत न उठती थी। दूसरों की तरह ईर्ष्या में पड़कर केवल बैठने के लिए भी वह डोली में न बैठती थीं। मैंने उनसे कहा—"विद्या-बहन, डोली में बैठ जाओ; तुम थक जाओगी।"

जवाब मिला—"थक जाऊँगी ? खूब, मैं तो सारा पहाड़ चढ़कर पैदल ही उतरूँगी।"

विद्याबहन के चेहरे पर दृढ़ता थी; प्रफुल्लता थी। दुबले-पतले पैरों में ख़ासा ज़ोर था।

पाँच-छः बरस की विद्याबहन मुझसे भी अधिक उत्साह के साथ चढ़ाई चढ़ रही थीं।

मैं ख़ास तौर पर विद्याबहन का अवलोकन करने लगा। मैंने मन में सोचा—बाल-मन्दिर में तो यह लड़की दूसरे सुन्दर सुरूप बालकों के मुकाबले बहुत कम लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है। किन्तु आज की इसकी यह क्रियाशक्ति तो एक अद्भुत चीज़ मालूम होती है! इसके मन और शरीर का स्वास्थ्य कुछ असाधारण-सा प्रतीत होता है। न इसका शरीर थक रहा है, न मन डोली में बैठने को ललचा रहा है।

सब किसीने विद्याबहन को डोली में बैठने के लिए कहा—

"विद्याबहन, बैठ जाओ, थक जाओगी।"

लेकिन विद्याबहन तो ठेठ ऊपर तक पैदल चढ़कर गईं। उतरी भी पैदल ही। मैं तो दंग रह गया। ग़ज़ब की उनकी शक्ति थी! अद्भुत सहिष्णुता थी! कैसा अज़ीब मन का स्वास्थ्य था!

मुझे इस बात का अफ़सोस हुआ कि अबतक मैं उनकी इस शक्ति को पहचान न सका था। मैंने ख़याल किया कि मुझे और भी बारीक़ निगाह से बालकों का अवलोकन करना चाहिए। उनकी शक्तियों को पहचानना और उनकी क़द्र करना चाहिए। बहुधा हम रत्नों को पत्थर समझकर अपनी अयोग्यता और अगुणग्राहकता का ही परिचय देते हैं।

गि०

फोटो खिंचवाते समय

एक बार यह विचार हुआ कि बाल-मन्दिर के बालकों का फोटो लिया जाय। हमारा विचार था कि बालक जिस स्थिति में काम करते हों, उसमें ज़रा भी कृत्रिमता न लाते हुए, उसी स्थिति में फोटो लिया जाय। लेकिन फोटोग्राफर इस विषय में हमसे सहमत न हो सके।

उन्होंने कहा—

"नहीं, थोड़ी तैयारी तो करनी ही होगी।"

हमने इच्छा न रहते भी तैयारी करना स्वीकार कर लिया। हमने सोचा, इस प्रकार की तैयारी के बाद जो फोटो निकलेंगे, उनमें वस्तु के स्थायी सत्य का प्रतिबिम्ब रहेगा, किन्तु उसका उस क्षण का सत्य नहीं आ सकेगा। लेकिन यही सोचकर कि अब क्या हो सकता है, जो करना था, सो किया।

किन्तु बालकों ने एक दूसरी ही वस्तु के दर्शन कराये।

दो-चार बालकों से कहा गया—"तुम बैठे चित्र निकालते रहो तुम्हारा फ़ोटो लिया जायगा।" बालक फोटू के लिए बैठने की तैयारी करने लगे। और करते-करते इस तरह सदा के नियमानुसार शान्ति से व्यवस्था करने में लग गये कि फोटो का उन्हें कोई ख़याल ही न रहा—फोटो के लिए उनके चेहरों पर किसी प्रकार की अधीरता न दिखाई पड़ी। फिर वे चित्र बनाने बैठे। चित्र भी सदा की भाँति बनने लगे। फोटोग्राफर ने कहा—"एक, दो और तीन कहूँ, तब मेरे सामने देखना।"

लेकिन उन्हें सुनता ही कौन था? बालक तो चित्र बनाने में तल्लीन हो चुके थे।

"एक, दो और तीन!" किसीने सामने देखा, कोई चित्र ही बनाता रहा और किसीने कहा—"ज़रा ठहरिये, इतना खतम कर लूँ!"

आख़िर फोटो तो खिंच ही गये। फिर दूसरी 'पोज़' लेने के लिए बालकों से कहा गया कि चित्र बनाना बन्द करो। पर बालक क्यों बन्द करने लगे? हमने उन्हें केवल फोटू के लिए चित्र बनाने बैठाया, और वे सचमुच ही चित्र बनाने बैठ गये थे। उनके मन काम का मतलब सचमुच का काम था। ढोंग तो हमारे पास था; वे अपने काम में तल्लीन थे। हमने ख़याल किया कि इसका नाम स्वाभाविक प्रवृत्ति है। किसी वस्तु पर सच्चे प्रेम का यह स्वरूप है। स्वाभाविक और स्वयंप्रेरित प्रवृत्ति में जैसी निर्व्याजता और अकृत्रिमता होती है, सो हमने उस दिन देखी!

गि०

इसकी क्या ज़रूरत थी ?

: १ :

एक सज्जन ने मुझे देखकर अपनी दो बरस की लड़की से कहा—"अच्छा, तो इन्हें नमस्कार करो। नमस्कार करो, करो, करो, करो!" उन्होंने उस छोटी बालिका के हाथ जोड़कर उससे नमस्कार करवाया। लड़की को इससे कोई मतलब न था। मैंने सोचा—"इसकी क्या ज़रूरत थी?"

: २ :

मैं मन्दिर में दर्शन के लिए गया था। माँ ने लड़की से कहा—"जय-जय करो। बेटा, जय-जय करो।" लड़की का मन दीये देखने में लगा था। लड़की के हाथ पकड़कर माँ ने उससे जय-जय करवाया। लड़की ने झुककर जय-जय किया। माँ को इससे बड़ी खुशी हुई। मैंने सोचा—"आख़िर इसकी क्या ज़रूरत थी?"

: ३ :

मैंने बाप-बेटे को रास्ते जाते देखा। सामने से उन्हें एक मित्र मिले। बाप ने बेटे से कहा—"सलाम करो, भाई सलाम! सलाम, अरे यों सलाम!" लड़के की इच्छा तो नहीं थी, फिर भी उसने सलाम की। ढीले हाथों और उदास मुँह से सलाम की। मैंने सोचा—"इसकी क्या ज़रूरत थी?"

: ४ :

मैं एक सज्जन से मिलने गया। उनके पास उनकी लड़की बैठी थी। नन्हीं-सी सुन्दर लड़की थी। मैंने मुसकुराते हुए उसकी ओर देखा। बाप ने कहा—"सुशी, अपना वह श्लोक तो सुनाओ—वही 'मूकं करोति' वाला।" लड़की मेरी छड़ी से खेल रही थी। बाप ने फिर कहा—"कहो बिटिया, ज़रा जल्दी से कह दो। फिर तुम ये गोलियाँ खाओगी न?" लड़की ने श्लोक सुना दिया। मैंने सोचा—"इसकी क्या ज़रूरत थी?"

: ५ :

मैं एक वैद्य के घर दवा लेने गया। वैद्य ने अपने लड़के की प्रशंसा करते हुए कहा—"इस उमर में भी यह सब तरह की औषधियों को पहचान लेता है!" वैद्य ने लड़के की ओर देखकर कहा—"भैया, ज़रा वह कुनैन की शीशी तो ला दो।" बालक कुत्ते के साथ खेल रहा था। वैद्य ने फिर कहा—"अरे, लाते हो न? देखो यह सज्जन कहेंगे, तुम्हें दवाइयों की कोई पहचान नहीं। लेकिन तुम तो सब दवाइयाँ पहचानते हो न?" लड़के ने कुनैन के बदले सोडे की शीशी लाकर दी। बाप ने कहा—"क्या यह कुनैन है? देखो तो, जल्दी में तुम भूल तो नहीं गये?" अबकी लड़का कुनैन ले आया। बापने कहा—"शाबास, बहुत ठीक लाये, बहुत ठीक!" मैंने सोचा—"लेकिन इसकी ज़रूरत क्या थी?"

: ६ :

उस दिन मैं बाबू रामचन्द्र के घर चला गया। रामचन्द्र ने लड़के को बुलाकर परिचय कराया और कहा—"मुन्ने, अपना वह नया गीत तो ज़रा इन्हें सुना दो!" मुन्ने की इच्छा गाने की न थी। वह चुपचाप खड़ा रहा। बाबू रामचंद्र ने कहा—"अरे गाओ न? यह तो तुम्हारे चाचा हैं। इनसे शरमाना क्या?" मैंने कहा—"रहने भी दो। उसे खेलने क्यों नहीं देते?" रामचंद्र—"नहीं जी, वह तो अभी गायेगा। अच्छा गाता है।" लड़के ने फिर भी न गाया। बाबू रामचंद्र

बोले—" क्यों गाते हो या नहीं ? तुम्हें हो क्या गया ? तुम मेरा कहना न सुनोगे ? " मैंने कहा—"बाबू साहब, रहने भी दीजिये; बालक हैं अभी ।" बाबू साहब को क्रोध आ गया। तड्-तड्-तड् बालक को दो-तीन चपतें जमा दीं। " कम्बख्त, कहना नहीं सुनता ? " लड़के ने गाने के बदले रोना शुरू कर दिया। मैंने सोचा—" आख़ीर इस सबकी ज़रूरत क्या थी ? "

: ७ :

एक बार एक अच्छे सभ्य परिवार से मेरा परिचय हो गया। मैं बैठा घर के बड़ों से बातचीत कर रहा था कि इतने में घर के दो चार बालक वहीं आ पहुँचे। उनके कपड़ों की झोली फूलों से भरी थी। माँ की इच्छा हुई कि बालक कुछ फूल मुझे भी दें। उन्होंने कहा—" बेटा, कुछ फूल अपने इन मेहमान को न दोगे ? " बालक ने कहा—" अम्माजी, ये फूल तो हार बनाने के लिये हैं। मैं इनका एक हार बनाऊँगा। " माँ ने कहा—" लेकिन भैया, मेहमान को कुछ तो फूल देने चाहिए। यों इनकार नहीं किया करते हैं। बाबूजी ने भला तुम्हें क्या सिखाया है ? दे दो। बोलो, पहले कौन देगा, यशोदा या विनायक ?" विनायक दौड़ा और उसने यशोदा से पहले फूल दे दिये। मैंने सोचा—" इसकी क्या ज़रूरत थी ? "

: ८ :

बारिश के दिन थे। मैं मुन्ने को लेकर घर से हवा खाने निकला था। रास्ते में एकाएक बारिश आ गई और हम भींग गये। पास ही में एक मित्र का घर था। हम वहीं गये। बच्चे को भीं कपड़े पहने देखकर सविताबहन ने सोचा कि उसे बबुआ का कुर्त्ता और चड्डी दे दें। उन्होंने सन्दू खोली और कपड़े निकाले। इतने में बबुआ भी वहाँ आ पहुँचा। अपने कपड़े देखकर वह बोला—

" माँ, ये तो मेरे कपड़े हैं। मैं पहनूँगा। "

" तुम तो इन्हें पहन चुके हो। "

" नहीं, ये मेरे हैं। मैं पहनूँगा। "

" तुम्हारे पास तो बहुतसे कपड़े हैं। "

" नहीं, ये मेरे हैं। मैं इन्हें लूँगा। "

" वाह, यह कैसे हो सकता है ? यह तो बड़ी बुरी बात है। ये कपड़े तो मुन्ने के लिए हैं। मैं इन्हें मुन्ने को दे दूँ न ? "

" नहीं, मुन्ने को नहीं, मुझे ! "

माँ ने नाराज़ होकर नौकर को आवाज़ दी और कहा—" ज़रा इसे बाहर ले जाओ ! " बबुआ रोता हुआ बाहर चला गया। मैंने सोचा—" लेकिन इसकी ज़रूरत ही क्या थी ? "

गि

तुम क्या जानो ?

" बच्चों की परवरिश में तुम क्या जानो ? सच्चा अनुभव तो मुझे है। "

" अच्छा ? तो भला कहिये, कितने बच्चे पालें हैं, आपने ? "

" कितने ? कितने क्या; एक, दो नहीं; नौ-नौ बच्चे पाले हैं मैंने, समझीं ? "

" और उनमें से जीये कितने हैं ? "

" जीये ? जीये दो और कितने, जानतीं नहीं ? "

गि

डर

एक बार मेरे घर की अमराई पर एक चूहा बोल रहा था। चूहे की चूँ, चूँ, को रोकने के लिए मैं एक खिड़की के पास गया और ज़ोरों से खिड़की को भड़भड़ाया। फिर चूहे को डराने के लिए 'हिश्' 'हिश्' करके इस तरह सीटी बजाने लगा मानों चूहे का मुक़ाबिला करना हो! हाथ में मेरे, दो बरस की टीकू थी। पहले कभी चूहे की चूँ, चूँ से वह डरती न थी; किन्तु इस बार चूहे को हँकालते समय की मेरी चर्या, और खिड़की की भड़भड़ाहट और गुस्से में भरकर मेरा सीटी बजाना वग़ैरा देखकर उसे ऐसा मालूम हुआ मानों मैं किसी भय का सामना कर रहा हूँ, और उस दिन वह बुरी तरह डर गई! पहले जिससे वह नहीं डरती थी, अब उसी का डर उसके मन में बैठ गया। उसके चेहरे पर भय के चिह्न दिखाई देने लगे। किन्तु उस समय उसकी तरफ़ मेरा ध्यान इतना अधिक नहीं गया। कुछ देर बाद मैंने देखा कि टीकू आँख बन्द करके औंधे मुँह धुले हुए कपड़ों पर ऐसे सोई हुई है, जैसे लोग भय के अवसर पर आँखें मीच कर अकसर इस विचार से सोये रहते हैं कि जो कुछ होना होगा, होता रहेगा। जाँच करने से तुरन्त ही मालूम हुआ कि वह चूहे से डर रही है। भय के कारण वह इस प्रकार खुले में भी आँखें मूँद कर छिपी हुई थी। मैं अपनी भूल समझा। मैं फिर उसे खिड़की के पास ले गया। उसका डर मिटाने के लिए मैंने कहा—" अरे, वह तो चूहा था, मैं उसीको हँकाल रहा था। " लेकिन उसका डर न मिटा। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, चूहे को हँकालने की मेरी रीति से वह डर गई थी, और तब से जब कभी उसे याद आ जाती, और वह दीवार के सामने देखती, तभी 'चूहा!' कह कर भय से काँप उठती। पालने में लेटे-लेटे भी दीवार को देखकर वह बेचैन हो जाया करती। चारपाई पर लेटते समय भी चूहे के डर से वह मुझसे चिपट कर लेटती और आँखें खुली रखकर चुपचाप, बिना हिलेडुले पड़ी रहती। आख़िर मैंने उसे यह विश्वास दिलाया कि चूहा भाग चुका है, मैंने उसे निकाल बाहर किया है, अब वह नहीं है, क्योंकि चूँ-चूँ की आवाज़ बिलकुल बन्द हो गई है। तब कहीं बहुत धीरे-धीरे वह चूहे से डरना भूली और फिर निडर बनी।

इस प्रकार प्रायः बिना कारण जहाँ डरने की बिलकुल ज़रूरत नहीं होती, वहाँ भी बालक सिर्फ़ इसलिए डरना सीख जाता है कि हम अपने व्यवहार से उसे डरा देते हैं। घर में कुत्ते या बिल्ली के घुसते ही अगर अम्मा या भैया हाथ में डण्डा लिये निधड़क उसे जाकर हँकाल देते हैं, तब तो बालक भी उसी प्रकार निडर होकर उन्हें हँकालना सीख जाते हैं। लेकिन यदि अम्मा या भैया उन्हें देख कर 'अरे, बापरे' कह उठें और डरकर भाग जायँ, तो बालक भी उनसे डरना ही सीखेगा। बड़ों को अँधेरे में अकचकाते देखकर या 'मैया रे, डर लगता है,' कहते सुनकर या मारे डर के भागते देख कर बालक भी डरना सीखता है। जब बड़े-बूढ़े भयावनी सूरत से और भयभीत आवाज़ से किसी राक्षस या भूत या प्रेत की या किसी और की कोई भी बात डरते-डरते कहते हैं, तो बालक भी उन्हें देखकर वैसी बातों से डरना सीख जाता है।

बालक के लिए भय स्वाभाविक है। अपनी

पराधीनता और नासमझी के कारण ही वह डरपोक बनता है। इनका प्रतिकार करने के बदले जब हम स्वयं ही बिना कारण डरने लगते हैं, तो हमें डरते देखकर बालक में भी डर का प्रवेश हो जाता है। इस तरह हम बालक को बड़ी हानि पहुँचाते हैं। बिच्छू के निकलने पर 'अरे बापरे!' कहकर भागने और थर-थर काँपने के बदले यदि हम उसे तुरन्त ही सावधानी के साथ सँड़ासी से पकड़कर फेंक दें, तो बालक सहज ही समझ जायगा कि इसमें डरने-जैसी कोई बात नहीं है। सिर्फ़ थोड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता है। सिंह, बाघ या साँप-जैसे प्राणी कि जिनसे डरने की ज़रूरत है, यदि हम बालकों को उनका भी हिम्मत के साथ सावधानी और निडरता-पूर्वक सामना करने की युक्ति बता सकें और अवसर आने पर होशियारी के साथ स्वयं निडर बनकर उन्हें दिखा सकें, तो वास्तविक भय के अवसर पर भी बालक बिना डरे अपनी रक्षा सीख जायँगे। अगर बालक से किसी कथा-कहानी के सिलसिले में यह कहा जाय कि ताक़त होने पर राक्षस से भी लड़ा जा सकता है, और लड़कर उसे मारा जा सकता है, तो वह राक्षस के डर से भी मुक्त हो सकता है। सारांश, जिन अवसरों पर वास्तव में डर-जैसी कोई बात नहीं होती, उन अवसरों पर भी, महज़ हमारे भयाकुल व्यवहार से बालक प्रायः डरने लग जाता है। हमें चाहिए कि हम ऐसा न होने दें और इस सम्बन्ध में सदा जागरूक रहें। इसी प्रकार आत्म-संरक्षण के विचार से जहाँ-जहाँ सावधान रहने की आवश्यकता है, वहाँ भी यदि हम बालकों को निडरता-पूर्वक सावधान रहना सिखा दें, तो मौक़ा पड़ने पर डरकर भाग जाने के बदले या भयभीत होकर गिर पड़ने के बदले बालक भय से अपनी रक्षा आप ही कर सकेगा।

गि०

'कौआ ले गया'!

उन दिनों रमा बहुत छोटी थी। जब उसकी माँ को उससे कोई चीज़ लेनी होती, वह ले लेती और कहती—"कौआ ले गया! कौआ ले गया!"

धीरे-धीरे रमा ने अनुभव से 'कौआ ले गया!' का अर्थ ढूँढ़ निकाला।

अब रमा चार बरस की है और कमला दो बरस की। जब रमा कमला से कुछ ले लेना चाहती है, तो ले लेती है और कहती है—"कौआ ले गया! कौआ ले गया!"

धीरे-धीरे कमला ने भी 'कौआ ले गया!' का मतलब मालूम कर लिया।

कल की बात है। घर में कहीं आलू पड़े थे। कमला ने उनमें से बहुत से आलू अपने फ्रॉक की जेब में भर लिये और उन्हें इस तरह ढँक लिया कि कोई देख न सके। फिर वह सब के सामने देखकर कहने लगी—"कौआ ले गया! कौआ ले गया!"

मालूम होता है, न रमा को उसकी माँ धोखा दे सकी, न रमा कमला को धोखे में रख सकी। दोनों समझ गईं कि 'कौआ ले गया!' का अर्थ है, छिपा दिया।

छिपा देने की यह रीति ज़रा मनोरंजक तो है।

गि०

ॐ......ॐ......ॐ

: १ :

ॐ.....ॐ.....ॐ

क्या हुआ ?

गिर पड़ी।

कहाँ से ?

झूले पर से।

तो फिर ?

लग गई।

ख़ैर, चलो फिर झूलोगी ?

हाँ।

तो चलो।

एक बड़ा-सा झूला दो।

: २ :

ॐ.....ॐ.....ॐ

क्या हुआ ?

चाकू लग गया।

कैसे ?

साग काट रहा था।

कम्बख्त, किसने कहा था, तुझे ?

ॐ.....ॐ..... ॐ

रोता क्यों है ? एक तो हाथ काट लिया और ऊपर से रोता है ! शरम नहीं आती ? रख दे चाकू ! ख़बरदार, फिर कभी हाथ लगाया तो ?

: ३ :

ॐ.....ॐ.....ॐ

रोता हुआ क्यों आया ?

रञ्जन ने मुझे मार दिया।

होगा। रोओ नहीं। खेल में कभी लग भी जाती है !

: ४ :

ॐ.....ॐ.....ॐ

रो क्यों रहा है ?

बच्चन ने मुझे गिरा दिया।

तो तैंने उसे क्यों नहीं गिराया, नामर्द कहीं के ?

गि०

'बस, बस; रहने दे, तू क्या पढ़ेगा ?'

बालक एक बड़ी किताब में से क, प, ड, च आदि अक्षरों को पहचान-पहचान कर पढ़ रहा था। आजकल वह वर्णमाला सीख रहा है, इसलिए नये-नये अक्षर सीखने का उसे बड़ा शौक है। किताब बड़ी हो या छोटी, उसे तो ढूँढ़-ढूँढ़ कर उसमें से अपने जाने हुए अक्षर पढ़ने थे, और वह बराबर पढ़ रहा था।

बालक ने कहा—"बाबूजी, देखिये मैं पढ़ रहा हूँ !"

बग़ैर इसकी पर्वा किये कि बालक क्या पढ़ रहा है, बाबूजी एकदम उबल पड़े। बोले—"बस, बस; रहने दे ! तू क्या पढ़ेगा ? एक बड़ा-सा पोथा सामने लेकर बैठा है, और कहता है, 'मैं पढ़ रहा हूँ'। जा, अपनी प्राइमर पढ़ !"

* * *

बालक अपने बाबूजी से कहता है—"बाबूजी,

ज़रा चलिये तो, वह छिपकली उन पतिंगों को खा रही है, चलिये, चलिये एक अनोखी बात है।"

बाबूजी के लिए तो इसमें कोई अनोखापन था नहीं। किन्तु बालक के लिए तो यह एक बिलकुल नया अनुभव था। वह अपने बाबूजी के साथ इस नये आनन्द का रसपान किया चाहता था। और बाबूजी के लिए यह एक 'जगजूनी' बात थी।

बाबूजी ने कहा—"ले, अब इसमें कौन देखने की बात थी ? छिपकली तो पतिंगों को खाती ही है। आया है, बड़ी अनोखी बात दिखाने ! चल हट, जा अपना सबक़ याद कर !"

इस तरह हम प्रायः बालकों को दुत्कारते दिया करते हैं। बग़ैर उनकी बात को समझे उन पर बरस पड़ते हैं। उन्हें बुरा-भला कहते हैं। उनका अपमान करते हैं। उनके साथ सहानुभूति का व्यवहार नहीं रखते। और इस प्रकार अपने और उनके बीच में एक प्रकार की ग़लतफ़हमी और एक दीवार-सी खड़ी कर लेते हैं। थोड़ा समय निकाल कर, थोड़ा बालक के दृष्टिकोण से उसकी चीज़ों को देखकर उसके आनन्द के साथी बन जाने से, उसके साथ सहानुभूति का व्यवहार करने से, बालक की आत्मा को हम अधिक सुखी, अपने अधिक निकट और फलतः अधिक अपनी बना सकते हैं ! हमें बनाना चाहिए। गि०

बालकों का उलाहना

बालकों के विषय में अतिशय चिन्ता रखनेवाली एक माता ने मुझसे पूछा—"आपके इन नये विचारों का अनुसरण करके हम बालकों को नई पाठशालाओं में भेज तो रहे हैं, किन्तु कहीं ऐसा न हो कि बड़े होने पर स्वयं बालक ही हमें यह उलाहना दें कि 'आप लोगों ने हमें पढ़ाया नहीं, खेलाया नहीं; हमारे सब साथी पढ़-लिखकर हमसे आगे बढ़ गये और हम अनपढ़ रहकर पिछड़ गये। आपने हमारा भविष्य बिगाड़ डाला।' हो सकता है कि ऐसे स्पष्ट शब्दों में शायद वे अपनी बात न रख सकें और फिर भी इस तरह के विचार उनके मन में आते हों और वे अन्दर ही अन्दर निराशा का अनुभव करते हों ! तो अब यही सवाल फिर-फिर खड़ा होता है कि अगर ऐसा है, तो वह कहाँ तक ठीक है ?

आज यहाँ इसी प्रश्न का थोड़े विस्तार से विचार करने का इरादा है।

संसार के आरम्भ ही से माता-पिता अनेक प्रकार से बालकों को कुछ न कुछ हानि पहुँचाते ही रहे हैं; उनकी शारीरिक और मानसिक सार-सम्हाल करते हुए उनके हाथों भयंकर और अक्षम्य-सी भूलें होती रही हैं। फिर भी इसके लिए कभी बालकों ने उन्हें उलाहना नहीं दिया है। और अगर किसी बालक ने माता-पिता के विरुद्ध कुछ कहने की हिम्मत की है, तो वह सदा ही कृतघ्न समझा गया है। और इसका कारण तो यही है कि माता-पिता जब कभी भी बालक के लिए कोई काम करते हैं, तो दिल में उसका अधिक से अधिक हित करने की बुद्धि से और उसके प्रति के अपने अत्यन्त प्रेम के कारण ही करते हैं। इस प्रकार जब माता-पिता

अपनी मति के अनुसार शुद्ध भाव से बालक का अधिक-से अधिक हित करने की चेष्टा करते हैं, तो फिर वे बालकों की ओर से किसी भी प्रकार के उलाहने के अधिकारी नहीं रह जाते। तिस पर भी यदि कोई बालक उलाहना देते हैं, तो यह उनकी नासमझी है। उन्हें इस तरह उलाहना देना शोभा नहीं देता।

इसका यह आशय नहीं, कि माता-पिता कभी उलाहने के लायक कोई काम ही नहीं करते। कभी-कभी उनसे ऐसे काम हो जाते हैं। ऐसे भी माता-पिता हैं, जो इस दिशा में अपनी शक्ति भर पूरा प्रयत्न नहीं करते। वे बालकों के हित से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का समुचित ज्ञान प्राप्त नहीं करते; उनके शरीर और मन को स्वस्थ रखने की कोई विधि वे नहीं जानते। और इस प्रकार वे अपने बालकों का अहित होने देते हैं। ऐसे माता-पिताओं को यदि बालक उलाहना दें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। उन्हें तो ऐसे उलाहने सह लेने चाहिएँ। अठारह वर्ष का कोई होनहार नव-युवा क्षय का शिकार बनकर मृत्युशय्या पर पड़ा हो, और कहता हो कि 'मेरे माता-पिता ने मुझे गन्दी और अँधेरी चटसाल में पढ़ने भेजकर मेरी ज़िन्दगी बरबाद कर दी, और कभी इसका ख़याल तक नहीं किया कि वहाँ मुझे काफ़ी हवा, काफ़ी उजेला और शुद्ध, साफ़ और ताज़ा पानी मिलता है या नहीं।' तो उसका वह उलाहना ठीक ही कहा जायगा। और यदि पेट की पीड़ा से व्याकुल कोई नौजवान यह कहता हो कि 'मेरे माता-पिता मुझे बाज़ार की गन्दी मिठाइयाँ खिलाते रहे, और कभी इसका ख़याल भी नहीं रक्खा कि उन पर कितनी तो मक्खियाँ बैठ चुकी थीं कितनी धूल पड़ चुकी थी, और हलवाई उन्हें कैसे गन्दे ढंग से बनाता था।' तो कहना होगा कि उसका वह उलाहना उचित है।

ऐसे एक नहीं अनेक प्रकारों से, समुचित ज्ञान के अभाव में, माता-पिता बालकों को अक्षम्य हानि पहुँचाते हैं और उनकी निन्दा के पात्र ठहरते हैं।

पढ़ाई के बारे में भी प्रायः ऐसा ही हुआ करता है। कोई होनहार चित्रकार गणित के बोझ से दबकर निष्प्राण बन जाता है, तो कोई प्रकाण्ड गणितज्ञ इतिहास-भूगोल की चक्की में पिसकर बेदम हो जाता है। अनेक होनहार शिल्पी और कारीगर, वैज्ञानिक और कलाकार जब एक ही लाठी से एक साथ हाँके जाते हैं, तो सबके साथ चलने के ख़ातिर बचपन ही में मुरझा जाते हैं। अगर ऐसे लोग उलाहना देते हैं, तो क्या बुरा करते हैं?

लेकिन इन माता का प्रश्न तो कुछ और ही है। उनके प्रश्न की भाषा से यह तो साफ़ है कि वह नये विचारों की अनुगामिनी हैं। अपने बच्चों को नई पाठशाला में पढ़ा रही हैं। पढ़ाई की प्रचलित प्रथा का उन्होंने त्याग किया है, और इसीसे कभी-कभी मन में सशंक हो उठती हैं कि कहीं इसीके लिए बालक मुझे उलाहना तो न देंगे! उनके इस प्रश्न का कारण उनकी अश्रद्धा है। उन्होंने प्रचलित प्रथा का त्याग तो किया है, परन्तु पुरानी प्रथा के प्रवाह का वेग उन्हें अपने नये मार्ग में स्थिर नहीं बनने दे रहा है। किसी भी नये मार्ग पर आरूढ़ होनेवालों की प्रायः ऐसी ही स्थिति होती है। उनके लिए असीम आत्मश्रद्धा की आव-श्यकता है। प्रचलित लोकमत को ठुकरा कर नये मार्ग पर बढ़ने के लिए प्रचण्ड धैर्य की ज़रूरत रहती है। इन बहन से तो यही निवेदन है कि वह अपने मन से पूछें और तय करें कि उन्होंने जो मार्ग ग्रहण किया है, उसमें वह अपने बालक का

सच्चा हित समझती हैं या नहीं ? अपनी शक्तिभर बालक की सुख-सुविधा और उसके हित का वह ध्यान रखती हैं या नहीं ? जब माता-पिता का हेतु शुद्ध और हितपूर्ण होता है, तो कोई उन्हें किसी प्रकार का उलाहना दे ही नहीं सकता—देना उचित भी नहीं है । मनुष्य का ज्ञान बहुत ही परिमित है । अतएव आज जो अच्छा माना जाता है, संभव है, कल वही ग़लती समझा जाने लगे । लेकिन इसमें माता-पिता का कोई दोष नहीं । जिन दिनों बड़े-बड़े विद्वानों का भी यह ख़याल था कि बालकों की भलाई उन्हें डण्डे से पीटने में है, उन दिनों जिन माताओं ने दिल पर पत्थर रखकर अपने बालकों को पीटा है, वे निन्दा की पात्र नहीं हैं । क्योंकि माता-पिता का हेतु तो उसमें बालकों का हित ही था । किन्तु आज जब कि डण्डे के दोष और उससे होनेवाली हानियाँ ' जग-जाहिर ' हो चुकी हैं, यदि माता-पिता अज्ञानवश या गुस्से के कारण अपने बालकों पर डण्डा चला बैठते हैं, तो ज़रूर ही वे निन्दा के पात्र हैं ।

अतएव इन बहन से निवेदन है कि वे अपने आप से पूछ लें कि जो मार्ग उन्होंने ग्रहण किया है, बालक के हित की दृष्टि से उसकी श्रेष्ठता में उनकी श्रद्धा है या नहीं ? वे इस प्रश्न की हर तरह से छान-बीन कर लें—हर पहलू पर विचार कर लें। अध्ययन या मनन की आवश्यकता हो, तो वह भी कर लें, और फिर अपने पथ पर अविचल श्रद्धा के साथ डट जायँ । अवश्य ही उनके बालक उन्हें धन्यवाद देंगे और कृतज्ञता-पूर्वक कहेंगे कि हमारे माता-पिता ने हमारे लिए अपनी शक्तिभर सब कुछ किया था । अपने विचारों पर दृढ़ रहने की उनकी शक्ति ही उनके बालकों को अनन्त बल से भर देगी ।

गि०

' पाप लगता है ! '

बिटिया नाई के साथ बातें कर रही थी । एकाएक मेरा ध्यान उनकी बातचीत की ओर गया । नाई कह रहा था—" झूठ बोलने से पाप लगता है । "

बिटिया कह रही थी—" पाप लगे तो लगा करे, मैं तो झूठ बोलूँगी । "

नाई ने कहा—" नहीं ऐसा न करो, पाप लगेगा । "

बिटिया बोली—" इसमें हर्ज़ ही क्या है ? मैं तो बोलूँगी । झूठ बोलने में क्या है ? "

नाई ने कहा—" नहीं बिटिया, नहीं बोलना चाहिए, बोलने से पाप लगता है । "

बिटिया ने पूछा—" गिजुभाई ! क्या झूठ बोलने से पाप लगता है ? "

मैं जवाब देने को तैयार न हुआ । मैंने चुप रहना ही ठीक समझा ।

बिटिया ने नाई से पूछा—" क्या झूठ बोलूँगी तो मैं मर जाऊँगी ? "

नाई ने कहा—" झूठ बोलोगी, तो पाप लगेगा । "

बिटिया ने मेरी ओर देखकर कहा—" क्या झूठ बोलने से मैं मर जाऊँगी ? "

मैं कुछ न बोला ।

बिटिया ने कहा—"भला, पाप कैसे लगता है!

नाई ने कहा—"पाप लगता है, झूठ नहीं बोलना चाहिए।"

बिटिया बोली—"अच्छी बात है, तो अब एक-बार पाप लगाकर देखूँगी।"

❀ ❀ ❀

क्या हमारा यह कर्त्तव्य नहीं कि हम नाई को धर्मगुरु बनने से रोकें?

❀ ❀ ❀

दूसरे दिन मैंने बिटिया से पूछा—"तुम पाप कैसे लगाओगी?"

बिटिया ने कहा—"एक बार झूठ बोलूँगी कि पाप लग जायगा।"

गि०

घरौंदों का खेल

बारिश के दिन हैं। हरियाली चहुँ ओर छाई है। बालू का एक मैदान है। बालक उसमें खेल रहे हैं। कुछ बालक घरौंदे बना रहे हैं, कुछ पास बैठे देख रहे हैं। घरौंदे बनाते-बनाते वे दुनिया भर की बातें करते जाते हैं; कभी माँ की कोई बात छिड़ जाती है, तो कभी बाबूजी की; कभी चाचाजी की तो कभी मामा, मौसा और मौसी की। कभी मदरसे की और गुरुजी की तो कभी ब्याह-शादी और सभा-सम्मेलन की! बालक अपने काम और बातों में तल्लीन हैं, मुख पर परिश्रम और तज्जन्य आनन्द के चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। सब एक दूसरे की सहायता करते हैं। किसी को प्यास लगती है, तो दूसरा दौड़कर उसके लिए पानी ले आता है; किसीका घरौंदा खूब सुन्दर बना होता है, तो सब मिलकर उसे देखते और उसकी तारीफ़ करते हैं। घरौंदे की विविधता, उसकी सफ़ाई, उसकी मज़बूती, उसके सामने पूरी हुई 'राँगोली', उसके चहुँ ओर बनाया हुआ परकोटा, उसपर फहराता हुआ झण्डा और उसमें पधराई हुई कन्हैया की मूर्त्ति; सब कुछ बालक बार-बार झुक-झुक कर देखते हैं, और देख-देख कर खुश होते हैं। उनके हर्ष का पार नहीं है। हर्ष ही हर्ष में वे सब घरौंदे को घेरकर बैठ जाते हैं और ध्यान या प्रार्थना करने लगते हैं; अथवा कोई अच्छी मज़ेदार कहानी छेड़ देते हैं। कभी मौज हुई तो दद्दा या जीजी को बुला लेते हैं, और बड़े प्रेम से उन्हें सब कुछ दिखलाते हैं। अपने आनन्द का स्वाद उन्हें भी चखाते हैं। घण्टों बीत जाते हैं, पर उन्हें उसकी कोई पर्वा नहीं होती। वे तो खाना-पीना तक भूल जाते हैं। बाबूजी पुकारते हैं—"क्यों भाई, अब उठोगे नहीं? अब तो अँधेरा हुआ।" बालक कहते हैं—"जी हाँ, ज़रा ठहरिये, ये आये।" माँ कहती हैं—"अरी बिटिया, अब तुम आओगी नहीं? चलो खाने का वक्त हुआ!" जवाब मिलता है—"नहीं, आज मैं न खाऊँगी।"

सुन्दर घरौंदों को, मित्रों की सोहबत को, मीठी-मीठी बातों को और मन की उस विश्रान्ति को छोड़कर, कोई घर में जाना पसन्द नहीं करता—किसी का जी नहीं होता!

लेकिन रात पड़ने लगती है, और अँधेरा छा जाता है। आँखों में हँसती हुई बिजली लिये, सब एक-दूसरे से मिलते और बिदा हो जाते हैं। आनन्द से सराबोर दिल और दिल की वे मीठी बातें किससे कही जायँ? कोई माँ के पास बैठकर अपनी

तोतली बोली में माँ को अपना ' घरौंदा-पुराण ' सुनाने लगता है, तो कोई बाबूजी से कहता है— " कल ज़रूर आइयेगा, मैं आपको अपना घरौंदा दिखाऊँगा । " कोई घर जाकर घरौंदे की खुशी में गाने लगता है, तो कोई माँ के पास बैठकर बरतन मलने लगता है, और कोई बाबूजी को पानी पिलाता है । और कोई-कोई तो आनन्द ही आनन्द में बिना कुछ खाये-पीये यों ही सो जाता है !

गि०

पतुभा

पतुभा तीन बरस के और ललिताबहन पाँच बरस की ।

न जाने क्यों ललिताबहन एकाएक रोने लगीं । पतुभा ने ललिताबहन को रोते देखा । गट्टों का खेल खेलना छोड़कर पतुभा उठ खड़े हुए और ललिता-बहन के पास पहुँचे ।

" ललिटाबेन, टुम र्च्यों लोटी हो ? "

ललिताबहन चुप रहीं ।

पतुभा दुखी हुए ।

ललिताबहन और पतुभा दोनों बाल-मन्दिर में साथ-साथ खेला करते ।

पतुभा उठकर कहीं गये । जब लौटे तो उनके हाथ में एक फूल था ।

" ललिटाबेन, लो ये फूल, बला सुन्दल है, भलाँ ? "

ललिताबहन फिर भी चुप न रहीं ।

मैं बैठा देख रहा था; मैंने सोचा, चलूँ और देखूँ, पतुभा ललिताबहन को किस तरह समझाते हैं !

पतुभा एक बटन ले आये ।

"देखो, ललिटाबेन, ये बटन कैछा सुन्दल है ?"

ललिताबहन फिर भी चुप न रहीं ।

अब पतुभा क्या करेंगे ?

पतुभा ने एक छोटा रंग-बिरंगा कंकर कहीं से ढूँढ़ लिया और भर्राई हुई आवाज़ से बोले—

" ललिटाबेन, लो अब लोओ मत । लो ये कंकल लो, बला अच्छा है । "

ललिताबहन कुछ पिघलीं । रोते-रोते नेक हँसीं । पतुभा भी हँसे । मैं भी मन ही मन हँसा ।

दोनों उठे और बातें करते हुए चले गये ।

मैंने कहा—" देखो, इन बच्चों को ! कैसी अनूठी इनकी ममता है । साथ रह-रहकर ये कितने स्नेही बन गये हैं ! "

यदि इन्हें बाल-मन्दिर में साथ-साथ खेलने का अवसर न मिलता तो ?

और ' गट्टा-पेटी ' को ही सारी पढ़ाई का मूल माना जाता तो ?

अगर मैंने पतुभा से कहा होता—" तुम क्यों अपना काम छोड़कर इधर-उधर भटकते हो ? जाओ, अपना काम करो ! "

और ललिताबहन को धमकाया होता—"यहाँ रोने नहीं आई हो । रोना हो, तो घर जाओ ? "

तो क्या ललिताबहन के लिए पतुभा इतनी सब मेहनत उठाते ? उन्हें रोते देख पतुभा को दुःख होता ? उन्हें हँसाने का वह प्रयत्न करते और उन्हें हँसाकर वह खुश होते ?

गि०

हमारा बाल-साहित्य

नई शैली में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लिखा हुआ सुन्दर, सस्ता, सादा, मनोरंजक और ज्ञान-वर्धक साहित्य ।

हरिश्चन्द्र—लेखक–आचार्य गिजुभाई; मूल्य –)॥

स्वदेशी की प्रतिज्ञा—लेखक–आचार्य गिजुभाई; मूल्य –)॥

भय का भेद—(बाल-नाटक) ले०–ए० एस० नील; मूल्य –)॥

शरारती सॉके—ब्रह्मदेश की एक लोक-कथा, जिसे पढ़ते समय बच्चे हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। लेखक–श्री० रमेश; मूल्य =)॥

प्रह्लाद—(बाल-नाटक) ले०–श्री० जुगतराम दवे; मूल्य ।)

भले रहो ! चंगे रहो !—ले०–काशिनाथ त्रिवेदी; मूल्य =)

बच्चों की कहानियाँ—ले०–काशिनाथ त्रिवेदी; मूल्य ।)

बलिदान की कहानियाँ—ले०–काशिनाथ त्रिवेदी; मूल्य ।)

आज ही एक सेट् मँगाकर हमारे इस दावे की परीक्षा कीजिये !

हमारा प्रौढ़-साहित्य

माता-पिताओं, अभिभावकों और शिक्षकों के लिए हिन्दी में आज तक इन पुस्तकों के टक्कर की कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई है। जिस घर में, जिस पाठशाला में और जिस पुस्तकालय में ये पुस्तकें नहीं हैं, हमारे, विचार में वह घर, वह पाठशाला और वह पुस्तकालय अपूर्ण है।

विद्यार्थी और शिक्षक—नवीन शिक्षा-सम्बन्धी कुछ चुने हुए निबंधों का अनूठा संग्रह; मूल्य ॥)

दिवास्वप्न—प्राथमिक शाला में नवीन शिक्षा के सफल प्रयोगों की एक अनूठी और अपूर्व कहानी—लेखक–आचार्य गिजुभाई; मूल्य सजिल्द १), अजिल्द ॥।)

प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा—ले०–आचार्य गिजुभाई; मूल्य ॥)

वे मौत से खेले थे !—बातों ही बातों में बालकों को विज्ञान, भूगोल और साहस के पाठ पढानेवाली एक अपूर्व मनोवैज्ञानिक कहानी—लेखक–श्री०ए०एस० नील; मूल्य १)

उनकी शिक्षा का प्रश्न—लेखक–आचार्य गिजुभाई; मूल्य)॥

बाल-प्रेम—लेखक–श्री० ताराबहन; मूल्य –)

व्यवस्थापक,
हिन्दी-शिक्षण-पत्रिका-कार्यालय,
६७ चन्द्रभागा, जूनी इन्दौर,
सी० आई०

Regd. No. N. 571

यह कहने की कदाचित् ही कोई आवश्यकता है कि अनुशासन और मूक आज्ञापालन दोनों एक नहीं है। कुछ निर्दिष्ट यांत्रिक नियमों के पालन से अनुशासन की रक्षा नहीं होती। अनुशासन का उदय प्रेम में से होना चाहिए; यही नहीं, उसका पोषण भी सदा के लिए प्रेम द्वारा ही होना चाहिए, जिससे विद्यार्थी स्वेच्छा-पूर्वक आत्मसंयम सीख सके।

—आचार्य ध्रुव

मुद्रकः—दि० रा० एकतारे, बी० ए०, मध्यवर्ती सहकारी मुद्रणालय, इन्दौर।
प्रकाशकः—काशिनाथ त्रिवेदी, शिक्षण-पत्रिका कार्यालय, ६७, चन्द्रभागा, जूनी इन्दौर, इन्दौर सिटी

[माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक-पत्र]

वर्ष तीसरा) अगस्त, १९३६ (अंक तीसरा

प्रधान सम्पादक
गिजुभाई और ताराबहन

सम्पादक
काशिनाथ त्रिवेदी

हिन्दी शिक्षण-पत्रिका !

गुरुजनों के आशीर्वाद

[१] दौलतपुर (रायबरेली)
२२-७-३६

" सम्मति

हिन्दी शिक्षण-पत्रिका बड़े महत्त्व की सामयिक पत्रिका है। थोड़े दाम, सिर्फ़ एक रुपया साल, लेकर बड़ा काम देती है। उसमें माता-पिताओं और शिक्षकों को ही नहीं, बच्चों और बड़ों को भी सदुपदेश देने की प्रचुर सामग्री रहती है। हिन्दी के प्रत्येक विद्यालय में उसकी पहुँच होनी चाहिए।

—(आचार्य) महावीरप्रसाद द्विवेदी "

[२] चिरगाँव (झाँसी)
१८-७-३६

" शिक्षण-पत्रिका तो हम लोगों को बहुत ही रुचिकर प्रतीत होती है। पत्रिका का उद्देश्य बहुत श्लाघ्य और अभिनंदनीय है। अपने जोड़ की यह एक ही है। मैं बराबर इसकी चर्चा अपने मित्रों में करता हूँ। प्रत्येक गृहस्थ परिवार के यहाँ यह पहुँचनी चाहिए। इस पत्रिका की ग्राहक-संख्या देख कर इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि हममें सुरुचि का प्रसार कहाँ तक हो सका है। कम से कम इस पत्रिका का प्रचार बीस-पचीस हज़ार तो होना ही चाहिए।

भैया (कविवर मैथिलीशरणजी गुप्त) को भी 'शिक्षण-पत्रिका' बहुत पसन्द है। आपने ऐसी सुन्दर पत्रिका का आयोजन किया है, इसके लिए हिन्दी भाषा-भाषियों को आपका कृतज्ञ होना चाहिए।

— सियारामशरण गुप्त "

इन्दौर, जोधपुर, बड़वानी आदि राज्यों के शिक्षा-विभागों द्वारा स्वीकृत।

हिन्दी शिक्षण-पत्रिका

(माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक-पत्र)

वर्ष तीसरा | अंक तीसरा

अगस्त, १९३६ | श्रावण, १९९३

देश में, एक रुपया : वार्षिक मूल्य : विदेश में, दो शिलिंग

खाली बातों से क्या हो सकता है ? बात के साथ काम ज़रूरी है। हाथ-पैर हिलाकर उद्योग करना चाहिए। लेकिन अकेला उद्योग भी किस काम का ? काम, काम और काम हमें कहाँ तक ले जा सकेगा ? तब क्या किया जाय ? काम के साथ विचार की ज़रूरत है। सदसद् विवेक बुद्धि की ज़रूरत है। यह कार्य करने योग्य है या नहीं; यह कार्य हितकारक है या हानिकारक; इसके विचार की आवश्यकता है। किन्तु क्या अकेली यह विवेक-बुद्धि टिक सकेगी ? इस बुद्धि की निर्मलता का स्रोत क्या होगा ? इसका बल, इसका सच्चा उपयोग, मनुष्य मनुष्य के प्रति के प्रेम में से पैदा होगा; जब मनुष्य मनुष्य के दुःख देखकर दुखी होगा, उसके सुख में उसके साथ हँसेगा, उसकी निर्बलताओं पर अपनी करुणा की छाया करेगा, तभी विवेक उसका जीवित-जाग्रत बनेगा। तभी उसमें सच्चा कर्त्तव्य जन्मेगा। तभी बातें भूलकर वह काम करेगा। लेकिन इन सब के पीछे भी किसी और वस्तु की आवश्यकता रहेगी। हाँ, प्रभुकृपा की आवश्यकता होगी। परम दयालु परमात्मा की दया-दृष्टि की, उसके आशीर्वाद की आवश्यकता होगी।

क्या हम बोलना जानते हैं ?

हम बोल लेते हैं, इसलिए बोलते हैं। सुननेवाले को समझ लेना पड़ता है, इसलिए वह समझ लेता है। लेकिन सवाल तो यह है कि क्या सचमुच हम बोलना जानते हैं ?

आपने जल्दी-जल्दी गड़-बड़-गड़-बड़ बातें करते किसी सेठ को सुना है ? आपको उसकी बातें पसन्द नहीं होतीं, फिर भी आप उन्हें समझ लेते हैं। लेकिन आपके मन पर उसकी क्रिया-शक्ति का कुछ भी असर नहीं पड़ता।

आपने पंजाब मेल की चाल से बोलनेवाले किसी व्याख्याता का कोई भाषण सुना है ? आपको उसमें कोई मज़ा नहीं आता, फिर भी शायद इस ख़याल से कि व्याख्यान का विषय उपयोगी है, या सभ्यता का तकाज़ा है कि व्याख्यान के बीच से उठकर जाना न चाहिए, आप बैठे व्याख्यान सुन रहे हैं ! आपके मन पर उनके विचारों का पूरा प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता; फलतः उनकी वे अरधी-परधी बातें बेकार-सी हो जाती हैं। वह जो भाव आपके अन्दर जगाना चाहते हैं, जगा नहीं पाते।

ऐसे और भी अनेक उदाहरण आपके ख़याल में होंगे। सेठ और व्याख्याता की तरह ही हम माता-पिता और शिक्षक भी जिस बेतुके ढंग से बातचीत करते हैं, बालकों पर उसका क्या असर पड़ता है, इसका कभी किसीने विचार किया है ?

अगर आपको इसका भेद जानना है, तो आप वहाँ जाकर खड़े हो जाइये, जहाँ कोई सुसंस्कृत माता-पिता अपने बालकों से बातचीत करते बैठे हों। ये माता-पिता इतनी स्पष्टता से, मिठास से, धीरज से, धीमे से और शब्दों को चुन-चुनकर ऐसे ढंग से बोलते हैं कि बालक उनके दिल की बात भली-भाँति समझ सकें। बालकों के साथ बातचीत करते समय वे हमेशा ख़याल रखते हैं कि वे किनके साथ बातें कर रहे हैं। वे समझते हैं कि बालक अभी कुछ ही समय पहले मेहमान की तरह इस दुनिया में आये हैं। जिस प्रकार अच्छे यजमान घर की सारी व्यवस्था को स्वयं ही समझ लेने का काम अपने मेहमान पर नहीं छोड़ते, अच्छे माता-पिता भी ठीक वैसा ही करते हैं। नवागत की कठिनाइयों को समझकर, नई भाषा सीखनेवाले की मुश्किलों को ध्यान में रखकर, वे बड़ी सावधानी के साथ बातचीत करते हैं। बालक उनकी सब बातें ठीक-से समझ सकते हैं; जिससे माँ-बाप और बच्चों के बीच में किसी प्रकार की ग़लतफ़हमी नहीं पैदा होती ! क्योंकि हमारा यह अनुभव है कि प्रायः भाषा न समझ सकने के कारण बहुतेरी ग़लतफ़हमियाँ पैदा हो जाती हैं।

ठीक इसका उलटा अनुभव आपको उन बच्चों और माँ-बापों के बीच होगा, जो बिना समझे-बूझे भाषा का उपयोग करते हैं। और यह तो आपके रात-दिन के अनुभव की बात है, इसलिए इसपर कुछ अधिक लिखना बेकार ही है।

अब कल्पना कीजिये कि आप भविष्य की किसी पाठशाला में बैठे हैं। इस पाठशाला के शिक्षक ऐसे ढंग से बोलते हैं कि उनकी स्थिर, गंभीर और निर्मल वाणी जब शान्त, शुद्ध और धीमे स्वर से तालबद्ध होकर बालक के कानों तक पहुँचती है, तो बालक अपने आप उसे सुनने को ललचा जाता है—वह तत्काल अभिमुख हो जाता है। इस रीति से बालक थोड़े श्रम से शिक्षक की

सब बातें समझ लेता है। जो बात कही जाती है, वह प्यार से कही जाने के कारण प्रिय लगती है, और उसमें वह शक्ति प्रत्यक्ष दिखाई देती है, जो प्राणों को जगानेवाली, बालकों में प्राण फूँकनेवाली है।

बालक माता-पिता का मुँह बहुत कम चिढ़ाते हैं; कदाचित् ही कभी उनकी नक़ल करते हैं। क्योंकि उन्हें कहीं से यह प्रेरणा-सी मिल जाती है कि माता-पिता की नक़ल करना ठीक नहीं। तिस पर भी यदि कभी माता-पिता उन्हें अपना मुँह चिढ़ाते देख लेते हैं, तो स्वयं सुधरने के बदले सीधे बालकों को ही डाँट देते हैं और कहते हैं—"देखो, ऐसा न करो। किसीका मुँह न चिढ़ाओ!" बालकों को इस तरह डाँटकर और उनकी सहज वृत्तियों को दबाकर यदि माता-पिता यह समझते हैं कि अब उनके बालक उनका मुँह न चिढ़ायेंगे, तो वे मूर्खों के स्वर्ग में रहते हैं। बालक अपना खेल न छोड़ेंगे; आपका नाम लेना छोड़ देंगे, और दूसरे नामों से आपकी नक़ल करेंगे। लेकिन जब ये ही बालक घर आकर अपने शिक्षकों की नक़ल करते हैं, तो माँ-बाप बड़े चाव से उसे देखते हैं, अतएव बालक खुलकर अपने शिक्षकों की नक़ल करते हैं। वे शिक्षक की बोली की हू-बहू नक़ल करते हैं, और कब शिक्षक का चेहरा कैसा दीखता है, सो बराबर मुँह बनाकर दिखाते हैं।

यदि ऐसे समय शिक्षक मौजूद रहकर बालकों की इन चेष्टाओं को देखें, तो उन्हें पता चल जाय कि उन्हें बालकों के सामने किस तरह बोलना चाहिए। और अगर माता-पिता चाहें तो वे भी शिक्षकों की इस नक़ल से काफ़ी लाभ उठा सकते हैं। समझदार को इशारा काफ़ी होता है।

कहने का मतलब यह है कि हम सब मिलकर विचार करें और देखें कि क्या हम आपस में, बड़ों के सामने, छोटों के सामने और बालकों के सामने अच्छी तरह बोलना जानते हैं या नहीं?

गि०

'उलहना न दूँगी'

कुब्जा ने अपने प्यारे बेटे को उलहना देकर कहा—"बेटा! यों कमर झुकाकर टेढ़े-टेढ़े क्या चलते हो? अच्छी तरह सीधे तनकर चलो तो कैसे अच्छे लगो?"

बेटे ने माँ से कहा—"माँ! तुम बिलकुल ठीक कहती हो। लेकिन एक बार मुझे दिखाओ तो कि सीधा कैसे चला जाता है? फिर मैं ज़रूर वैसे ही चलूँगा।"

माँ ने सीधा चलकर दिखाने की हर वह कोशिश की, मगर कामयाब न हुई। कुब्जा ने उसी समय यह प्रतिज्ञा ली—"आगे कभी मैं अपने प्यारे बेटे को उलहना न दूँगी।"

पालनपुर में—

पिछले दिनों श्री गिजुभाई पालनपुर गये थे। वहाँ उन्होंने कई जगह भाषण किये थे। उनके इन भाषणों में से कुछ चुने हुए विचार नीचे दिये जाते हैं—

बालकों को शान्ति स्वभाव ही से बहुत पसन्द है। बाल-मन्दिर में शान्ति का पाठ पढ़ाया जाता है। बालक एक कतार में बैठ जाते हैं। धीमे-धीमे दरवाज़े बन्द हो जाते हैं। अँधेरा बढ़ता है। दीपक का प्रकाश अधिक तेजोमय बनता है। बालक एकदम गंभीर बन जाते हैं। और तब उनको पता चलता है कि बाहर कितना कोलाहल है! शान्ति के कारण ही उनके शरीर, मन और आत्मा में स्वास्थ्य उत्पन्न होता है। धर्माचार्य लोग जिस शान्ति का उपदेश करते हैं, वह निरर्थक-सी हो जाती है। क्योंकि मनुष्यों ने कान खुले रखने के बजाय मुँह खुला रक्खा है!

हमारे हाथ पूजन-अर्चन के लिए हैं; दूसरों का भला करने के लिए हैं। उनका उपयोग अपने ही बालकों को मारने में किया जाता है, इससे बढ़कर निष्ठुरता और क्या हो सकती है? जिस हाथ ने कभी भी अपने बालक को न मारा हो, उसको मैं पवित्र मानता हूँ। ऐसे कितने लोग हैं, जो अपने बालकों के सामने कभी झूठ न बोले हों? अथवा जिन्होंने बालकों को झूठ बोलने से बचाया हो? कदाचित् ईश्वर को आप धोखा दे सकते हैं, शायद अपने आसपास के लोगों को भी आप ठग सकते हैं, किन्तु बालक ही एक ऐसा प्राणी है, जिसे अभी तक कोई ठग नहीं सका है!

अपने घरों में आप हर प्रकार की सुविधा रखते हैं! गायों के लिए गोष्ठी, घोड़ों के लिए घुड़साल, कुत्तों की पड़साल, जूतों के ताक वग़ैरा सब जगहें अलग-अलग होती हैं। परन्तु सारे घर में अथवा बंगले में बालकों के लिए उनका अपना कोई स्थान नहीं होता! नये मकान बनवाने वाले लोग, यदि आगे से बालकों के लिए घरों में अलग कमरों की व्यवस्था करेंगे, तो बालक उनके बहुत ऋणी रहेंगे।

बड़े आदमियों की बुद्धि इसलिए लूली है कि वे हर काम धर्म और कानून की रू से करते हैं। बालक इसलिए अपंग हैं कि हमने उनसे काम छीन लिया है। स्वाधीनता, स्वतंत्रता, मनचाहा काम और सचाई ये सब आत्मा के गुण हैं। अतः बालकों को काम करने दीजिये। वे काम करना चाहते हैं, उपद्रव नहीं। उनसे काम छीनकर उन्हें उपद्रवी न बनाइये!

हमारी सभी धार्मिक बातें एक-सी हैं, और इसीलिए उनके विषय में हमें कोई शंका नहीं होती। क्योंकि हमारी बुद्धि अपंग हो गई है। वैज्ञानिक बुद्धि का लोप हो जाने से पढ़े-लिखे लोगों के दिमाग़ में भी वहम घर कर चुके हैं। शुद्ध बुद्धि तो स्वाधीनता चाहती है!

बालकों में होड़ पैदा करने से, उनमें बैर उत्पन्न होता है। यह कहने से कि 'क' अच्छा है और 'ख' बुरा है, 'ख' को 'क' के प्रति ईर्ष्या होने लगती है। और 'क' के मन में अहंकार

पैदा होता है। ईर्ष्या, अहंकार और दीनता की जड़ माँ-बाप के इस आडम्बर और दिखावे में ही है!

❀ ❀ ❀

जब से दुनिया शुरू हुई है, एक कहावत चली आ रही है—"पुत्रात् इच्छेत् पराजयम्"। परन्तु बिरले माँ-बाप ही ऐसे होते हैं जो बालकों को अपने से बढ़कर देखना चाहते हैं। पिता चाहता है कि उसने अपने लिए जो मर्यादा बनाली है, पुत्र उसके आगे न बढ़े। वह कहता है—"बस यहीं तक: इससे आगे नहीं।" माता यही चाहती है कि उसकी पुत्री उसके जैसी ही बने और वैसा ही आचरण करे। माता-पिताओं और लड़कों के बीच आज जो बेसुरापन और जो असंतोष पाया जाता है, उसका कारण यही है—लोग अपनी इच्छा दूसरों पर लादना चाहते हैं। अंग्रेज़ी में इसको Dogmatism (मताग्रह) कहा जाता है। ऐसा आग्रह तो स्वयं परमात्मा भी नहीं रखता! उसने तो मनुष्य को स्वाधीनतापूर्वक विचरने की छूट दे रक्खी है।

❀ ❀ ❀

बालिग़ होने पर स्त्री और पुरुष दोनों विवाह के पवित्र बन्धन से बँधते हैं। इस प्रेम-सम्बन्ध का फल उन्हें बालक के रूप में मिलता है। जब स्त्री और पुरुष आत्मा द्वारा एक होते हैं, तब उनके घर बालक का जन्म होता है। ब्याह से पहले स्त्री और पुरुष जुदा-जुदा माँ-बापों की अलग-अलग सन्तान थे। विवाह के द्वारा वे एक-दूसरे के बन जाते हैं और बालक के आने पर तो वे सब के मिट कर अकेले बालक के हो जाते हैं!

❀ ❀ ❀

लोग कहते हैं, इस देश की स्त्रियाँ बहुत पीछे हैं; बड़ी डरपोक हैं। उनमें बहुत कुछ अज्ञान हैं। आदि-आदि! किन्तु इसका वास्तविक दोष स्वयं स्त्रियों पर ही है। हमारे समाज में लड़के और लड़कियों के स्थान समान नहीं हैं। स्त्रियाँ पुत्री की अपेक्षा पुत्र के प्रति अधिक प्रेम दिखाती हैं। पुत्र और पुत्री के अधिकार समान नहीं हैं। लड़के को सभी सुविधायें दी जाती हैं, और लड़की को कुछ भी सुविधा नहीं मिलती! लड़की घर का सब काम करती है। हम यह माने बैठे हैं कि उसको पाठशाला जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह हमारी बड़ी भारी भूल है। लड़कियों को ज्ञान और शक्ति में पीछे रखना कभी उचित नहीं है। लड़कियाँ ही तो भविष्य की स्त्रियाँ हैं। और जब स्वयं स्त्रियाँ ही अपने को तुच्छ मानने लगती हैं, तो फिर क्या आश्चर्य कि दुनिया भी उन्हें तुच्छ ही समझे?

?

एक लड़का था। उसे इतिहास नहीं आता था। और पास होने के लिए तो इतिहास पढ़ना ज़रूरी था। बेचारा रट-रट कर थक गया, लेकिन इतिहास याद न हुआ। शिक्षक ने कहा—"क्यों, अभी तक याद नहीं हुआ? चल, इधर आ।" लड़का धूजता-काँपता शिक्षक के पास पहुँचा। शिक्षक ने उसका कान उमेठा और फिर उसकी झुकी हुई पीठ पर कसकर एक घूँसा जमा दिया। लड़का बेचारा बरबस चिल्ला उठा—"नहीं याद होता सा'ब, नहीं·········।"

गि०

तख्तेश्वर की टेकरी पर

उस दिन मैं बाल-मन्दिर के बालकों को तख्तेश्वर की सैर कराने ले गया।

तख्तेश्वर एक टेकरी पर बने हुए मन्दिर का नाम है। मन्दिर संगमरमर का बना है।

बालक मन्दिर में जाकर खेलने लगे। मैं बैठा उनके खेल देखने लगा—

चिमन—"गिजुभाई, ज़रा इस पत्थर पर अपना हाथ तो फेरिये। अहा, कैसा चिकना और चमकीला पत्थर है! चिकना, काँच जैसा चिकना!"

विद्या दौड़ती आई और कहने लगी—"उठो, उठो, गिजुभाई; वह देखो, वहाँ वे त्रिभुज और वृत्त बने हुए हैं!"

मैं गया। विद्याबहन ने अपनी अँगुलियाँ छुआ-छुआ कर मुझे संगमरमर में खुदी हुई तिकोनी, गोल और चौरस सभी प्रकार की आकृतियाँ दिखलाईं।

चन्दू—"गिजुभाई, यह देखो, यहाँ कैसी मज़े की हवा चल रही है। मुझे बहुत सुहाती है। हलकी और मीठी लगती है।"

इतने में तो उधर से राधा और रमा बातें करती आईं और अँगुली का इशारा करके मुझे कहने लगीं—"गिजुभाई, आप जानते हैं, यह समुद्र नीला क्यों दिखाई देता है? क्या इसलिए कि आसमान भी नीला है?"

मैं बैठा विचार करने लगा। मैं यह देखकर खुश हुआ कि इतने थोड़े समय में बालकों की इन्द्रियों का इतना विविध विकास हो चुका है।

चम्पाबहन आईं और कहने लगीं—"गिजुभाई, जब हम उस खम्भे से कान लगाकर खड़े रहे, तो हमें ऐसा मालूम हुआ मानों हम हवा का संगीत सुन रहे हैं!"

मैंने सोचा—इस लड़की ने तो ग़ज़ब की कल्पना की!

लीला और कुसुम तरह-तरह की रंग-बिरंगी कंकरियाँ चुन लाईं और बोलीं—

"देखो गिजुभाई, यह हरे रंग की, यह पीली और यह एक जामुनी है; कैसी अच्छी है! है न?"

मैंने ख़याल किया—ये बालक बाल-मन्दिर में गट्टापेटी, रंगों की तख्ती और भूमिति की पेटियों से खेल-खेल खूब होशियार बन गये हैं। मोण्टीसोरी पद्धति में जिसे इन्द्रियों का व्यापक विकास कहते हैं, वह यही चीज़ है। ज्योंही बालकों ने कुछ रंग की तख्तियाँ खेलीं, त्योंही रंगीन पंख, रंग-बिरंगी कंकरियाँ और रंग-बिरंगे आसमान आदि अनेक चीज़ों को देखने की उनकी आँखें खुल गईं! इस प्रकार इन्द्रिय-विकास के साधनों का उपयोग करने से बालकों के सामने दुनिया की सभी चीज़ें अपने अपने रूप-रंग में प्रकट होने लगती हैं।

अपने इस प्रत्यक्ष अनुभव को मैं भला कैसे भूल सकता हूँ?

गि०

जब फुरसत मिले—

बालकों के नाख़ून देखिये। बढ़े हुए हैं? गन्दे हैं?
आँखें देखिये। कीचड़वाली हैं? पिराती तो नहीं हैं?
दाँत देखिये। गन्दे हैं? सड़ तो नहीं रहे हैं?

गि०

दो बाल चित्रकार

एक छोटे-से गाँव में हमारी एक पाठशाला थी। चित्र बनाने के लिए बालकों के सामने पट्टी, पेन, काग़ज़ और रंगीन पेंसिलें रख दी गई थीं। चित्र की तैयारी के लिए इसके सिवा और कुछ भी न किया गया था।

सभी बालक चित्र बनाते थे, लेकिन उनमें दो बालकों के चित्र बड़े सुस्पष्ट और विविध प्रकार के होते थे। एक बनिये की बेटी थी और दूसरा बारैया जाति का एक लड़का।

दोनों का जीवन दो भिन्न परिस्थितियों में बीतता था, इसलिए दोनों के चित्र भी भिन्न प्रकार के होते थे।

लड़की गाँव में रहती थी; इसलिए उसने अपने चित्रों में गृह-जीवन की वे सब घटनायें रेखाबद्ध की थीं, जो उसे अपने जीवन में काव्यमय मालूम हुई थीं।

गाँव में ब्याह-शादी की धूम थी। इन दिनों दुलहा-दुलहिन के जो जुलूस निकलते थे, उनपर वह आफ़रीन रहती थी। उनके खेल भी खेलती थी। उसने ऐसे एक जुलूस का सुन्दर चित्र भी बनाया था।

लड़कियों की एक टोली गाती-बजाती जा रही थी। बीच में एक लड़की के सिर पर पानी भरे कलश रक्खे हुए थे; ऊपर एक कपड़ा ढँका था, जिसके दोनों सिरे एक लड़की पकड़े हुए थी। उसके बगल में एक लड़की थी, जो हाथ में पूजा का थाल और थाल में घी का जलता हुआ दीया लेकर खड़ी थी। पास ही एक नारियल रक्खा था।

उसने एक दूसरा चित्र बनाया, जिसमें दुलहिन का बाप 'चँवरी' पर बैठा था और पास में गणपति का एक चित्र था। उसके दूसरे प्रकार के चित्रों में पनघट के चित्र ख़ास होते थे। इन चित्रों में वह कुँए से पानी खींचने, सिरपर 'बेड़े' रखकर चलने, छोटी बहन के सिर से बड़ी बहन के पानी का घड़ा उतारने आदि के अनेक चित्र बनाती थी।

> अगर आप बाल-मन्दिर में अपने बालकों को भेजना चाहते हैं, तो उनसे उकताकर नहीं, बल्कि यह सोचकर भेजिये कि वहाँ उन्हें उनके विकास के लिए अनुकूल वातावरण मिलता है। क़ीमती कपड़ों को रखने के लिए हम अपने घरों में अच्छी आलमारियाँ बिसाते हैं, गहने रखने के लिए तिज़ोरी ख़रीदते हैं, तो फिर जिसे हम अपना सर्वस्व समझते हैं, उसकी सार-सँभाल के लिए क्या हम कुछ भी न करेंगे?
>
> —श्री० भोगीभाई ठाकर

एक चित्र में उसने चिरैयों का एक बड़ा-सा दल बनाया और कोने में एक ओर हाथ में लाठी लिये एक आदमी खड़ा कर दिया। मैंने पूछा—"यह किसका चित्र है?" वह बोली—"ग्वाला चिरैयाँ चरा रहा है।"

उसकी बड़ी बहन शहर से उसके लिए काग़ज़ के फूलों की एक बेनी लाई थी। यह बेनी उसे बहुत प्रिय थी। जबतक बेनी बिलकुल टूट न गई, वह बराबर उसे पहनती रही। वह अकसर इस बेनी के चित्र बनाया करती। चित्र में एक लड़की बनाती और फिर उसे रोज़ नित नये ढंग से बेनी पहनाती।

उसे भक्ति-रस के चित्रों से भी मुहब्बत थी। देव की मूर्ति बनाकर उनके सामने नाना प्रकार के फूलों और दीपकों की रचना करती। और फिर देव की प्रतिमा के सामने एक लड़की को पुजारिन

के रूप में बैठाती।

लड़के का अधिकतर समय खेतों पर बीतता था, इसलिए उसके चित्रों में कुदरत की छटा अधिक रहती थी।

उसने मोरनी का एक घोंसला बनाया था। बेर की एक झाड़ी में एक घोंसला था, जिसमें मोरनी ने तीन अण्डे रक्खे थे; ऊपर मोरनी खड़ी थी, पास ही मोर चुग रहा था।

एक पेड़ पर मधुमक्खी के पाँच छत्ते थे और छत्तों के आसपास मधुमक्खियाँ उड़ रही थीं। यह उसके एक दूसरे विषय का चित्र था।

नदी में 'केकड़े' बहुत रहते हैं। एक दिन उसने नदी-तट का एक चित्र बनाया और उसमें किनारे पर केकड़े का एक बिल बनाकर दिखाया।

बबूल का एक पेड़ था; नीचे उसके साँप बिल था। उस बिल में से निकलकर साँप ही के करंज के पेड़ की तरफ जा रहा था — चित्र का यह भी एक विषय था। पेड़ों के वह स्वयं ही रखता था, और नाम के अनुरूप उनके तने और पत्ते बनाता था।

उसके चित्रों के दूसरे विषय इस प्रकार होते

किसी आदमी को बिच्छू ने काट खाया और वह बुरी तरह रो रहा है। मोर साँप खा रहा है। साँप और नेवला लड़ रहे हैं। आदि।

'क्या करें, गुस्सा आ ही जाता है!'

"कहिये, इस महीने की शिक्षण-पत्रिका पढ़ी?"

"जी हाँ, पढ़ी तो, लेकिन कुछ मज़ा नहीं आया।"

"माँ-बाप बच्चों को क्यों पीटते हैं, सो पढ़ा?"

"अरे, तो बग़ैर पीटे काम कैसे चलेगा? यह देखिये, अभी-अभी आपके उस लौंडे ने जाकर अपना पैर तोड़ लिया। अब गुस्सा न आये तो क्या हो? ऐसों पर तो ऐसी रीस चढ़ती है कि मार-मार कर कचूमर निकाल डालूँ!"

"लेकिन मरे को मारना क्या?"

"मगर क्या करें भाई, गुस्सा तो आ ही जाता है!"

गि०

बन्धन-मुक्त करो!

हम और किसी को बन्धन से न छुड़ा तो कम से कम छोटे बच्चों को तो नाना प्रका बन्धनों से अवश्य छुड़ावें।

अगर कोई अधिक से अधिक बन्धनों जकड़ा हुआ है, तो वे हमारे नन्हें बालक ये बन्धन इसलिए और भी प्राणघातक हैं, इन्हें न हम पहचानते हैं, न बच्चों को इनका है। ये बन्धन इसलिए भी विश्वघाती हैं, संसार के सभी लोग ईश्वर की दुहाई देकर स्वर से यह घोषणा करते हैं, कि दुनिया में बालक ही ऐसे हैं, जिन पर किसीने कभी बन्धन नहीं लादे हैं — जो स्वतन्त्र हैं, बन्धन हैं!

वर्षा का आनन्द

मूसलधार पानी बरस रहा है। इतना कि नेवतों में ठहरता नहीं। आँगन में देखो तो एक तालाब ही भर गया है। कभी इधर से एक बौछार आ जाती है, तो कभी उधर से हवा एक थपेड़ा दे जाती है। कभी फुहियाँ बरसती हैं, तो कभी आसमान फटा पड़ता है। चारों ओर पानी, पानी और पानी! रामू कहता है—"मैं बिनु के साथ इस पानी में नहाने जाऊँ?" बाबूजी कहते हैं—"हाँ जाओ, थोड़ी देर कूद-फाँद आओ।" और कहने की देर थी कि वे छलाँगे भरते हुए पानी में कूद पड़े। और उन्हें देखकर अड़ौस-पड़ौस से मोहन, मंगू, मोती, मैना और मुनिया भी आ गये, और फिर सब मिलकर गाने लगे—

"काल कलौटी, उज्जल धोती
मेघा मामा पानी दे;
नहीं तो अपनी नानी दे!
मेघा मामा पानी दे;
नहीं तो अपनी नानी दे!"

गाते जाते हैं और नहाते जाते हैं। कभी नेवतों के नीचे, तो कभी बहती धार में; कभी नालों में, तो कभी पोखरों में; कभी इस गड्हे में, तो कभी उस गड्हे में! कभी हवा के सामने दौड़ते हैं, तो कभी बरसते पानी का सामना करते हैं। कभी इधर दौड़ते हैं, कभी उधर दौड़ते हैं।

वे खूब दौड़े, खूब नहाये, जी भरकर नहाये!

बाबूजी ने कहा—"अरे, अब आ जाओ; चलो ठण्ड बजने लगी। बदन पोंछ लो और कपड़े पहनकर अँगीठी के पास बैठ जाओ।" सब आकर अँगीठी के पास बैठ गये, और ऐसी तो ठण्ड उड़ाई कि फिर सब अँगीठी की तरह गरमा-गरम हो गये!

गज्जू ने कहा—"बाबूजी, मैं बला होऊँदा तो मुझे बी नहाने दोदे न?"

गंगू बोला—"और पिताजी, कल तो मैं भी नहाऊँगा न?"

बिशुन ने कहा—"और अपने राम तो बारिश बन्द होते ही हवाखोरी को निकलेंगे न?"

फिर तो उस दिन बरसात की अनेक बातें हुईं। हरी-हरी घास की, मेंढ़क और मेंढ़की की, ठण्डी-मीठी हवा की और बाढ़वाली नदी की; न जाने कितनी बातें हुईं। उस दिन तो बाबूजी ने बालकों को मानो वर्षा का एक पुराण ही सुना दिया!

गि०

एक अवलोकन

चिमनलाल धनी पिता के पुत्र हैं। जब नौकर उन्हें दूध पिलाने आता है, तो वह नौकर को लात मारते जाते और दूध पीते जाते हैं। उनके इस 'गुण' के लिए किनकी तारीफ़ की जाय? माता-पिता की, नौकर की, या स्वयं चिमनलाल की?

गि०

एक सादा अवलोकन

बाल-मन्दिर में शान्ता को दो दिन से १०१ डिग्री बुख़ार रहता है, फिर भी वह कहती है कि मुझे बुख़ार नहीं है। थर्मामिटर कहता है—"१०१ डिग्री बुख़ार आया है।" उनकी माँ कहती हैं—"अगर बुख़ार आता होता तो हम उसे बाल-मन्दिर ही क्यों भेजते?"

गि०

ऐसी माँ से क्या कहा जाय ?

"ओ माँ, माँ...माँ!" बोलता हुआ एक बालक घर के एक कोने में मस्त होकर खेल रहा था।

"अरे ओ कम्बख्त! चुप भी रहेगा या नहीं।" एकाएक अन्दर से ज़ोरों की एक राक्षसी आवाज़ सुनाई दी। यह आवाज़ माँ की थी। बालक सुनकर चौंक पड़ा। खिलौने हाथ से छूट कर ज़मीन पर गिर पड़े!

"कम्बख्त कभी चुप ही नहीं रहता! सारा दिन चिल्ला-चिल्ला कर सिर पका डालता है। हाय भगवान्! मैं इसे कहाँ छोड़ आऊँ?" माँ इसी तरह बड़ी देर तक गुनगुनाती रही। काम करती जाती थी और उस निर्दोष बालक को मनमानी गालियाँ सुनाती जाती थी। इस प्रकार कोई क़रीब आध घण्टे तक उसने अपने बालक को गालियाँ दी होंगी। इस दरम्यान बालक बिलकुल शान्त हो गया और चुपचाप अपनी माँ की गालियाँ सुना किया। वह निर्दोष बालक बेचारा क्या जाने कि उसकी माँ उसे गालियों से पूज रही है?

आखिर सुनते-सुनते बालक उकता उठा। माँ की यह हरकत बालक को पसन्द न पड़ी। वह घर के बाहर दरवाज़े के सामने जाकर बैठ गया। और फिर गाने लगा। दरवाज़ा हिलाता जाता था और गाना गाता जाता था। इस तरह वह फिर अपने अलाप में मस्त हो गया। माँ की धमकी की उसे स्मृति न रही। उसकी माँ फिर बाहर आई—"चांडाल कहीं का! इसकी जुर्रत तो देखो! किसीको कुछ समझता ही नहीं! मुए को मौत भी नहीं आती।" बकझक की इसी धुन में माँ ने बालक को धम्-से एक घूँसा जमा दिया। अकस्मात् बालक का सिर दरवाज़े से टकरा गया। और झर-झर लहू बहने लगा! बालक एक गहरी चित्कार के साथ रो पड़ा। माँ तो फिर घर में चली गई। फिर से बालक पर झिड़कियों की वर्षा होने लगी—"हाय भगवान्! इस मुँहजले के ढोंग तो देखो! चुप भी रहता है कि फिर आकर कुछ चखाऊँ?" कहती हुई माँ एक बार और आई और तड़-तड़-तड़ दो तीन तड़ाके लगाकर उलटे पैरों लौट गई। उस बेदर्द माँ को यह पता न था कि बालक को दरवाज़ा लगा है, और वह लहूलुहान हो जाने के कारण रो रहा है। गुस्से की धुन में उसे इसका विचार तक न आया। वह अन्दर जाकर काम करने लगी। इतने में एक आदमी उधर निकला। वह रोते हुए बालक के पास आया और उसे देखते ही चौंक पड़ा। बालक का कुर्ता लहू से भींग गया था। इतने अड़ौसी-पड़ौसी भी इकट्ठा हो गये और बालक के प्रति सहृदयता व्यक्त करने लगे। उनमें से कोई एक अन्दर गया और बच्चे की माँ को बुला लाया।

"देखती नहीं हो, बच्चे को कैसी ज़ोर की लगी है?" भीड़ में से किसीने कहा।

"कम्बख्त न जाने कब से यहाँ धूम मचा रहा था। हज़ार बार मना किया होगा, लेकिन किसीको पर्वा हो तब न?" माँ ने इस तरह अपना दोष छिपाया और उलटी बालक पर ही भिन्नाने लगी। बाद में बालक को अस्पताल ले जाना पड़ा। मरहमपट्टी के बाद बालक घर लाया गया घर आते ही वह पालने में सुला दिया गया; और बालक चुपचाप सो गया।

"कम्बख्त अब चुप हुआ!" माँ ने अन्तिम उद्गार निकाले!

जे०

बालक बनाम मेहमान

घर की छोटी-सी दुनिया में छोटे बच्चों के लिए कोई भी नया आदमी 'मेहमान' ही है। बालकों का ध्यान इस मेहमान की तरफ़ फ़ौरन ही जाता है। वह बालकों की कुतूहल-वृत्ति को जगाता और उनके लिए अभ्यास का एक साधन बन जाता है। यों मेहमान बालकों को जगा जाता है। वह उनपर अपना अच्छा या बुरा असर छोड़ जाता है, बालकों के जीवन में उतने समय के लिए और कभी-कभी हमेशा के लिए बुराई या अच्छाई के बीज बो जाता है।

बालक उसे अपने माता-पिता का परिचित, मित्र, रिश्तेदार या मुलाक़ाती समझकर उसके पास जाते हैं, उससे बातचीत करते हैं, अपनी बातें उससे कहते हैं, घर की बातें भी उसे सुनाते हैं; अपने माता-पिता की चर्चा भी करते हैं। और बदले में मेहमान से भी अनेक प्रकार की बातें सुनते हैं।

वे नहीं जानते कि उनका मेहमान जो कुछ करता है, वह इष्ट है या अनिष्ट; वह जो कुछ कहता है, वह अच्छा है या बुरा; वह जैसा बरताव उनके साथ करता है, वह उचित है या अनुचित। क्योंकि बालक तो मेहमान को बड़े विश्वास से अपनाते हैं, उसे अपना ही समझते हैं। इसके अलावा मेहमान एक नया व्यक्ति होने के कारण बालकों को उसका हर काम नया-सा मालूम होता है, और इस नयेपन के कारण बालक उसे निकट से देखने और समझने को ललचाते हैं। उन अबोध बालकों को पता नहीं रहता कि सभी नई चीज़ें अच्छी नहीं होतीं। कभी-कभी तो वे बहुत भयंकर भी होती हैं।

प्रायः मेहमान बालकों को ज़बर्दस्ती अपने पास बुलाते हैं। वे उनका हाथ पकड़ लेते हैं, उन्हें चूमते हैं, गोद में बैठाते हैं, गुदगुदाते हैं, नचाते और कुदाते हैं। यह तो एक जुदी बात है कि यह सब करने का उन्हें कोई अधिकार नहीं होता; लेकिन भोले बालक तो यही समझते हैं कि जब ये हमारी माँ के या पिता के मेहमान हैं, और मेहमान तो बड़े आदमी होते हैं, और जब माँ या बाबूजी इनका इतना आदर करते हैं, तो ज़रूर ये भले आदमी होंगे। ये जो कुछ करेंगे, अच्छा ही करेंगे। इनका काम हमें अच्छा न लगे, तो भी उसके ख़िलाफ़

> ग़रीब हिन्दुस्तान बालकों को पौष्टिक भोजन नहीं खिला सकता, किन्तु वह उन्हें खुली हवा और यथेच्छ धूप तो अवश्य ही खिला सकता है।
>
> गाँव-गाँव और गली-गली में कम से कम एक-एक क्रीड़ांगण तो अवश्य ही होना चाहिए।
>
> क्रीड़ांगण से मतलब है, साफ़ और खुला मैदान; जहाँ बालक दौड़ें, खेलें, रेत में लौटें, झूला झूलें, फिसलें और तन और मन को तन्दुरुस्ती से भर लें।
>
> क्रीड़ांगण दवाख़ानों और डॉक्टरों की ज़रूरत न रहने देंगे।
>
> क्रीड़ांगण उमर बढ़ायेंगे।
>
> क्रीड़ांगण बच्चों को छोटी उम्र में मरने से बचायेंगे।

न इनसे कुछ कहा जा सकता है, न औरों से।

कई मेहमानों से बालकों को घिन-सी हो जाती है। वे उन्हें अपने लिए आफ़त-सी समझते हैं। कुछ तो उन्हें बेहूदे और जंगली-से मालूम होते हैं। सुन्दर वातावरण में पले हुए बालक तो उनसे दूर ही रहते हैं। फिर भी मेहमान उन्हें अपने पास बुलाते हैं, खेलाते हैं; बालक बेचारे चुप रह जाते हैं; कभी-कभी रो पड़ते हैं। ऐसे समय माँ-बाप उलटे बालकों को डाँटते हैं, और कहते हैं—'वाह, रोते क्या हो? इनसे बात क्यों नहीं करते? ये तो ये हैं, और वे हैं। इनसे क्यों शरमाते हो? और रोना तो फिजूल की बात है।'

अगर बालक अपने माता-पिताओं को मेहमानों की बदबू से, उनकी अनधिकार चेष्टाओं से, आगाह कर सकते, तो ज़रूर माँ-बाप की आँखें खुल जातीं और वे मेहमानों से अपने बालकों की रक्षा कर सकते।

बालकों को मेहमानों की गन्ध बड़ी तीव्रता से आती है। वे अच्छे और बुरे मेहमानों को तुरन्त ताड़ लेते हैं और या तो उनसे दोस्ती करने को उत्सुक रहते हैं, या दूर भागते हैं। फिर भी जब एक बार वे मेहमानों की बुराई के शिकार बनकर उनकी जाल में फँस जाते हैं, तो फिर धीरे-धीरे वे भी मेहमान-बाज़ बन जाते हैं और मेहमानों से खुश रहने लगते हैं। इसके बाद तो वे अनजान में अपने अनेक अतिथियों से न जाने कितनी बुराइयाँ, चरित्र के न जाने कितने दोष जो भयंकर होते हुए भी, शुरू में बड़े अस्पष्ट और धुँधले-से होते हैं, सीख जाते हैं, और उनसे एक प्रकार का अज्ञात-सा आनन्द लूटते हैं।

इस तरह का लाभ (?) सभी मेहमानों से नहीं मिलता; लेकिन कुछ हलके दर्जे के मेहमान ज़रूर ही इस तरह का 'लाभ' पहुँचाने की शक्ति रखते हैं।

अगर हम मेहमानों का वर्गीकरण करें, तो वह कुछ इस प्रकार का होगा— मित्र, रिश्तेदार, मिलनेवाले, सिफ़ारिशी यात्री और व्यापार-व्यवसाय के सम्बन्ध से आनेवाले मुनीम, दलाल, मुहर्रिर वगैरा लोग। अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि "ईश्वर हमें अपने मित्रों से बचाये!" हम लोगों को इस कहावत का मर्म अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। हम इसे सुधार कर यों भी कह सकते हैं—"ईश्वर हमारे बालकों को हमारे मित्रों से बचाये!" मित्रों से मतलब है, वे लोग जो हमारे अधिक निकट हैं, जिनका हमपर ज्यादा अधिकार है, जो हमारे विशेष सम्मान के पात्र हैं। अगर वे बीड़ी पीते-पीते हमारे बालकों को खेलाते हैं, तो क्या बालकों का कर्त्तव्य है कि वे बीड़ी के धुएँ को सह लें! वे अपने बदबूवाले मुँह से बालकों को चूमें, तो बालक उन्हें चूमने दें! वे बालकों की पीठ थपथपायें, तो बालक उन्हें थपथपाने दें! वे उन्हें दो पैरों या दोनों हाथों के बीच दबाकर उनसे 'चीं' बोलायें, तो बालक 'चीं' बोला करें! माता-पिताओं को चाहिए कि वे अपने मित्रों की इन गन्दी आदतों को उनसे छुड़वायें।

रिश्तेदारों और दूसरे प्रकार के मेहमानों की बाल-प्रियता का बहुत ज्यादा लाभ बालकों को देने की कोई आवश्यकता नहीं है। बालकों पर उनका जो पारिवारिक हक़ है, माँ-बापों को समझ लेना चाहिए कि उसका पट्टा अब पूरा हो चुका है। उन्हें सदा सतर्क रहकर यह देखना चाहिए कि उनके बालक मित्रों और रिश्तेदारों को कभी अपने लिए आदर्शरूप न समझें। ऐसे मेहमानों और मित्रों की आदतों और विचारों के बारे में हमें

निःसंकोच होकर बालकों के सामने अपने विचार रखते रहना चाहिए। 'तेरी माँ ऐसी है, और तेरी मौसी ऐसी है। चम्पा ने मोहन से कहा था। तू बच्चा था, और तू दूध पीती थी, तब ऐसा हुआ था, और वैसा हुआ था। तेरे बाबूजी का ब्याह हुआ, तब हमने ऐसा किया था और वैसा किया था।' आदि-आदि बातें करनेवाले रिश्तेदार और मित्र भविष्य में बालकों से इस प्रकार की चर्चा न करें, इसका पूरा ख़याल रक्खा जाना चाहिए।

रिश्तेदार और मेहमान हमारे सम्मान के, हमारी ममता और हमारे आतिथ्य के अधिकारी हैं, किन्तु उनके आतिथ्य की सूची में से बालकों से मेल-जोल बढ़ाने और बातचीत करने का उनका जो अधिकार चल पड़ा है, उसे फ़ौरन छाँट देना चाहिए।

हमारे घर आनेवाले मुनीमों, दलालों और यात्रियों के साथ तो हमारे बालकों का परिचय होना ही न चाहिए। घर पर बालकों को यह समझा देना चाहिए कि ऐसों से वे कोई वास्ता ही न रक्खें। उनके पास जाने और बैठने की ज़रूरत ही न समझें। इधर बालकों को इस तरह समझा देना और उधर मेहमानों को इस प्रकार रखना चाहिए कि जिससे दोनों को परस्पर परिचय का अवसर ही न मिले। फिर धीरे-धीरे बालकों को ऐसी तालीम देना चाहिए कि जिससे वे मेहमान मेहमान का फ़र्क समझ सकें, और जो जिस योग्य हो, उसकी वैसी क़दर कर सकें। बच्चों में इस प्रकार के सूक्ष्म संस्कार जगाने की बड़ी आवश्यकता है। बार-बार उनसे बातचीत करने और समय पर उनकी रहनुमाई करते रहने से धीरे-धीरे उनमें यह माद्दा पैदा हो जाता है। हमें उनके अन्दर इतनी सजगता पैदा कर देनी चाहिए कि जिससे बिना अभिमानी बने, और बिना अतिथि-मात्र से घृणा किये, वे यह समझने लगें कि हमें इनसे तो मेल-जोल बढ़ाना है, और इनसे दूर रहना है। आस्ते-आस्ते उनमें ये भाव भर देने चाहिएँ कि जिनसे दूर रहना है, उनसे मेल-जोल बढ़ाने में अपनी अप्रतिष्ठा है, हानि है। और इसका तरीक़ा तो हरएक विचारशील और चतुर माता-पिता को अपने लिए स्वयं ही ढूँढ़ लेना चाहिए।

> ढाई से पाँच वर्ष की उम्र मनुष्य के चरित्र-निर्माण के लिए बड़े ही महत्त्व की है। यही समय है, जब उसके मन के आवेगों को सही दिशा बताने की ज़रूरत होती है। इस समय हमें उसे अनुकूल वातावरण देना चाहिए। हम यह क्यों न मानें कि देश का भविष्य हमारे बालक के हाथों में है? मैंने यूरोप के बालक भी देखे हैं। मैं कहता हूँ कि वहाँ के बालक भी हमारे बालकों के समान ही हैं!
>
> —श्री० भोगीभाई ठाकर

दलाल, मवक्किल और मुसाफिर की कोटिवाले मेहमान हमपर अपना स्नेह या उपकार जताने के लिए हमारे बालकों से मेल-जोल बढ़ाकर उन्हें खेलाते हैं, तरह-तरह की सौग़ात लाकर उन्हें देते हैं, और सैर-सपाटे को भी ले जाते हैं। इस सम्बन्ध में हमारा रुख़ बहुत ही स्पष्ट और कड़ा रहना चाहिए। हमें खुद होकर अपने मेहमानों को इस विषय में साफ़ इनकार कर देना चाहिए। ऐसे समय बालकों की रुचि-अरुचि का विशेष विचार करने

की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह तो मेहमानों द्वारा बनाई हुई, अतएव कृत्रिम और तात्कालिक होती है। ज़रूरत पड़ने पर हम स्वयं बालक जो चाहें, सो उन्हें ला दें, या जहाँ चाहें, उन्हें ले जायँ। लेकिन मेहमानों को इस विषय में दखल न देने दें। प्रायः इसीके कारण बालक बहुधा लालची और लोभी बनते देखे गये हैं। जो चीज़ उन्हें माता-पिता से नहीं मिलती, उसे वे दूसरों से प्राप्त करने की कोशिश करते हैं, और इस कोशिश में अपने आप को गिराते चलते हैं।

देखनेवालों को हमारे बालक ज़रा असामाजिक दिखाई दें, तो पर्वा नहीं। हम थोड़े घमण्डी प्रतीत हों, तो चिन्ता नहीं। लेकिन बालकों को हर किसी मेहमान के साथ मिलने-जुलने और खेलने कूदने की स्वतंत्रता तो हम कभी न दें। हाँ समय-समय पर मेहमानों की सेवा के कुछ काम हम बालकों को सौंप सकते हैं। मेहमानों के लिए उनसे पान-सुपारी मँगा सकते हैं। भोजन के समय वे मेहमानों को परोस सकते हैं। कभी-कदास मेहमानों की अगवानी के लिए भी हम उन्हें अपने साथ ले जा सकते हैं। और इस प्रकार उनमें अतिथि-सेवा और अतिथि-सत्कार की भावना पैदा कर सकते हैं। यह आवश्यक है; किन्तु इसके लिए हम उन्हें मेहमानों के फन्दे में कभी न फँसने दें!

हम सब एक दूसरे के घर मेहमान बनकर जाते हैं। यदि हम दूसरों के बालकों के प्रति अपने अधिकारों और मर्यादाओं को समझ लें, तो हम उन्हें सहज में अनेक बुराइयों से बचा सकते हैं। यह स्वाभाविक है कि मित्रों और रिश्तेदारों के बालकों के लिए हमारे दिल में स्नेह हो, ममता हो; और यह होना भी चाहिए। इनका पोषण भी आवश्यक है। मित्रों के बालक धीमे-धीमे हमारे बालकों के मित्र बनें, फिर हम उनके मित्र बनें, और एक परम्परा-सी चल पड़े, स्नेह का एक सूत्र तैयार हो जाय, यह इष्ट है, सुन्दर है; और इसीलिए यह आवश्यक है कि हम बड़ी सावधानी के साथ, बड़े आदर से और विचार-पूर्वक बालकों की मित्रता सम्पादन करें। मित्रों के बालक अगर हमसे दूर रहते हैं, तो हम इसका बुरा न मानें। मित्रों के बालक, बड़े घर के बालक, सेठ या हाकिम के बालक जब हममें हिल-मिलकर खेलते हैं, तो हमें एक प्रकार का संतोष होता है; उसमें हम अपना थोड़ा बड़प्पन भी समझते हैं। लेकिन बालकों के हित की दृष्टि से आज हमें इसका मोह छोड़ देना चाहिए। जिस प्रकार और बातों में, आज बालकों के ख़ातिर, हमें अनेक प्रकार के त्याग की आवश्यकता है, जैसे उनके हित की दृष्टि से हमें अपनी योग्यता बढ़ाने की ज़रूरत है, वैसे ही इस दिशा में भी हमें आवश्यक साहस दिखाने की ज़रूरत है।

हम, यानी माता-पिता, अगर चाहें, तो अपने घर आनेवाले मित्रों का सच्चा और अच्छा उपयोग कर सकते हैं। हम उनकी सुरुचि, बुद्धिमत्ता, कलाप्रियता, और संस्कारिता आदि का लाभ अपने बालकों को अवश्य दिला सकते हैं। इसके लिए हम अपने सुयोग्य मित्रों को घर में अधिक नज़दीक का स्थान देकर ऐसा प्रबन्ध कर सकते हैं, जिससे बालक कथा-कहानी, नाटक, बातचीत, खेल-कूद, और विनोद आदि के रूप में उनसे लाभ उठा सकें। बालकों को एक बड़ी हद तक आदमियों की, समाज की, भूख रहती है। वे मेहमानों द्वारा बाहर की दुनिया का अभ्यास कर सकते हैं। लेकिन इसके लिए हमें प्रबन्ध ऐसा करना चाहिए कि जिससे उनकी यह भूख सुन्दर, सुपच और

पथ्य भोजन द्वारा तृप्त हों। मेहमान कितने ही अच्छे क्यों न हों, केवल उन्हीं के भरोसे बालकों को उनके बीच में छोड़कर निश्चिन्त हो जाना, बहुत उचित नहीं है। अच्छी चीज़ की तलाश में सजग रहना और अविश्वास करना, ये दो भिन्न चीज़ें हैं। मेहमान हमारे सिर-आँखों पर हैं, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हम अपनी सजगता खो बैठें, और गाफ़िल रहने लगें। गि०

'सभी अच्छा लगना चाहिए'

"अरे, टक लगाये क्या बैठा है। रोज़ का झगड़ा। दाल बनाती हूँ, तो कहता है, साग अच्छा लगता है; साग बनाती हूँ, तो कहता है, दाल अच्छी लगती है। इसमें अच्छे लगने की क्या बात है? सभी अच्छा लगना चाहिए!"

"लेकिन यह मिर्चेवाली चीज़ नहीं भाती, तो मैं क्या करूँ?"

"तो उसमें इतना ज्यादा मिर्चा ही कहाँ है?"

"तो ज़रा तुम्हीं चखो न, कितनी तेज़ है?"

"चल हट, निकल यहाँ से! कम्बख्त ज़बान पकड़ता है! मज़े का सुन्दर दाल-भात दस बजे से पहले बनाकर देती हूँ, तो कहता है, अच्छा नहीं लगता। कोई दूसरी माँ मिलती, तो पता चलता!"

"तो मैं तो सिर्फ़ यही कह रहा हूँ कि इसमें ज़रा मिर्चा ज्यादा है और करेले की यह तरकारी मुझे नहीं भाती।"

"मिर्चे से और किसीका तो मुँह नहीं जलता तेरा ही मुँह क्यों जलता है? करेले भी खाने होंगे; बनाये हैं, तो क्या फेंक देने को!"

बेचारा मोहन धीमे-धीमे साग और रोटी खाता है। तेज़ दाल में नेक कौर डुबो-डुबो कर खाने की कोशिश है। माँ फिर गुस्सा होती हैं और कहती हैं—"दस बरस का 'भैंसा' हो गया लेकिन अभी तक दाल खाने का सलीका नहीं जाना। या तो खायेगा नहीं, और खायेगा तो रेले उतार-उतार कर खायेगा। देखो न, सविता जीजी, ज़रा इसके ढंग तो देखो! कहता है, मुझे यह रसोई नहीं भाती। तो अब मैं इसके लिए नित-नई मिठाइयाँ कहाँ से लाऊँ?"

"होगा बहन, जाने दो। बालक है, अभी! खाते समय क्यों रुलाती हो?"

"अजी, इसकी तो आदत ही ऐसी पड़ गई है। रोज़ कहता है, 'अच्छा नहीं लगता!' तो क्या आदमी रोज़ मोती चुगकर पेट भरते होंगे?"

"मौसी! आओ ज़रा तुम्हीं चख देखो; दाल में मिर्च है या नहीं?"

"चुप रह! बदमाश कहीं के! बातें बनाता है। अभागा नहीं तो!"

मोहन को काटो तो खून नहीं। धरती फटे तो अभी उसमें समा जाय। एक तो दाल तेज़ तरकारी कड़ुई, और तिस पर माँ की तीखी गालियाँ! खाना उसे अच्छा लगे, तो कैसे लगे?

गि०

घड़ी खोल दीजिये न ?

: १ :

" बाबूजी, ज़रा यह घड़ी खोल दीजिये न ?"

" मैं तेरे हाथों घड़ी न दूँगा; कहीं गिर पड़ी और टूट गई तो ? "

" अच्छा, तो आप अपने ही हाथ में रखिये; लेकिन उसके चक्कर मुझे ज़रूर दिखाइये । "

" मगर एक शर्त है; मुन्नी की तरह उन्हें छूना न चाहिए; अँगुली से छूने से चक्कर ख़राब हो जाते हैं । "

" अच्छी बात है, मैं अँगुली नहीं छुआऊँगा । क्या मैं मुन्नी की बराबरी का हूँ ? "

" मगर मैं कुछ ही देर के लिए दिखाऊँगा । ज्यादा देर खुली रहने से उसमें कचरा गिर जाने का अँदेशा है । "

" मंज़ूर है । मैं तो थोड़ी ही देर देखूँगा । "

" अच्छा । तो ज़रा ठहर जा । मैं यह चिट्ठी लिख लूँ, तबतक तू चाकू ले आ । "

" लीजिये, यह चाकू । अब इसे खोलिये । "

" देखो, ज़रा दूर बैठो । उजेला आने दो । "

" यह लीजिये, मैं दूर ही बैठा हूँ । "

" लो देखो, ये चक्कर हैं न ? कैसे कट-कट चल रहे हैं ? देखो, वह छोटा चक्कर कैसा झट-झट चल रहा है ? देखो, ध्यान लगाकर, एकटक से, देख लो ! बस ! देख लिये न ! तो अब मैं बन्द करूँगा । मुझे काम है । "

" अच्छी बात है ! तो अब कल दिखाइयेगा न, बाबूजी ? "

" कल की कल से । "

" बहुत ठीक । "

: २ :

" बाबूजी, ज़रा यह घड़ी खोल दीजिये न ?"

" नहीं, वह घड़ी नहीं खुलेगी । "

" मगर खुलती तो है । कल आप खोल रहे थे ? "

" लेकिन वह खोलकर तुझे नहीं दी जा सकती ! "

" तो मैं उसे ख़राब नहीं करूँगा; लल्ली की तरह उसे अँगुली न छुआऊँगा । "

" मगर खोलने से उसमें कचरा गिर जाता है । "

" लेकिन कुछ ही देर देखकर मैं उसे बन्द कर दूँगा । "

" और अगर तेरे हाथ से छूट कर गिर गई तो ? "

" नहीं, आप अपने हाथ में रखकर खोलिये और दिखाइये । फिर तो कोई डर नहीं रहेगा ? "

" मगर इस वक्त मुझे काम है । फिर कभी आना । "

" तो दो ही चार मिनट तो लगेंगे । जितनी देर बात करेंगे, उतने में तो घड़ी खोलकर बन्द भी की जा सकेगी । मैं सिर्फ़ उसके चक्कर देखना चाहता हूँ । "

" लेकिन चाकू कहाँ है ? जाओ, टलो । अभी सिर न खाओ ! "

" चाकू ! अभी लाये देता हूँ, बाबूजी ! लीजिये, यह ले आया । "

" भई, कह दिया न, कि टलो यहाँ से ! मुझे फ़ुरसत नहीं है । कल आना, कल दिखाऊँगा । "

" लेकिन बाबूजी, ज़रा खोल दीजिये न ! एक मिनट का तो काम है । "

" अच्छी बात है, तो ले एक बार खोले देता हूँ: झटपट देख ले ! "

गि

उत्तम गुरु

बालकों के अध्ययन के बिना पुस्तकों का अध्ययन निरर्थक है। गुरु के उपदेश के बिना ग्रंथ का परिचय निरर्थक है। और सबसे उत्तम गुरु तो बालक स्वयं है। क्यों कि बालक बिना बोले उपदेश करता है; क्यों कि उसके उपदेश के पीछे किसी प्रकार का व्यक्तिगत राग-द्वेष नहीं होता; क्यों कि उसका उपदेश उन्हीं सच्चे और सनातन सिद्धान्तों को लेकर होता है, जिनमें सबका हित है।

खानदानी बनो

बालकों को खानदानी सिखाने के लिए पहले माता-पिता को खानदानी बनना चाहिएं।

वे माता-पिता खानदानी हैं, जो अपने स्वार्थ को पीछे रखकर दूसरों के स्वार्थ को आगे रखते हैं।

घर में भी जो माता-पिता अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरों के लिए जीते हैं, वे अपने बालकों को सच्ची खानदानी का पाठ पढ़ाते हैं।

करने से पहले

मारने के बाद बालक को पुचकारो नहीं; और पुचकार कर कभी मारो नहीं। किसी को घायल करके फिर उसके घाव की मरहमपट्टी करने से तो बेहतर यही है कि उसे घायल ही न किया जाय। निन्दा के बाद स्तुति करने से तो अच्छा यह है कि कुछ भी न किया जाय। तिरस्कार करने के बाद फिर सेवा करने से तो कुछ भी न करना ही अच्छा है।

गि०

मुद्रकः—दि० रा० एकतारे, बी० ए०, मध्यवर्ती सहकारी मुद्रणालय, इन्दौर।
प्रकाशकः—काशिनाथ त्रिवेदी, शिक्षण-पत्रिका कार्यालय, ६७, चन्द्रभागा, जूनी इन्दौर, इन्दौर सिटी

[माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र]

वर्ष ५वाँ | प्रधान सम्पादक गिजुभाई और ताराबहन | सम्पादक काशिनाथ त्रिवेदी | २रा अंक

जिन्होंने पढ़ना और पढ़ाना जाना है, उन्होंने अपने जीवन में कुछ धन्य क्षणों का अनुभव किया है। इन धन्य क्षणों के ये अनुभवी ही जीवन के निगूढ़ रहस्यों को पा सके हैं।

बालकों की संगति सुगन्ध से महकते हुए बग़ीचे की सैर के समान है। फिर भी कई ऐसे लोग हैं, जो बच्चों के साथ, उनके बीच में रह कर भी, आनन्द का अनुभव नहीं कर पाते! सौरभ और सुगन्ध के लिए वे पैदा ही नहीं हुए!

हिन्दी शिक्षण-पत्रिका

गुरुजनों की शुभ-कामना

[१२]

विद्याभवन, उदयपुर
८-६-३८

हिन्दी में 'शिक्षण-पत्रिका' अपने ढंग की एक ही पत्रिका है। श्री० गिजुभाईके लेख बड़े ही रोचक होते हैं, और बाल-मनोविज्ञान सम्बन्धी बातों को वे इतनी सरल और सहज भाषा में लिखते हैं कि हरएक माता-पिता उन्हें आसानी से समझ सकता है। इस तरह के लेख श्री० गिजुभाई-जैसे बाल-मनोविज्ञान के आचार्य और अनुभवी शिक्षक ही लिख सकते हैं। उनके लेखों में बच्चों के प्रति प्रेम कूट-कूटकर भरा रहता है। मैं 'पत्रिका' की सम्पूर्ण सफलता चाहता हूँ।

(श्री०)—कालूलाल श्रीमाली
सम्पादक—'**बालहित**'

[१३]

हिन्दी ग्रंथरत्नाकर कार्यालय,
बम्बई ११-६-३८

'शिक्षण-पत्रिका' पाँचवें वर्ष में प्रवेश कर रही है, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। हिन्दी में यह अपने ढंग की एक ही पत्रिका है। बच्चों की शिक्षा और संगोपन पर ऐसा अच्छा साहित्य अन्यत्र दुर्लभ है। 'पत्रिका' द्वारा बड़ा पुण्य कार्य हो रहा है। मेरी हार्दिक कामना है कि इसका अधिक से अधिक प्रचार हो, और आपका परिश्रम सफल हो।

(श्री०)—नाथूराम प्रेमी

[१४]

रायपुर, सी० पी०
१८-६-३८

'शिक्षण-पत्रिका' ने मुझ ग़रीब की ओखली के डण्डे को छू दिया है। माँ के हाथ और बाप की बेंत को 'बस', कहकर रोक दिया है।

बच्चे अब हँसते-खेलते और उछलते-कूदते हैं। और, बात-बात में 'शिक्षण-पत्रिका' कह उठते हैं।

हम दोनों एक-दूसरे को एकटक देखते और हँस देते हैं। यह हमारा कैसा सौभाग्य है!

बच्चों को अपने पल्ले बाँध, किस्मत के सहारे हम उन्हें न जाने क्या बनाने जा रहे थे कि 'शिक्षण-पत्रिका' ने आकर एकदम 'हॉल्ट' कह दिया है।

'देखो, समझो, और ऐसे आओ!' की पुकार के साथ हमारी बाँह पकड़कर 'पत्रिका' हमें प्रकृति की गोद में आज़ादी के साथ हँसने और खेलने के लिए छोड़ देना चाहती है! बधाई!

(श्री०)—प्रभुलाल काबरा

इन्दौर, जोधपुर, बड़वानी, बंबई और मध्यप्रान्त-बरार की सरकारों के
शिक्षा-विभागों द्वारा स्वीकृत।

हिन्दी
शिक्षण-पत्रिका

(माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र)

वर्ष पाँचवाँ — अंक दूसरा

जुलाई, १९३८ — आषाढ़, १९९५

देश में, एक रुपया : वार्षिक मूल्य : विदेश में, दो शिलिंग

हम बड़े-बूढ़े कहलानेवाले लोग प्रायः वातावरण की बातें किया करते हैं; लेकिन वातावरण कहीं बिकाऊ नहीं मिलता; वह तो हमारे ही अन्दर से उत्पन्न होता है। जब हमें वातावरण की तलाश में इधर-उधर भटकना पड़े, तो समझ लेना चाहिए कि हमारे अपने अन्दर इतनी शक्ति नहीं है, कि हम खुद ही वातावरण पैदा कर सकें, अथवा स्वयं वातावरण बन जायें!

घर में ज़रूरत नहीं

ज्योंही मैं एक सज्जन मित्र के घर में जाकर खड़ा हुआ, मुझे वहाँ कुछ अजीब-सा लगने लगा। ऐसा मालूम हुआ, मानो कोई मेरा दम घोट रहा हो। मैंने सोचा, यह बात क्या है? ऐसा क्यों होता है? अपने आस-पास देखा; इधर-उधर देखा। आख़िर एक बात ध्यान में आई: घर में कहीं पैर रखने की जगह न थी—सारी जगह ठसाठस भरी हुई थी। अन्दर हवा आती थी, उजेला भी काफ़ी था, लेकिन जगह की बहुत ही कमी थी।

जगह की इस कमी का कारण था, घर में लगा हुआ ढेरों फर्नीचर। दीवारें तसवीरों से ढँकी थीं। दीवारों के पास कोनों में मेज-कुर्सी और फूलदानियाँ पड़ी थीं। ऊपर पटियों पर किताबें और बरतन रक्खे हुए थे। कहीं छाते लटक रहे थे; कहीं दवा की बोतलें रक्खी हुई थीं। घर में अगर किसीका साम्राज्य था, तो इन तमाम चीज़ों का।

घर के लोगों के लिए घूमने-फिरने, आने-जाने, बैठने, और लेटने-लोटने की बहुत ही कम जगह थी। घरवालों को चीज़ों पर इतना अधिक मोह हो गया था कि वह उनके अपने आराम में बाधक हो रहा था।

अगर काफ़ी जगह न मिले, तो आमतौर पर पेड़ों और पौधों की भी बाढ़ रुक जाती है। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के लिए तो अवकाश पहली आवश्यकता है। शरीर की बाढ़ के लिए घर काफ़ी लम्बा-चौड़ा होना चाहिए। फर्नीचर भी उसमें उतना ही रहना चाहिए, जितना ज़रूरी हो। बच्चों और बड़ों को घूमने-फिरने और दौड़ने के लिए चारों ओर काफ़ी जगह चाहिए। जहाँ चलते-फिरते फर्नीचर सामने आये और चीज़ों के टूटने-फूटने का डर हो, वहाँ कोई पूरी आज़ादी के साथ घूम-फिर नहीं सकता।

घर में फर्नीचर घर के अनुरूप होना चाहिए। बड़े घर में थोड़ा, किन्तु सुन्दर फर्नीचर शोभा दे सकता है। दीवारों पर एक-दो तसवीरें और फ़र्श पर उसकी लम्बाई-चौड़ाई के अनुपात से मामूली दरी आदि का बिछावन या दो-चार कुर्सियाँ अच्छी हैं। लेकिन, इसके कोई मानी नहीं, कि जो देखा और अच्छा लगा, सो ही घर में लाकर रख दिया और घर को दूकान बना दिया। दूकानदार दूकानों में जकड़ जाते हैं। वे दूकान को घर कभी नहीं समझते। दूकान में वे भी दूकान ही की एक चीज़ बनकर रहते हैं। घर में हमारी यह हालत न होनी चाहिए। देखा-देखी चीज़ें बढ़ाते रहने की हमारी आदत अच्छी नहीं है। मुफ्त में मिलने पर भी हमारे लिए वह चीज़ बेकार है, जो घर को रोकती और जगह को कम करती है। यह नियम बाल-बच्चोंवाले घर पर जितना घटता है, उतना ही छड़े या अकेले घरों पर भी घटता है; क्योंकि शरीर को

पहली ज़रूरत आवकाश की है—मन भी तभी स्वस्थ रहता है, जब शरीर स्वस्थ होता है।

वैसे तो जो मन और आत्मा शरीर के अन्दर रहते हैं, वे स्वयं ही अपनी मर्यादा से बँधे हुए हैं। तिसपर, जब हम शरीर को परिग्रहों की मर्यादा से बाँध देते हैं, तो मन और आत्मा की मर्यादायें भी बढ़ती जाती हैं। ढेरों फर्नीचर के बीच तंग जगह में रहना और पक्षाघात से पीड़ित होना, क़रीब-क़रीब एक-सी बात है। इसी तरह जब मनुष्य किसी तंग जगह में बैठा होता है, तो वहाँ बैठे-बैठे वह बहुत विशाल विचार-जगत् की यात्रा नहीं कर सकता—उसे एक प्रकार की अपंगता का अनुभव होता है।

उन्नत जगत् की स्वतंत्रता प्राप्त करने से पहले ज़रूरी है कि हम मानसिक स्वतंत्रता अर्थात् विचार की विशालता आदि प्राप्त कर लें। और, मानसिक स्वतंत्रता पाने से पहले शरीर की स्वतंत्रता पा लें।

यह बात ध्यान में रखने और आचरण में लाने योग्य है कि घर और उसका फर्नीचर शरीर को पराधीन बनाते हैं। आज हमें खुला आकाश, लम्बे-चौड़े मैदान, और खुली जगह इसलिए अच्छी लगती है कि हम हमेशा तंग जगह और तंग विचारों के अन्दर रहते हैं। शहर का जीवन एक प्रकार की तंगी है; गृह-जीवन भी एक प्रकार की तंगी ही है; तिसपर जब हम घर को फर्नीचर से भर देते हैं और उसमें रहते हैं, तो तंगी की हद हो जाती है। हमें चाहिए कि हम इन सब तंगियों से, संकुचितताओं से दूर रहें—इन्हें दूर करें।

गि०

छोटी-सी सेविका

रमा का काम है, चारों ओर घूमना, और, जो जहाँ मिल जाय, उससे हँस-हँस कर बातें करना। अगर किसीकी ओढ़नी छूट गई है, तो रमा उसे फिर पहना देती है। किसीकी घाँघरी और किसीकी चड्डी का नाड़ा बाँध देती है। कोई पाख़ाने जाता है; कोई पेशाब करता है; रमा उसके साथ जाती है, उसको मदद करती है। कोई रोता है, तो रमा से सहा नहीं जाता। रोने-वाले के पास जाकर वह कहती है: 'लो, यह मेरा बटन ले लो।' 'यह देखो, कैसी अच्छी पेन्सिल है, तुम इसे लोगे?' 'लो, यह मेरी कॉपी है, इसमें चित्र बनाओ।' रमा शिक्षिका के पास जाकर कहती है: 'कमला बहन! आज तो मेरे घर मेहमान आये थे। उनके लिए लड्डू बने थे, दाल बनी थी, भुजिये बने थे। कल मेहमान को मैं अपना बाल-मन्दिर दिखाने भी लाऊँगी।'

रमा सारा दिन ओठों में हँसा करती है।

किसीकी सेवा-सहायता करने के बाद जाकर आईने में अपना मुँह देखती है, बाल सँवारती है, और सँवारते-सँवारते तरह-तरह के मुँह बनाकर हँसती है। अगर कहीं ऐसी हालत में शिक्षिका उसे देख लेती हैं, तो वह हँसती-हँसती दूर भाग जाती है। चलती है, तो हथिनी की तरह झूमती हुई चलती है। उसकी चाल में एक ख़ास तरह की धमक है। काम से वह कभी ऊबती नहीं। दिन कब उगा और कब डूबा, रमा को इसका कोई ख़याल नहीं रहता।

वह जबतब कह उठती है: अरे, छुट्टी हो गई? मन्दिर बन्द हो रहा है? अच्छा, तो फिर कल आऊँगी!

रमा आनंदी जीव है। सेवा में उसके जीवन का आनन्द है।

गि०

नई शाला का नया खेल

स्वयं-शिक्षा की एक पाठशाला थी। एक छोटा बालक इधर-उधर घूम रहा था। कुछ समझ न पड़ता था कि वह खुश है या नाखुश। कुछ देर तक वह योंही घूमता रहा। एकाएक उसकी निगाह एक 'खिलौने' पर पड़ी। उसने उसे उठा लिया और खेलने लगा। वह न गुड्डा-गुड्डी का खिलौना था, न हाथी-घोड़े का। लकड़ी की एक लम्बी पेटी-सी थी, जिसमें दस गोल गट्टे-से मालूम होते थे। बालक ने दसों गट्टों को निकाल लिया और खेलने लगा। कभी निकालता था, कभी रखता था। ग़लत खाने में रखकर फिर सही खाने में रखता था! बस, वह तो इस खेल में इतना डूब गया कि कहीं-का-कहीं चला गया। मन बिलकुल शान्त और शरीर एकदम स्थिर हो गया। सिर्फ़ अँगुलियाँ काम कर रही थीं। मुँह पर कभी मुसकुराहट छा जाती थी, और कभी आश्चर्य फूट पड़ता था। रुकने, थमने या आराम करने की फ़ुरसत ही नहीं थी। दूसरे बालक पास ही खेल रहे थे। कौन, कब, किधर जाता-आता था, इसकी उसे बिलकुल चिन्ता न थी। खेल ख़तम हो गया। बालक का जी भर गया। उसने सिर उठाकर अपने आसपास देखा। मुँह पर शान्ति, गम्भीरता और गहरा आनन्द छलक रहा था। वह किसीको ढूँढ़ रहा था। एकाएक उसकी निगाह अपनी शिक्षिका पर पड़ी। वह दौड़ा। अपने नन्हें हाथों को फैलाकर शिक्षिका के पैरों से लिपट गया। शिक्षिका ने प्रसन्नता का प्रसन्नता से स्वागत किया। सारी बातचीत इशारों में हुई। मौन का सम्पूर्ण साम्राज्य था। बालक कृतार्थ हो गया! खेलता-कूदता बाहर चला गया, और खेलनेवाले बालकों में जा मिला। उसके आनन्द ने दूसरों के आनन्द को बढ़ा दिया!

गि०

विमला बहन क्यों रोती हैं ?

मैं रोज सोचती हूँ कि यह विमला बहन रोज़ यों क्यों रोती हैं ?

बालक सब खेल रहे थे। विमला बहन भी खेल रही थीं। मगर कुछ ही देर बाद वह फूट-फूटकर रोने लगीं; किसीकी समझ में नहीं आया कि वे क्यों रोती हैं। जब बहुत पूछा-ताछा, तब बोलीं—"मेरा रुमाल खो गया है, और मिलता नहीं है।" उन्हें बहुत कुछ समझाया और कहा—"चलो ढूँढ़ें।" सब ढूँढ़ने लगे। जब उनसे पूछा कि कहाँ रक्खा था, तो बस फिर गुम-सुम : जवाब दें ही नहीं। सिर्फ़ रोती रहें। इतने में रुमाल मिल गया और वह हँस पड़ीं।

× × × ×

कुछ दिन बाद! एक दिन विमला बहन मेरे पास बैठी कुछ शब्द पढ़ रही थीं। मगन होकर पढ़ रही थीं। इतने में एकाएक रुक गईं। मैंने आँख उठाकर उनकी ओर देखा, तो मालूम हुआ, शब्दों की पोथी हाथ की हाथ में है, और आँखों से टप्-टप् आँसू झड़ रहे हैं। मुझे आश्चर्य हुआ। कोई बात नहीं थी। तो फिर एकाएक विमला बहन रोने क्यों लगीं? देखा, कहीं बुख़ार तो नहीं! पूछा, पेट में दर्द तो नहीं? कोई तकलीफ़ तो नहीं? मगर वह थीं कि टस से मस न हुईं; बराबर रोती ही रहीं। फिर मैंने उन्हें गोद में लेकर पूछा—विमला बहन, तुम कहोगी नहीं, तो हमें मालूम कैसे होगा? कहो तो; तुम्हारी कोई चीज़ खो तो नहीं गई? तब सिसकते हुए धीमे से बोलीं—"हाँ, मे...री कं...घी।"

मैं तुरन्त समझ गई। सुबह हाज़िरी के समय सबने अपनी-अपनी कंघियाँ दिखाई थीं। विमला बहन ने भी दिखाई थी। उसके बाद उसे ठिकाने रखना शायद वह भूल गई थीं। मैंने कहा—"तो यों रोती क्यों हो? चलो, हम उसे ढूँढ़ निकालें। पहले अपनी मेज़ की दराज़ में तो देखो।"

इस डर से कि कहीं उसमें न हुई तो क्या होगा, वह धीमे पैरों मेज के पास पहुँचीं और काँपते हाथों उन्होंने दराज खोली। देखा, तो कंघी वहीं पड़ी थी! बस, खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

मैं सोचने लगी— विमला बहन यों रोती क्यों हैं?

इसके बाद एक दिन इसके कारण का भी पता चला। बात-चीत के सिलसिले में वह खुद ही एक दिन कह गईं—"कहीं रुमाल खो जाय, तो मेरी माँ मुझे मार ही डालें!"

ता०

'कहाँतक कहूँ ?'

" मैं तुमसे कहाँ तक कहूँ "

हमारे बहुतेरे घरों में यह वाक्य सुनाई पड़ता है ।

माता या पिता बालक से एक दफ़ा कहते हैं, दो दफ़ा कहते हैं, तीन दफ़ा और चार दफ़ा कहते हैं; तिसपर भी जब बालक नहीं सुनता, तो वे कहते हैं : "अरे, मैं तुझसे कहाँ तक कहूँ ?"

माता या पिता के तीन—चार हुक्म बिलकुल खाली जाते हैं; और जब वे बेताब होकर डाँटने लगते हैं, तो बालक उठकर जाता है और हुक्म बजा लाता है ।

यह हालत न माता-पिता के लिए अच्छी है, न बालक के लिए । एक ओर माँ-बाप की परेशानी बढ़ती है, और दूसरी ओर बालक अधिकाधिक बेकहा और बेहया बनता चलता है ।

इसका कोई उपाय होना चाहिए और किया जाना चाहिए । सबसे पहले तो माँ या बाप को हुक्म देते समय सोचना चाहिए कि वैसा हुक्म देना उचित है या नहीं । हमें हुक्म ही अनुचित मालूम होता हो, तो उसका विचार छोड़ देना चाहिए, और उसे मनवाने की ज़िद न करनी चाहिए ।

अगर कोई काम करने योग्य है, तो समय और स्थान देखकर बच्चों को उसे करने की आज्ञा देनी चाहिए । यदि बालक किसी ऐसे काम में या विचार में लगा हो कि जब वह हमारा कहा कर नहीं सकता, तो थोड़ा ठहरकर यानी मौक़ा देखकर कहना चाहिए । बालकों को अक्सर हमारी राह देखनी पड़ती है, धीरज रखनी पड़ती है : इसी तरह हमें भी राह देखना और धैर्य रखना सीखना चाहिए ।

आमतौर पर हमारा एक ही हुक्म बस होना चाहिए । दुबारा हुक्म देना ही न चाहिए। अगर एक बार में काम न हो, तो सोचना चाहिए कि ऐसा क्यों हुआ !

बालकों का तो यह हाल है कि जैसा हम चलाते हैं, वैसा वे चलने देते हैं । अगर उन्हें दो-चार बार मामूली तौर से सुनने के बाद डाँट खाकर ही काम करने की आदत पड़ गई है, तो फिर वे एक बार की कही बात पर ध्यान ही न देंगे ।

उकताकर या परेशान होकर हुक्म छोड़ना ठीक नहीं । जो भी काम कराना हो, नरमी से, विवेक के साथ, कराना चाहिए । और जिस आसानी के साथ बड़ों से हम काम लेते-देते हैं, उसी तरह छोटों से भी लेना-देना चाहिए ।

जब हम बच्चों को छोटा समझकर उनका उचित सम्मान नहीं करते, तो काफ़ी बड़ी ग़लती करते हैं । बच्चों के सम्बन्ध में छोटेपन का यह विचार हमें छोड़ देना चाहिए ।

जब हालत ऐसी हो जाय कि दो-चार बार कहने पर भी बालक हमारी न सुनें

तो हमें इस बात की चर्चा उनके सामने नहीं करनी चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से बालक ज्यादा बेहया और बेकहे बनते हैं। उनके बारे में कभी कोई अच्छी या बुरी बात उनके सामने न कहना ही अच्छा है।

जहाँ घर में दो-चार प्राणी होते हैं, और एक के विचार दूसरे से अलग पड़ते हैं, वहाँ बालकों की बन आती है। जो मत या विचार जिस समय बालकों को पसन्द होता है, उस समय वे उसी पक्ष में जा मिलते हैं। इससे बालक कभी इसकी ओर और कभी उसकी ओर मिलकर सबसे बेवफ़ाई करता है : सबको धोखा देना सीख जाता है। घर के लोगों में, यानी बड़े-बूढ़ों में छोटी-मोटी कई बातों पर आपसी मतभेद हो सकता है। इसका यह तरीक़ा नहीं है कि यह मतभेद बच्चों के सामने प्रकट किया जाय, और उन्हें भुलावे में डाला जाय। तरीक़ा तो यह है कि जो सर्व सम्मत राय हो, वही बालकों के सामने आये और बालक उसीपर निर्भर करें--उसी को मानें।

सच तो यह है कि बालकों को ज़बर्दस्ती अपनी ओर खींचना आवश्यक नहीं है। जबतक उन्हें अच्छा लगेगा, वे हमारे साथ रहेंगे; और जब हमारे हुक्म उनके लिए असह्य हो जायँगे, वे हमें छोड़कर भाग जायँगे।

दो, चार या पाँच बार कहने पर भी अगर बालक सुनते नहीं हैं, तो इसका यही मतलब होता है कि बालकों के हृदय में माता-पिता के प्रति कोई आदर नहीं है; और न माता-पिता का उनपर कोई वज़न पड़ता है। जहाँ घर में माँ-बाप का आपस में एक-दूसरे पर कोई वज़न नहीं है, वहाँ बालक किसीको दाद नहीं देते।

गि०

नूतन गणित-शिक्षण

(७)

अब हम बीस से सौ तक की गिनती के ज्ञान का विचार करेंगे। यहाँ हम बालक को इक्कीस, बाईस, तेईस, इस प्रकार से संख्या नहीं सिखायेंगे। बल्कि सीधे दशक की रीति से संख्याओं का ज्ञान करायेंगे। पर भाषा को बदलना यहाँ भी आवश्यक हो जाता है। बीस, तीस, चालीस पचास, साठ, सत्तर, अस्सी और नब्बे के बदले बालक को दो दस, तीन दस चार दस, पाँच दस, छः दस, सात दस, आठ दस और नौ दस, की परिभाषा सिखाई जाती है। इससे बालक का काम बहुत ही आसान हो जाता है। इसमें बालक को एक भी नया शब्द याद रखनेकी ज़रूरत नहीं पड़ती। मोतियों की पेटी में से मोतीवाली सींकें लेकर वह उन्हें अचूक गिन जाता है। दो दस के लिए बालक दस-दस की दो सींकें लेता है। तीन दस के लिए दस-दस की तीन

सींकें और इसी प्रकार नौ दस के लिए नौ सींकें लेकर सारी गिनती कर जाता है। इसके बाद उसे इन संख्याओं की संज्ञा सिखाई जाती है। इसके लिए एक लम्बा पटिया होता है, जिस पर १०, २०, ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, और ९० लिखा रहता है। बालक मोतीवाली सींकों में से एक-दस की एक सींक लेकर दस के अंक पर रखता है। दो-दस के लिए दस की दो सींकें लेकर २० पर रखता है। इस प्रकार ९० तक वह ऐसा ही करता है। इस तरीक़े के से संख्या के साथ उसकी संज्ञा का भी मेल मिलता जाता है। फिर २०, ३०, आदि के बीच में आनेवाले अंकों का प्रश्न रह जाता है। इसके लिए भी साधन तो मोती की सींकोंवाली पेटी और १०, २०, ३० वाले अंकों के पटिये ही हैं। इनके सिवा १, २, ३ से ९ तक के अंकोंवाले उन छोटे पटियों की भी ज़रूरत है, जो दस से उन्नीस तक के अंक तैयार करने में काम आये थे।

शुरू में मोती की सींकोंवाली पेटी में से दस की दो सींकें निकालकर उनमें एक मोतीवाली सींक मिलाई और बालक के सामने रक्खी जाती है। फिर हम बालक से पूछते हैं: ये कितने हैं? इस पर बालक स्वयं ही कह सकेगा कि ये दो दस और एक हैं। वैसे तो इन बीच के अंकों को बालक स्वयं ही बनाता रहता है; क्योंकि इस सम्बन्ध की उसकी सारी तैयारी हो चुकी होती है। दो-दस और एक, दो-दस और दो तीन-दस और एक, तीन-दस और दो, इस तरह नौ-दस और नौ तक की सभी संख्याओं में बालक को नया कुछ सीखना नहीं पड़ता। वह दो-दस, तीन-दस, चार-दस, यों नौ-दस तक सब जान चुका होता है। इन दोनों को मिलाकर बालक दो-दस और एक से लेकर नौ-दस और नौ तक का संख्याज्ञान और संज्ञाज्ञान पा लेता है। यहाँ हम इस इस बात को सोच लें कि इस प्रकार संख्या की परिभाषा में हेरफेर करने की ज़रूरत है या नहीं? बालकों का हमारा अनुभव तो यह कहता है कि यह हेर-फेर बालकों के हित की दृष्टि से बहुत आवश्यक है। सौ तक की गिनती का ज्ञान कराने में आजकल जितनी मेहनत उठानी पड़ती है, और जितना लम्बा समय देना पड़ता है, परिभाषा के इस हेर-फेर से उसकी ज़रूरत नहीं रह जाती और बालक बड़ी आसानी से १०० तक की गिनती सीख लेते हैं। कई बार हमने यह देखा है कि बालक को संख्या का ज्ञान तो होता है, परन्तु इन नये सौ शब्दों को याद न रख सकने के कारण वह ५४ को ६४ और ८९ को ७९ लिख देता है। और इस प्रकार एक साथ सौ नये शब्दों को याद रखने से बालक को संख्या का पूरा-पूरा परिचय भी नहीं हो पाता। उसका समस्त ध्यान इन शब्दों को याद रखने में लग जाता है; और फलतः उसका संख्या-ज्ञान अधूरा रहता है। अतएव बालक के संख्या-ज्ञान को पक्का बनाने के लिए परिभाषा का यह हेर-फेर आवश्यक और उपयोगी मालूम होता है।

इसके सिवा, एक दूसरी दृष्टि से भी परिभाषा का यह हेर-फेर आवश्यक है। किन्तु उसका विचार हम अगले अंक में करेंगे। शं०

क्यों मारते हैं ?

शिक्षक और माता-पिता बच्चों को क्यों मारते हैं, इसके अनेक कारण कुछ मित्रों ने हमारे पास भेजे हैं। उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं :

क

शिक्षक बालकों को क्यों मारते हैं ?

क्योंकि बालक—

१. ऊधम मचाते और सबक़ याद नहीं करते।

२. दो-दो, तीन-तीन बार समझाने पर भी नहीं समझते।

३. दूसरे लड़कों को चिढ़ाते, सताते और पीटते हैं।

४. क्लास में समय पर नहीं आते। ज़रूरी सामान भूल कर आते हैं। प्रायः नियमों का भंग करते हैं, और व्यवस्थित नहीं रहते।

५. कपड़े साफ़ नहीं रखते।

६. आपस में मार-पीट करते और एक-दूसरे की शिकायत लेकर आते हैं।

७. एक ही ग़लती बार-बार करते हैं।

८. पुस्तकें और कॉपियाँ साफ़ नहीं रखते।

ख

शिक्षक मारते हैं—

१. हमेशा देर से आने या बिलकुल न आने की आदत मिटाने के लिए।

२. बुरी सोहबत और बुरी आदतें छुड़ाने के लिए। गाली बकना छुड़ाने के लिए। विनय और नम्रता सिखाने के लिए।

३. सबक़ याद न करने या सिखाई हुई बात भूल जाने के लिए।

४. सहपाठियों के साथ शरारत करने, झूठ बोलने, गन्दा रहने, धोखा देने या हुक्म न मानने के लिए।

५. लिखने-पढ़ने में ग़लती करने और सिखाई हुई बातों पर ध्यान न देने के लिए।

६. पट्टी और पुस्तकें फोड़ने, फाड़ने या चुराने के लिए।

ग

माता-पिता बच्चों को क्यों मारते हैं ?

१. स्कूल में न जाने के लिए। भाई-बहनों से डाह करने के लिए। ऊधम मचाने के लिए। खाने की चीज़ों का हठ करने के लिए।

२. पैसे माँगने के लिए। गाली बकने के लिए। मुहल्ले के लड़कों से लड़ने-झगड़ने या मार-पीट और गाली-गलौच करके शिकायत लाने के लिए।

३. अपनी बात न सुनने के लिए। चीन्हा हुआ काम न करने के लिए। खेलकर देर से आने के लिए। और, इनकार करने पर भी न सुनने के लिए।

४. नहाते समय रोने या ज़िद करने के लिए। अपने छोटे भाई-बहनों को न खेलाने के लिए। माँ के काम में दख़ल देकर कुछ तोड़ने-फोड़ने या गिरा देने के लिए।

५. एक ही बात को बार-बार पूछने के

लिए। काम में रुकावट डालने के लिए। रात को बिछौने में पेशाब कर देने के लिए, अथवा आँगन में पाखाना फिरने के लिए।

घ

१. एक साथ मिलकर ज़ोरों का शोर-गुल मचाने के लिए; लड़-झगड़ कर मार-पीट करने; रोकने पर भी न रुकने; सुनी-अनसुनी करने और मार खाकर चुप बैठे जाने के लिए।

२. अड़ौसी-पड़ौसी और घरवालों को चिल्ला-चिल्लाकर बेहद परेशान करने के लिए।

कुशल शिक्षक ?

बालक एक कतार में बैठे हैं। शिक्षक उन्हें कुछ सुना रहे हैं। वह बोलने में बड़े कुशल हैं। बालक एकटक उनको,—उनके मुँह को, उनके हाव-भाव को—देखने में तल्लीन हैं। शिक्षक की वाणी ने सबको मंत्र-मुग्ध-सा कर रक्खा है। शिक्षक भला आदमी है। उसने कूट-पीस कर, मिर्च-मसाला मिलाकर, कई चीज़ें तैयार की हैं। अपनी इन तैयार चीज़ों को वह बड़े प्रेम से बच्चों के सामने रखता है। बालकों को ये चीज़ें न तो चबानी पड़ती हैं, न निगलने की मेहनत करनी पड़ती है। सब कुछ सटासट गले के नीचे उतरता जाता है। शिक्षक पूछता है: 'क्यों, समझे ?' बालक कहते हैं: 'जी हाँ; अच्छी तरह समझ गये'। शिक्षक पूछता है: 'क्या समझे ?' बालक जो सुना है, वही फिर सुना देते हैं। शिक्षक पूछता है: 'लेकिन यह ऐसा क्यों हुआ ? इसका कारण क्या ?'

बालक कार्यकारण की उस परम्परा को, जो उन्हें शिक्षक से मिली थी, फिर यथावत् शिक्षक को सुना देते हैं। शिक्षक सोचता है: 'आज काम बहुत अच्छा हुआ।' विद्यार्थी सोचते हैं: 'आज हमने बहुत सीखा।'

परीक्षक आते हैं, और एक सीधा-सादा नया सवाल पूछते हैं। लड़के बगलें झाँकने लगते हैं- किसीसे कुछ बन नहीं पड़ता। परीक्षक अपनी रिपोर्ट में लिखते हैं: "विद्यार्थी समझदार हैं। याददाश्त भी अच्छी है। पका-पकाया खाने की शक्ति है। पर खुद पकाने की ताकत नहीं—स्वयं बुद्धि नहीं, कल्पना नहीं।"

शिक्षक सोचता है: 'यह मेरी प्रशंसा है, या निन्दा ?'

गि०

: १ :

सिर्फ़ लिखने-पढ़ने की शिक्षा मनुष्य को पंगु बनानेवाली शिक्षा है।

: २ :

संस्कार शिक्षा से नहीं, वातवरण और सत्संग से प्राप्त होते हैं।

सुनो बेटा !

तुम नींद की गोद में निश्चिन्त पड़े हो, और मैं तुम्हारे सिरहाने खड़ा-खड़ा यह सब कह रहा हूँ। कुछ ही देर पहले मैं अपने पुस्तकालय में बैठा किताबें उलट-पलट रहा था कि अचानक एक दुःखद अनुभूति ने मुझे व्याप लिया। मुझसे नहीं रहा गया और मैं तुरन्त ही एक अपराधी की तरह तुम्हारे सिरहाने आकर खड़ा हो गया।

बेटा, मेरे मन में इस समय रह-रह कर यही बात उठ रही है कि आज दिनभर में मैं कितनी बार तुम पर नाराज़ हुआ, किस-किस तरह तुम्हें डाँटा-डपटा ! तुम पाठशाला जाने के लिए निकले थे कि मेरी नज़र तुम पर पड़ी। मैं दहाड़ उठा : "कैसे गँवार हो ? ठीक-से मुँह भी धोना नहीं जानते ! जाओ, अच्छी तरह मुँह धो लो !" फिर टोपी पर निगाह पड़ी और मैं आग-बबूला हो उठा। मैंने कहा : "यह टोपी कैसी पहनी है ? बेशऊर कहीं के।" और तड़ से एक तमाचा जड़ दिया।

जब तुम पाठशाला से लौटे और एक किताब तुम्हारे हाथ से नीचे गिर पड़ी, तो मैंने तुमको बुरा-भला कहा। तुम मेरे साथ खाने बैठे। खाते-खाते तुम्हारे हाथों थोड़ी दाल ढुल गई। मैंने उसी वक्त तुम्हें आड़े हाथों लिया। जब तुम खाने लगे, मैंने फिर तुम्हें टोका : "इतनी जल्दी क्यों करते हो ? क्या पानी बरस रहा है ? ठीक-से क्यों नहीं खाते" ? तुम उदास होकर बैठे थे। मैंने तुमसे कहा : "कैसे हो जी ? अच्छी तरह बैठना भी नहीं जानते ?" और इसीपर एक लम्बा लेक्चर झाड़ दिया। फिर, जब मैं ऑफिस में जाने लगा, तो देखा तुम खेलने जा रहे हो। तुमने मुझे देखा और तुम मुसकुरा दिये। मैंने तुम्हारा दिल बढ़ाने के बदले तुम्हें डाँटा, और कड़क कर कहा : "बुड्ढों की तरह कमर झुका कर क्यों चलते हो ? तनकर क्यों नहीं चलते" ? शाम को मैं घर लौट रहा था। मैंने देखा, तुम मुहल्ले के लड़कों के साथ खेल रहे हो ! तुम्हारा कुर्ता फट रहा था। मैंने वहीं तुम्हें डाँटा और मित्रों के सामने तुम्हें शरमिन्दा किया। तुमको कुर्ता सिलाने के लिए, उसी वक्त, खेल छोड़कर घर आना पड़ा। मैंने यह भी कहा : "तुम्हें कौन कमाना पड़ता है ? गाँठ के पैसे खरचने पड़ते, तो पता चलता कि क्या होता है" ! अरेरे ! एक बाप अपने बेटे से ऐसी बातें कहता है ? इस वक्त उन बातों पर सोचता हूँ, तो अपनी बेवकूफी पर खुद ही शरमिन्दा होता हूँ।

और बेटा, जानते हो ? रात, खाने के बाद तुम मेरे कमरे में आये और मुझसे लिपट गये। मगर मैं दुर्भागी चिढ़ पड़ा और बोला : "क्या है ? क्यों आये हो" ? तुम सिटपिटा गये और "नहीं, कुछ नहीं"। कहते हुए चुपचाप लौट गये।

बेटा, प्यारे बेटा ! तुम्हारे लौटने के कुछ ही देर बाद मेरे हाथ से काग़ज़ छूट पड़े। अचानक दुःख और परिताप की एक भयंकर अनुभूति ने मुझे घेर लिया। एकाएक मेरे हिये की आँखें खुल-सी गईं और मैं अपने आपको वैसा ही दीखने लगा, जैसा तुमको दीखता हूँ ! उफ़ ! मैं कैसा स्वार्थी हूँ ! कितना निरंकुश ! मैं तिलमिला उठा। आँखें भर आईं।

धीरे-धीरे मुझे सब याद आने लगा—मैंने हमेशा तुम्हारे दोष ही देखे, तुम्हें बुरा-भला ही कहा, डाँटा-डपटा, मारा-पीटा ! तुम एक नन्हें-से बालक हो; मैं तुम्हारा पिता हूँ। मेरी ओर से तुम्हें यही 'उपहार' मिले हैं !

मैं सोचने लगा : "क्या मैं अपने पुत्र से प्रेम नहीं करता !" उत्तर मिला : "क्यों नहीं"? मेरे हृदय में तुम्हारे लिए ममता तो है। लेकिन मैं एक छोटे बालक से एक बड़े आदमी की-सी सुरुचि और सुघड़ता चाहता हूँ। मैं अपनी उमर की योग्यता के माप से तुम्हें मापना चाहता हूँ—मानो तुम उम्र में मेरे समान हो !

अब जब गहरा पैठ कर सोच रहा हूँ, तो देखता हूँ कि तुम्हारे आचरण में कितनी सरलता और सुन्दरता भरी है ! सचमुच, मैं जो बात-बात में तुम्हें टोका करता था, उसकी तुम्हें ज़रा भी ज़रूरत नहीं थी। तुम्हारा हृदय तो प्रभात की तरह निर्मल और विशाल था; उदार और उत्सुक था। मैं दिनभर तुम्हें डाँटता रहा, फिर भी शाम को आकर तुम मुझसे लिपट गये ! हाय रे दुर्भाग्य ! उस समय भी मुझसे तो तुमने झिड़की ही पाई !

बेटा, अब तुम बेफ़िकर हो जाओ ! अब रास्ता साफ़ है। मेरी आँखें खुल गई हैं। आज तुम्हारे सिरहाने खड़े होकर मैंने अपने मन का मैल धो डाला है। मैं लज्जित हुआ हूँ और नम्र बना हूँ। लेकिन यह सब पर्याप्त नहीं है। मुझे तो अपने जीवन का नया पन्ना खोलना है; नये यज्ञ की दीक्षा से दीक्षित होना है; मन को धो-धोकर नितान्त निर्मल बनाना है। हो सकता है, मेरी ये बातें तुम्हारी समझ में न आयें; फिर भी मुझे तो तुम्हारे सामने अपनी कमज़ोरी स्वीकार कर ही लेनी चाहिए। परमेश्वर को साक्षी बनाकर मैं आज निश्चय करता हूँ कि कल से मैं तुम्हारा सच्चा पिता बनने का यत्न करूँगा। तुम्हारा मित्र बनूँगा। तुम्हारे दुःख से दुखी और सुख से सुखी होऊँगा। तुम्हारे साथ रोऊँगा, और तुम्हारे साथ हँसूँगा। अगर जल्दी में क्रोध के कारण कड़ी बातें ज़बानपर आयेंगी भी, तो मैं अपनी ज़बान काट लूँगा। एक धार्मिक मंत्र की भाँति मैं इस मंत्र को जपता रहूँगा : "यह अभी बालक है : निरा, निर्दोष बालक !"

मेरी सबसे बड़ी ग़लती यही थी कि मैंने तुमको बड़ा समझ लिया था। इस समय जब मैं देखता हूँ कि तुम थक-थकाकर बिछौनेपर बेभान सोये हो, तो मालूम होता है कि सचमुच तुम छोटे हो—कहाँ तुम्हारे हाथ पड़े हैं, कहाँ तुम्हारे पैर, और कहाँ तुम्हारे कपड़े ! अभी

तुम्हारी उमर ही क्या है ? कुछ ही दिन पहले तुम अपनी माँ का दूध पीते थे, माँ की गोद में सोते, माँ के कंधेपर सिर रखते और माँ का हाथ पकड़कर चलते थे ! सचमुच, मैंने तुमसे बहुत बड़ी बातें चाहीं, बहुत ही बड़ी !

बेटा, अभी–अभी तुम मुझसे मिलने आये थे और मेरे गले लिपट गये थे। हाय, तब भी मैंने तुम्हें डाँट दिया और तुम मुँह लटकाये लौट आये। बस, तुम्हारी उन वेदना भरी आँखों ने मेरी आँखें खोल दीं। पश्चात्ताप की पीड़ा से मेरा दिल मसोस उठा। मैं रो पड़ा। प्रेम का एक उफान-सा मेरे हृदय में आ गया और मैं दौड़ कर तुम्हारे सिरहाने आ झुका।

प्यारे बेटा, मेरे नन्हें-से बेटा। आज रात की इस शान्त, स्निग्ध चाँदनी में, बचपन के मंदिर में बैठी हुई तुम्हारी इस मूर्ति के चरणों में, मेरा यह परिताप दग्ध हृदय शत–शत प्रणाम करता है। मुझे माफ़ करो। मुझे बल दो।

एक पिता

[सोया हुआ बालक और उसका बिछौना माता-पिता के लिए एक सुन्दरतम मन्दिर है। उससे बढ़कर पवित्र स्थान और कौन हो सकता है, कि जहाँ मनुष्य के हृदय की डोरी सीधे अनन्त के साथ सँध जाती है, और परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभव कर सकती है ? इसी मन्दिर से प्रेम के पवित्र झरने बहते हैं, और हास्य की फुहारें उड़ती हैं। यही मन्दिर विश्वास और आनन्द से हमारे जीवन को परिपूर्ण कर देता है। प्रत्येक माता-पिता को अपने सोते हुए बालकों के सिरहाने बैठकर अन्तरतम की प्रार्थना और पूजा कर लेनी चाहिए।

सोये हुए बालक के सिरहाने आदमी अपने बनाये हुए ऊँच-नीच और छोटे-बड़े के ख़याल को भूल जाता है, और परमात्मा की इस सुकुमार मूर्ति के आगे द्रवित होकर झुक सकता है।

अगर अपने बचपन की याद करके हम अपने बच्चों के बचपन को समझ सकें, उनके साथ पुनः बच्चे बनकर बच्चों की तरह बढ़ने का आनन्द लूट सकें, तो सहज ही बच्चों के प्रीति-पात्र बन जायें, विश्वास-पात्र बन जायें, और ऐसे मित्र और सखा भी बन जायें, कि जिनके बीच कोई पर्दा न हो, दुराव-छिपाव, और डर-वर न हो ! संसार में किसी भी स्त्री या पुरुष के लिए इससे बढ़कर सौभाग्य की और कौन बात हो सकती है ? इससे अधिक और क्या किसीके लिए इस लोक या उस लोक में इष्ट या वांच्छ-नीय हो सकता है ?

ऊपर एक पिता का जो 'पश्चात्ताप' दिया है, वह यहाँ दूसरे सब पिताओं को सादर समर्पित किया जाता है। आशा है, वे इसे पढ़ेंगे, और पढ़-कर न केवल खुद लाभ उठावेंगे, बल्कि अपने उन छोटे-छोटे बच्चों और बच्चियों को भी इस लाभ में शरीक करेंगे, जो आज घर-घर में कई तरह दबाये, कुचले, और अपमानित किये जाते हैं।

सं०]

खेलने का दिन : काम का दिन

आज भी रामू को चित्र बनाने में मज़ा आता है। वह ऐसा तो मन-मौजी है कि अगर चित्र बनाने बैठता है, तो सारा दिन चित्र ही बनाया करता है। नहीं तो, महीनों हाथ में पेंसिल तक नहीं पकड़ता। यह उसकी मर्जी की बात है। वह शिक्षक से कहता भी नहीं कि मैं चित्र नहीं बनाऊँगा। वह तो अपनी रुचि का कोई काम चुन लेता है, और उसमें डूब जाता है। कभी-कभी शिक्षक से कह भी देता है : "भाईजी, आज मैं चित्र का काम बिलकुल न करूँगा। आज तो पढ़ने का भी दिल नहीं होता। बस, आज सारा दिन खेलूँगा"। इतने में भवानी आता है, और कहता है : "भई, आज तो खेलना चाहिए। मौसिम बड़ा सुहावना है। मज़ा आ जायगा"। विनू शामू से कहता है : "बड़ी सुहावनी धूप है—चलो थोड़ा घूम आयें"। सब जाकर शिक्षक से कहते है : "भाईजी हम धूप में जाकर खेलें" ? शिक्षक कहते हैं : "हाँ-हाँ, जाओ! काम कल हो रहेगा।" और सभी झटपट जाने को तैयार हो जाते हैं। जाते-जाते कोई शिक्षक से चिपट जाते हैं, कोई उनको प्रेम भरी निगाह से देख-भर लेते हैं, और कोई ऐसे भी हैं, जो एकदम सीधे मैदान में पहुँच जाते हैं। सभी जी भर कर खेलते हैं। बड़ी देर तक खेलते हैं। कोई उन्हें बुलाता नहीं—कहता नहीं, कि चलो, वापस क्लास में चलो। दो-घण्टे बीत जाते हैं, तीन घण्टे बीत जाते हैं; और फिर एकाएक अपने आप सब क्लास में लौट आते हैं, और लिख-लिखकर पढ़-पढ़कर या चित्र बना-बनाकर शिक्षक को दिखाने दौड़ते हैं।

मगर शिक्षक का कहीं पता नहीं है। बालक उन्हें जहाँ—तहाँ ढूँढ़ते हैं। चन्द्रकला हँसती-मुसकुराती शिक्षक के पास दौड़ी जाती है और अपने अक्षर दिखाकर कहती है : 'पहले से ये अच्छे हैं'। पुष्पा अपनी तोतली बातों से सबको हँसाती है।

सभी आनन्द और उत्साह के साथ अपने-अपने काम में मगन हैं!

गि०

दिन में सिर्फ़ पाँच मिनट सोचकर देखिये :

सोचिये कि बालक हमारे पालक हैं, और हमें उनके हुक्म में चलना है ?

सोचिये कि बालक ही हमारे जीवन के नियम बनानेवाले हैं, और हम चुपचाप उन नियमों का पालन करनेवाले हैं ?

सोचिये कि बालक ही हमें पढ़ाते हैं, खेलाते हैं, घूमने-फिरने को ले जाते हैं; और हमें तो उनकी आज्ञाओं का पालन-भर करना है ?

दिन में सिर्फ़ पाँच ही मिनट आप इस तरह सोचकर देखिये!

गि०

बाल-अध्यापन-मन्दिर, राजकोट

(पाठ्यक्रम और प्रवेश-नियम)

[श्री० गिजुभाई के संचालकत्व में ३० जुलाई, १९३८ से शुरू होनेवाले बाल-अध्यापन-मन्दिर, राजकोट का पाठ्य-क्रम और उसके कुछ प्रवेश-नियम हमें प्राप्त हुए हैं। नीचे अपने पाठकों की जानकारी के लिए हम उनको थोड़े में उद्धृत करते हैं। —सं०]

पाठ्यक्रम की सामान्य रूपरेखा :

अध्यापन-मन्दिर के पाठ्यक्रम में मुख्यतः नीचि लिखे विषयों का विशेष ज्ञान कराया जायगा।

१. जीवन का वास्तविक संघटन; २. राष्ट्रीयता की शिक्षा; ३. कला की व्यापक दृष्टि; ४. हस्तकला या दस्तकारी का सामान्य ज्ञान; ५. बाल-आरोग्य-विज्ञान का प्राथमिक ज्ञान; ६. शिक्षा में वैज्ञानिक दृष्टि का उपयोग; ७. मोण्टीसोरी एवं अन्य आधुनिक शिक्षा पद्धतियों का तात्त्विक और व्यवहारिक ज्ञान; ८. हिन्दी भाषा का सामान्य ज्ञान; ९. प्राथमिक शिक्षा के काम में नई दृष्टि और रुचि; १०. माता-पिताओं को सुशिक्षित बनाने की दृष्टि; ११. लोक-गीत और लोक-साहित्य का परिचय; १२. अक्षर ज्ञान योजना का प्रत्यक्ष प्रयोग; १३. यात्रा द्वारा लोगों का और शिक्षा का अभ्यास; १४. देश-विदेश की शिक्षा का इतिहास और शिक्षा-संस्थाओं एवं शिक्षा-पद्धतियों का सामान्य ज्ञान; १५. गाँवों का सामान्य अनुभव और उनकी सेवा।

पाठ्य पुस्तकें :

पाठ्य पुस्तकें हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में रहेंगी। व्याख्यान प्रायः गुजराती में दिये जायँगे। पुस्तकें और निबंध प्रमाण-पत्र-प्राप्ति के आवश्यक अंग माने जायँगे।

प्रवेश—नियम :

१. प्रवेश चाहनेवाले भाई-बहनों को हमारा छपा हुआ आवेदन पत्र और आवेदन पत्र के साथ डिपॉज़िट के रु. १०) म. ऑ. से भेजने चाहिएँ।

२. आवेदकों को स्वीकृति या अस्वीकृति की सूचना यथा-समय दी जायगी।

३. प्रवेश-प्राप्त भाई-बहनों को नियत समय पर उपस्थित रहना चाहिए।

शुल्क के नियम :

४. शुल्क के और अन्य आवश्यक खर्चे के रुपये सबको अपने साथ ही लाने चाहिएँ। किसी से उधार लेना या उधारी का व्यवहार करना मना है।

५. प्रत्येक विद्यार्थी से पुस्तकालय शुल्क का रु. १) लिया जायगा।

६. साल के दो सत्र रहेंगे। प्रत्येक सत्र का शिक्षण-शुल्क प्रति विद्यार्थी रु० २०) होगा। भोजन तथा छात्रावास का शुल्क पहले सत्र के तीन महीनों का रु. ४५) होगा; और यह एक मुश्त पेशगी देना होगा। दूसरे सत्र का भोजन और छात्रावास-

शुल्क भी पेशगी लिया जायगा। यह रु० ९०) होगा। दोनों सत्रोंका भोजन और छात्रावास शुल्क कुल रु. १३५) होगा।

सत्र का शिक्षण-शुल्क सत्र के आरंभ में प्रति विद्यार्थी रु० २०) के हिसाब से लिया जायगा।

७. प्रत्येक विद्यार्थी को यात्रा-ख़र्च के लिए रु० २०) शुरू ही में जमा कराने होंगे। यह रकम शिक्षा की दृष्टि से की जानेवाली यात्राओं में ख़र्च होगी।

८. शुल्क न देनेवालों को तुरन्त पृथक् कर दिया जायगा।

९. किसी भी विद्यार्थी को निःशुल्क प्रवेश न मिलेगा।

१०. प्रत्येक विद्यार्थी को क़रीब रु० १०) से रु० १५) तक की पुस्तकें ख़रीदनी होंगी।

विद्यार्थी अपने साथ क्या-क्या लायें ?

१. हरएक विद्यार्थी को अपने साथ कम से कम तीन जोड़ कपड़े लाने चाहिएँ।

२. पहनने के कपड़ों के अतिरिक्त बिस्तर, तौलिये, रुमाल, चादर, लोटा, थाली, कटोरी, चम्मच, रकाबी, प्याला, दरी, छत्री, चप्पल या बूट, आईना, कंघी, आदि आवश्यक चीज़ें अपने साथ लानी चाहिएँ।

३. अपनी प्रत्येक चीज पर विद्यार्थी को अपना नाम लिख लाना चाहिए।

मिट्टी खाने की आदत छुड़ाने के उपाय

[इस सम्बन्ध में एक मित्र ने नीचे लिखी सूचनायें भेजी हैं, जो आज़माने योग्य हैं। जो सज्जन इन पर अमल करें और लाभ उठायें, वे कृपया अपने अनुभव हमें अवश्य लिख भेजें। —सं०।]

१. घर की फ़र्श और दीवारें आदि इतनी मज़बूत रक्खी जायँ कि बालक मिट्टी पा ही न सकें।

२. खाने की वे चीज़ें, जिनसे तन्दुरुस्ती को कोई नुकसान न पहुँचता हो, बच्चों को यथेच्छ खाने देना चाहिए।

३. उन्हें ऐसी ही जगहों पर खेलने और बैठने देना चाहिए, जहाँ से मिट्टी के ढेलों या पपडी वग़ैरा पर उनकी निगाह न पड़े।

४. बड़ी-सी दरी या बिछावन बिछाकर बच्चों को खिलौनों के साथ उसी पर खेलने देना चाहिए।

५. बालक के हाथों में ज़रा मोटे, गाढ़े कपड़े की थैलियाँ पहना देनी चाहिएँ।

६. जहाँतक हो सके, बालक को अकेला, खुला, और खुली जगह में खेलने न देना चाहिए।

७. हो सकता है कि पत्थर की फ़र्शवाले घरों में बालक मिट्टी न खाते हों। अच्छी हैसियतवाले माता-पिता घर में पक्की फ़र्श जड़वा-कर कई दिक्क़तें दूर कर सकते हैं।

हमारी कुछ पुस्तकें

हमारा बाल-साहित्य

नई शैली में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लिखा हुआ सुन्दर, सस्ता, सादा, मनोरंजक और ज्ञान-वर्द्धक साहित्य।

हरिश्चन्द्र—ले०-आचार्य गिजुभाई; मूल्य –)॥

स्वदेशी की प्रतिज्ञा—ले०-आचार्य गिजुभाई; मूल्य –॥)

भय का भेद—(बाल-नाटक) ले०-ए० एस०नील; मूल्य –॥)

शरारती सॉके—ब्रह्मदेश की एक लोक-कथा, जिसे पढ़ते समय बच्चे हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। ले०-श्री० रमेश; मूल्य =॥)

प्रह्लाद—(बाल-नाटक) ले०-श्री० जुगतराम दवे; मूल्य ।)

भले रहो! चंगे रहो!—ले०-काशिनाथ त्रिवेदी; मूल्य =)

बच्चों की कहानियाँ—ले०-काशिनाथ त्रिवेदी; मूल्य ।)

बलिदान की कहानियाँ—ले०-काशिनाथ त्रिवेदी; मूल्य ।)

आज ही एक सेट् मँगाकर हमारे इस दावे की परीक्षा कीजिये!

हमारा प्रौढ़-साहित्य

माता-पिताओं, अभिभावकों और शिक्षकों के लिए हिन्दी में आज तक इन पुस्तकों के टक्कर की कोई पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई। जिस घर में, जिस पाठशाला में और जिस पुस्तकालय में ये पुस्तकें नहीं हैं, हमारे विचार में, वह घर, वह पाठशाला और वह पुस्तकालय अपूर्ण है।

विद्यार्थी और शिक्षक—नवीन शिक्षा सम्बन्धी कुछ चुने हुए निबन्धों का अनूठा संग्रह; मूल्य ॥)

वे मौत से खेले थे!—बातों ही बातों में बालकों को विज्ञान, भूगोल और साहस के पाठ पढ़ानेवाली एक अपूर्व मनोवैज्ञानिक कहानी—ले०-श्री० ए० एस० नील; मूल्य १)

बाल-प्रेम—लेखिका-श्री० ताराबहन; मूल्य –)

उनकी शिक्षा का प्रश्न—ले०-आचार्य गिजुभाई; मूल्य)॥

माता-पिताओं से—(कुछ सीधे सवाल)—ले०-आचार्य गिजुभाई; मूल्य)॥

बालकों के बीच में (एक भाषण)—ले०-आचार्य गिजुभाई; मूल्य –)

व्यवस्थापक,
हिन्दी शिक्षण-पत्रिका-कार्यालय,
६७ चन्द्रभागा, जूनी इन्दौर,
इन्दौर सी. आई.

इस अंक में

: १ :

बाल-शिक्षा की सफलता की कुंजी मनुष्य की सर्वांगीण शिक्षा के समुचित प्रबन्ध में है।

: २ :

जो लोग बाल-शिक्षा को जीवन की सफलता अथवा विफलता के लिए ज़िम्मेदार समझते हैं, वे बाल-शिक्षा से बहुत बड़ी आशा रखते हैं।

: ३ :

बाल-शिक्षा की सुन्दर और सुदृढ़ नींव पर भी उच्च शिक्षा के बुरे-से-बुरे अथवा अच्छे-से-अच्छे भवन का निर्माण किया जा सकता है।

: ४ :

जो लोग जीवन के समस्त रोगों की जड़ को बाल्यावस्था में ढूँढ़ना चाहते हैं, वे ग़लती पर हैं। उनका यह ख़याल इस बात का सूचक है कि उन्होंने बाल-जीवन और मनुष्य-जीवन का सम्पूर्ण दर्शन नहीं किया है, और जीवन के तत्त्वज्ञान को भी अधूरा समझा है।

: ५ :

अकसर मनोविज्ञान के पंडितों को स्वयं अपने मन का निदान और चिकित्सा कराने की ज़रूरत होती है।

: ६ :

जो लोग पूछते हैं : "बाल-मन्दिरों की अच्छी शिक्षा पाने के बाद दूसरी पाठशालाओं में जाने से बालकों को जो दुःख होगा, उसका क्या इलाज है?" वे ज़रूर यह चाहते हैं कि बाल-मन्दिर से आगे की पाठशालायें अच्छी और सुन्दर हों। किन्तु जो इस सवाल की आड़ में बाल-मन्दिरों का ही विरोध करते हैं, वे बालकों के उस सुख और प्रगति के द्रोही हैं, जो उन्हें बाल-मन्दिरों में प्राप्त है।

: ७ :

पढ़ाई अथवा शिक्षा को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता।

: ८ :

जैसे साफ़ हवा फेफड़ों को नीरोग रखती है, वैसे ही अच्छी सोहबत मनको स्वस्थ बनाती है।

गि०

मुद्रकः—ग० वि० ताम्हणे, सहकारी मुद्रणालय, इन्दौर।
प्रकाशकः—काशिनाथ त्रिवेदी, शिक्षण-पत्रिका-कार्यालय, ६७, चन्द्रभागा, जूनी इन्दौर, इन्दौर सिटी।

[माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र]

वर्ष ५वाँ | प्रधान सम्पादक गिजुभाई और तारावहन | सम्पादक काशिनाथ त्रिवेदी | ७ अंक

माघ १९९५ | दिसम्बर, १९३८
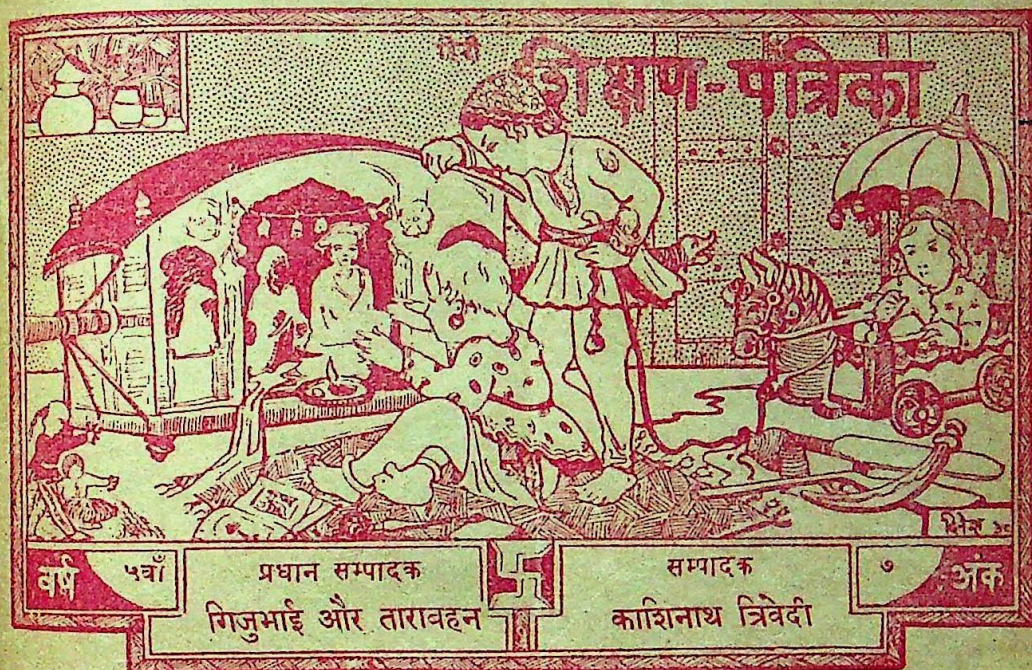
मैंने उससे गरज कर कहा और उसने मुझे गरज कर जवाब दिया।

मैंने उसे आँखें दिखाई, और उसने मुझे आँखें दिखाकर जवाब दिया।

मैंने मुसकुराते हुए, मीठे, प्यार भरे, शब्दों में उससे बातें कीं, और उसने हँसकर नरमी से जवाब दिया।

मैं गाली बकनेवालों के बीच जाकर खड़ा हुआ, और मुझपर उनकी छाप पड़ी।

मैं कुत्सित लोगों की कुत्सा-भरी चेष्टायें देखने को ठहरा, और मुझपर उनकी छाप पड़ी।

मैं सन्तों के समीप जाकर सिर्फ़ खड़ा हो गया, और मुझपर सन्तपने की छाप पड़ी।

सुगन्धी फूल मेरे हृदय की सुगन्ध को बाहर ले आते हैं। गन्दा वातावरण मुझे गन्दगी की ओर घसीटता है। क्रोधी वायुमण्डल में रहकर मैं क्रोधी बना हूँ। शान्त वातावरण में मैंने शान्ति का अनुभव किया है। उच्च वायुमण्डल ने मुझमें उच्चता पैदा की है।

मैं तो वही हूँ, जो मैं हूँ; पर विभिन्न वातावरण दर्पण बनकर मुझे अपने विभिन्न रूपों के दर्शन कराता है!

हिन्दी शिक्षण-पत्रिका

गुरुजनों के आशीर्वाद

हरिजन-सेवक-कार्यालय,
दिल्ली ता० ९-१०-'३८

(१)

" 'हिन्दी शिक्षण-पत्रिका' को मैं शुरू से ही पढ़ता आ रहा हूँ। इसकी एक-एक पंक्ति में शिक्षा-शास्त्र का कसा हुआ अनुभव और बालकों की मनोवृत्ति का सच्चा निदर्शन देखने में आता है। शिक्षण-संसार में यह छोटी-सी पत्रिका एक क्रान्ति का सन्देश लेकर आई है, और इसमें सन्देह नहीं कि यह सन्देश विद्यार्थी-जगत् में कल्याणकारी परिणाम लायगा। श्री० काशिनाथजी आचार्य गिजुभाई के सन्देश को हिन्दी-जगत् में पहुँचाने के लिए बधाई के पात्र हैं, इसमें सन्देह नहीं। **हिन्दी भाषी प्रत्येक प्रान्त की पाठशालाओं में इस पत्रिका को अवश्य स्थान मिलना चाहिए।**

—(श्री०) वियोगी हरिजी
सम्पादक 'हरिजन-सेवक'

इस अंक में

इन्दौर, जोधपुर, बड़वानी, बंबई, मध्यप्रान्त-बरार और बिहार की सरकारों के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत।

हिन्दी
शिक्षण-पत्रिका

(माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र)

वर्ष पाँचवाँ — **अंक सातवाँ**

दिसम्बर, १९३८ — **मार्गशीर्ष, १९९५**

देश में, एक रुपया : वार्षिक मूल्य : विदेश में, दो शिलिंग

ताज़गी और सफलता के लिए गायक रोज़ सुबह थोड़ा-बहुत गा लेता है।

ताज़गी और सफलता के लिए चित्रकार को रोज़ रंग-पींछी का थोड़ा-बहुत उपयोग करना पड़ता है।

ताज़गी और सफलता के लिए हरएक विद्या और कला को आवर्तन और अभ्यास की आवश्यकता रहती है।

शिक्षक को भी ताज़ा और सफल शिक्षक बनने के लिए अपना अध्ययन और अध्यापन बराबर ज़ारी रखना चाहिए।

शिक्षा का क्षेत्र

कोई कहता है : "आपकी संस्था अच्छी है। इसीलिए मैं अपने लड़के को यहाँ भर्त्ती कराने आया हूँ। यह इतना बिगड़ गया है कि कुछ पूछिये नहीं। मैं चाहता हूँ कि आपकी पाठशाला में रहकर इसका चरित्र अच्छे-से-अच्छा बने।"

कोई कहता है : "आपकी पाठशाला का बड़ा नाम है। हम समझते हैं कि हमारा लड़का यहाँ लिख-पढ़कर जल्दी ही होशियार हो जायगा। आप अपने यहाँ एक साल में दो दर्जों की पढ़ाई कराते हैं न ?"

कोई कहता है : "हम अपने लड़के को आपके यहाँ इसलिए भर्त्ती करा रहे हैं कि यहाँ रहकर वह अद्वितीय बने !"

इस प्रकार हरएक की अलग-अलग कल्पनायें होती हैं। कुछ लोगों का यह ख़याल होता है कि एक बार बालक को स्कूल में भर्त्ती करा देने के बाद शिक्षक जैसा चाहें, वैसा उसे बना सकते हैं। आमतौर पर लोग यही समझते हैं कि शिक्षक चाहे तो बच्चों के चरित्र का, उनकी बुद्धि का, और अन्य गुणों का विकास अपनी इच्छा के अनुरूप कर सकता है। कुछ शिक्षक इस बात का दावा भी करते हैं। वे कहते हैं : "हमारी संस्था एक आदर्श संस्था है। यहाँ हम बच्चों के चरित्र का निर्माण करते हैं।" कोई कहते हैं : "हम 'जीनियस' बनाते हैं, अर्थात् अपने छात्रों में अलौकिक बुद्धि का विकास करते हैं।" कोई कहता है : "हम अपने यहाँ चार साल में मैट्रिक की परीक्षा दिलाते हैं।" इस प्रकार शिक्षक भी अपने विद्यालयों के बारे में अजीबो-ग़रीब दावे करते पाये जाते हैं। कई संस्थायें इस दिशा में प्रयत्नशील भी रहती हैं।

गुरुकुल-जैसी संस्थाओं में विद्यार्थियों को सदाचारी और कष्टसहिष्णु बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। आश्रमों-जैसी विभिन्न संस्थाओं का भी क़रीब-क़रीब यही ध्येय रहता है। इनके सिवा कुछ ऐसी संस्थायें भी होती हैं, जहाँ बुद्धि का असाधारण विकास कराने की कोशिश की जाती है। कुछ लोग कला अथवा भावना के विकास को प्रधानता देकर अपने यहाँ इन्हींका विशिष्ट वातावरण तैयार करते हैं। कुछ संस्थायें केवल देश-भक्तों और समाज-सेवकों के निर्माण में अपनी शक्तियाँ ख़र्च करती हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न संस्थायें तरह-तरह के विशिष्ट ध्येयों को अपने सामने रखती हैं, और प्रत्येक संस्था जनता को यह समझाने का यत्न करती है कि उसमें रहकर लड़के कैसे बनेंगे। फलतः जिन माता-पिताओं को जो ध्येय विशेष आकर्षक मालूम होता है, उस ध्येयवाली संस्था में वे अपने बालकों को दाखिल कराते हैं, और बड़े सन्तोष के साथ यह समझते हैं कि उन्होंने अपने लड़के को सुशील और सदाचारी बनने के लिए भेजा है, अथवा यह कि लड़का कवि, कलाकार या संगीतज्ञ आदि बननेवाला है!

अब सवाल यह होता है कि क्या सचमुच शिक्षक अपने छात्रों को, जैसा वे चाहें, बना सकते हैं ? शिक्षा का क्षेत्र कहाँ तक है ? क्या शिक्षा के द्वारा चारित्र्य की दीक्षा दी जा सकती है ? शिक्षा द्वारा असाधारण बुद्धिमत्ता उत्पन्न की जा सकती है ? शिक्षा द्वारा भावनाओं के सागर का निर्माण हो सकता है ? शिक्षा द्वारा सेवा-वृत्ति पैदा की जा सकती है ? मान लीजिये कि शिक्षक उत्तम हो, शिक्षा के साधन उत्तम हों, अवसर उत्तम हो, सारांश, सभी कुछ उत्तम हो, तो क्या शिक्षक जैसा चाहे, अपने छात्रों को वैसा ही बना सकेगा ? यह एक सवाल हुआ। दूसरा सवाल यह है कि मान लीजिये, शिक्षक वैसा बना भी सकता है, तो भी क्या बच्चों की दृष्टि से यह उचित और न्यायसंगत होगा कि शिक्षक अथवा पालक की इच्छानुसार उनका चरित्र-ठगन किया जाय ? क्या इससे उनके सच्चे विकास की सिद्धि होगी ? उनकी आत्मा का सच्चा स्वरूप प्रकट होगा ? अथवा वह एक प्रकार के बाहरी बन्धनों से जकड़ जायगी और ऊपर से लादे गये अनुशासन के वश होकर अन्दर ही अन्दर उसका दम घुटने लगेगा ! मार-पीटकर यदि बच्चों को किसी एक साँचे में ढाला भी गया, और उन्हें उसमें ढलना पड़ा, तो इससे वे वास्तव में जैसे हैं, वैसे बन नहीं सकते; उनकी आत्मा का सच्चा स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता; बल्कि मन ही मन उनको इस बात का असन्तोष रहता है कि क्या करें, जैसे बनाये गये हैं, वैसे बनकर रहना पड़ता है !

जो यह समझते हैं कि शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विशाल है, वे शिक्षा के प्रभाव को एक कीमिया समझते हैं, और दावे के साथ पहले प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक देते हैं। उनके विचार में उत्तम शिक्षक वह है, जो विद्यार्थी को अपनी इच्छानुसार जैसा चाहे, बना सके। जहाँ उन्हें इस तरह का परिणाम नज़र नहीं आता, वहाँ वे शिक्षक में, शिक्षा की साधन-सामग्री में, और शिक्षा-पद्धति आदि में दोष देखने की चेष्टा करते हैं। अपने असल सिद्धान्त के औचित्य-अनौचित्य के विषय में वे कभी कोई शंका नहीं उठाते !

सच पूछा जाय तो शिक्षा का क्षेत्र बहुत ही छोटा है, और यह बात प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुकी है। इसका यह मतलब नहीं कि आगे कोई नये सिद्धान्त स्थापित ही न होंगे, अथवा नये प्रयोग किये ही न जायँगे। किन्तु यह तय है कि स्कूल-जैसी संस्थाओं का क्षेत्र बहुत ही संकुचित है और रहेगा। हाँ, गुरुकुलों के ढंग की संस्थाओं का कार्यक्षेत्र कुछ बड़ा है; फिर भी उसकी अपनी मर्यादा तो है ही। क्योंकि प्रत्येक बालक में अपनी कुछ विशेषतायें होती हैं; और बालक-बालक में जन्मजात भेद होता है। कुछ परम्परागत कारणों से, कुछ गर्भस्थिति के समय की माता-पिताओं की मानसिक एवं शारीरिक स्थिति के कारणों से, और ऐसे ही अन्य कई कारणों से जन्म के समय सभी बालकों की शारीरिक और मानसिक शक्ति समान नहीं होती। जन्म से ही

हरएक बालक की अपनी एक विशिष्ट मनोदशा होती है और उसकी जड़ इतनी मज़बूत रहती है, कि आगे चलकर बालक को जो संस्कार मिलते हैं, और जिन विरुद्ध परिस्थितियों में उसे रहना पड़ता है, उन सबके कारण उसकी मूल मनोवृत्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसके दो पहलू हैं, और दोनों तरह के उदाहरण हमें मिल सकते हैं। कीचड़ में कमल की तरह, अत्यन्त खराब वातावरण में पैदा होकर भी, कई बालक बड़े सदाचारी और सद्गुणी निकलते हैं। इसके विपरीत अच्छे से अच्छे वातावरण में रहनेवाले बालकों में भी कई निरे बुद्धू अथवा दुष्ट स्वभाव के होते हैं। मतलब यह है कि यह जन्मजात वृत्ति इतनी बलवान होती है कि इसके रहते, बाद के संस्कारों का और शिक्षा का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। स्कूलों, गुरुकुलों और आश्रमों की शिक्षा भी इसे बदल नहीं सकती। हाँ, यदि स्कूलों के बदले जगह-जगह मनोविज्ञान की प्रयोग शालायें खुल जायँ और वहाँ बाल-मन पर होनेवाली क्रिया प्रतिक्रिया आदि के नपे-तुले प्रयोगों द्वारा हम उसे मनचाहा रूप दे सकें, तो बात अलग है।

किन्तु आज की हालत तो ऐसी है कि जो असल पूँजी है, उसीको हम बढ़ा सकते हैं; बदल नहीं सकते। हम प्रायः देखते हैं कि सभी स्कूलों में दस-पाँच विशेष बुद्धिमान् बालकों के उत्तम परीक्षा-फल द्वारा ही उस-उस स्कूल की प्रतिष्ठा बढ़ती है। बाकी जो फेल होनेवाले बालक हैं, वे तो एक ही दर्जे में दो-दो वर्ष तक रहते हैं। इसी तरह जो औसत दर्जे के बालक होते हैं, वे सदाचार आदि के मामलों में प्रायः सीधे मार्ग का ही अनुसरण करते हैं, और चरित्र-निर्माण के प्रयोग भी उन्हीं पर किये जाते हैं। इनके सिवा, कई ऐसे बालक भी होते हैं जिन्हें किसी भी आश्रम में या गुरुकुल में, कितने ही कड़े अनुशासन के अन्दर या उपदेशामृत के कुण्ड में क्यों न रक्खा जाय, वे अपने ही रास्ते चलते हैं। यदि दुर्भाग्य से उन्हें अपनी रुचि के विपरीत वातावरणवाली किसी संस्था में रहना पड़ता है, तो वहाँ उनकी बड़ी दुर्दशा होती है। उन्हें पग-पग पर आत्मापमान का अनुभव होता है। ऐसी दशा में यदि वे विद्रोह करके अपने प्रकृत मार्ग पर चलने लगें, तो कोई आश्चर्य नहीं! जब बौद्धिक, नैतिक, कलात्मक, धार्मिक आदि सभी मामलों में बालक को उसकी अपनी स्वभावगत वृत्ति के विरुद्ध, दूसरे वातावरण में जबर्दस्ती घड़ने का यत्न किया जाता है, तब उस बालक की वेदना और विडम्बना अत्यन्त हृदय-विदारक हो जाती है। उस समय मन में यही ख़याल आता है कि अगर कीचड़ से कमल पैदा हुआ है, तो उसे कमल के रूप में ही बढ़ने देना चाहिए, और अगर गुलाब की क्यारी में प्याज लगा है, तो उसे उत्तम प्याज बनने देने में ही शिक्षक, गुरु, और माता-पिता के कर्त्तव्य की सार्थकता है। कहने का मतलब यह है कि आज स्कूल और आश्रम-जैसी जो संस्थायें यह दावा करती हैं कि हम अपने छात्रों को यह बनायेंगी, और वह बनायेंगी, सो सब उनकी मिथ्या

बकवाद है। यही क्यों, जो लोग बालकों को उनके मूल-स्वभाव के विपरीत, उनकी इच्छा के विरुद्ध, उन्हें अपने ढाँचे में ढालना चाहते हैं, वे उनपर अत्याचार करते हैं और उन्हें पूरा-पूरा नुकसान पहुँचाते हैं। इसी तरह जो माता-पिता अपने बच्चों को अपनी कल्पना के अनुसार कुछ बनाना चाहते हैं, वे भी उनपर भयंकर अन्याय करते हैं और उनको बड़ी हानि पहुँचाते हैं। उदाहरण के लिए, जो स्वभाव ही से विलासी हैं, उनको गुरुकुलों में अथवा आश्रमों में भेजकर उनकी आत्मा को निस्तेज बनाना और पीड़ा पहुँचाना पाप है। माता-पिता को इस प्रश्न पर गंभीरता से सोचना चाहिए और सोच-समझकर अपने कर्त्तव्य का निर्णय करना चाहिए।

इस तरह ऊपर के दोनों प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' में आ जाता है। एक तो जो बालकों को प्रतिभाशाली, कलाकर, या महात्मा बनाने का दावा करते हैं, उनका वह दावा ही गलत है। दूसरे, इस तरह की कोशिश बच्चों के लिए हित-कारक नहीं है। अतएव जैसा उनका स्वभाव है, उसीके अनुसार उनके गुणों का विकास करना इष्ट और हितकारी है।

तो फिर सवाल होता है कि उत्तम पाठशाला क्या चीज़ है ? और उसकी उत्तमता किस बात में है ? पाठशाला की उत्तमता इसमें है कि वह बालकों के मूल-स्वभाव को उचित दिशा में विकसित होने दे; उसे बढ़ने और अच्छी तरह फूलने-फलने की पूरी अनुकूलता कर दे ! शिक्षक की सिफ़त इस बात में है कि वह बालकों के प्राण को पहचाने, और उन्हें उसके अनुरूप फूलने-फैलने का मौका दे।

कुछ बालक जन्म से ही समाज-सेवक होते हैं। ३।४ वर्ष की सुकुमार अवस्था से ही उनमें समाज-सेवा का अंकुर फूटने और पत्ते जमने लगते हैं। अपनी पढ़ाई से भी ज्यादा आनंद उन्हें दूसरों की सेवा करने में आता है; किसीको रोते देखकर वे उसे समझाने दौड़ते हैं; किसीका कुछ खो जाने पर उसे ढूँढ़ने में उसकी मदद करते हैं; और जब देखते हैं कि किसीसे कोई चीज़ उठ नहीं रही है, तो दौड़कर उठाने में उसकी सहायता करते हैं। इन्हीं सब कामों में उन्हें जीवन का सच्चा आनन्द मिलता है। दूसरों को दुखी देखकर वे तड़पने लगते हैं। ऐसों को यदि इन पुण्य-प्रवृत्तियों से हटाकर लिखने बैठाया जाय, अंक गिनने या पहाड़े रटने को मज़बूर किया जाय, तो वह ठीक न होगा। यहाँ शिक्षक अपने कर्त्तव्य से भ्रष्ट हो जाता है, और सच्चा शिक्षक नहीं रह जाता। कुछ बालक कलाकार की आत्मा लेकर पैदा होते हैं, और कुछ उधर झाँककर भी नहीं देखते—वे सारा समय वाचनालयों या पुस्तकालयों में बैठे पुस्तक पढ़ा करते हैं। कुछ लेखक या लेखिका होते हैं। अतएव पाठशाला में शिक्षकों को यह देखना चाहिए कि उनके छात्रों में कौन कलाकार हैं, कौन पंडित हैं, कौन व्यवहार-चतुर और कार्य-कुशल हैं, और कौन, पट्टी-पेम-लेकर बैठनेवाले हैं।

जो जैसे हैं, उनको उस रूप में पहचानकर, उनके अनुकूल विकास का जहाँ प्रबन्ध किया जाता है, और उन्हें अपने-अपने विषयों में प्रवीण बनाया जाता है, वही पाठशाला उत्तम है।

जिस प्रकार शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास के लिए उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करके, इन सब बीजरूप गुणों के उत्तम पोषण का प्रबन्ध करने में शिक्षक की कुशलता है, उसी प्रकार बाल-विकास के मार्ग में बाधक होनेवाली बातों को पहचानकर उन्हें दूर करने में और बालकों के मार्ग को सरल बनाने में भी शिक्षक की निपुणता काम करती है। बालकों में या शाला के वातावरण में आये दिन जो छोटी-मोटी खराबियाँ पैदा होती रहती हैं, उनके कारण का तुरन्त ही पता लगाना और उसका प्रतिकार करना भी पाठशाला का एक बड़ा और महत्त्व का कार्यक्षेत्र है। कुछ बालकों में हठीलापन आने लगता है; कुछ में असामाजिक गुणों का प्रवेश होने लगता है; कुछ अनीति के मार्ग पर बढ़ते दीखते हैं; यदि समय रहते इन सबका निदान और उपचार किया जाय, तो ये बुराइयाँ अवश्य ही मिट जाती हैं; बशर्ते कि ये बाहर से लगी हों! जो बुराइयाँ आनुवंशिक या जन्मजात हैं, वे पाठशाला के थोड़े समय के सम्पर्क और उपचार से दूर नहीं होतीं; और कुछ तो असाध्य भी होती हैं। यदि ऐसे अपवादों को छोड़ दिया जाय, तो औसत दर्जे के बालकों की सर्दी-खाँसी-जैसी साधारण मानसिक विकृतियों का इलाज पाठशालाओं में हो सकता है। पाठशालाओं के लिए यह एक अत्यन्त महत्त्व का कार्यक्षेत्र है; किन्तु हमारे यहाँ अभीतक न तो इसका कोई सांगोपांग अध्ययन ही हुआ है, और न किसीका ध्यान ही इस ओर गया है।

पाठशाला का एक और भी महत्त्वपूर्ण कार्यक्षेत्र है। छोटी उमर में बच्चों को कभी कभी ऐसी बाह्य परिस्थितियों में से गुजरना पड़ता है, जिनके कारण उनके जीवन में स्थायी विकृति पैदा होने की संभावना रहती है। यदि शिक्षक जाग्रत रहें, तो वे अपने छात्रों को इस स्थिति से बचा सकते हैं। उदाहरण के लिए, कई बालकों में अपने को हीन समझने की वृत्ति पैदा हो जाती है। और भी ऐसी कई वृत्तियाँ बन जाती हैं, जिनके पीछे अनेक शक्तियाँ काम करती रहती हैं। इसमें जहाँ तक पाठशाला का संबंध आता है, शिक्षक ज़िम्मेदारी ले सकता है। और घर के वातावरण के बारे में, यदि माता-पिता तैयार हों, तो उन्हें कुछ सूचनायें भी दे सकता है। इस प्रकार कुछ हद तक ही क्यों न हो, वह बालकों को इन ग्रंथियों से बचा सकता है। किन्तु इस क्षेत्र में काम करने के लिए शिक्षक को अपने अध्ययन का ढंग बदलना होगा। आज उसकी जो दृष्टि परीक्षा पर और परीक्षा-फल पर केन्द्रित है, उसको कल बालकों के विकास पर केन्द्रित होना पड़ेगा, और माता-पिता को भी इस चीज़ का महत्त्व समझ लेना होगा।

यों यद्यपि कुल मिलाकर पाठशालाओं का अर्थात् पढ़ाई का क्षेत्र बहुत ही मर्यादित है,

तथापि उसका महत्त्व कुछ कम नहीं है। यदि पाठशालाओं में पढ़ाई का समुचित रीति से प्रबंध किया जाय, तो इसमें शक नहीं कि बच्चों के विकास के लिए वह एक बहुत ही सहायक और उपकारक वस्तु हो सकती है।

ता०

बालक बनाम जाड़ा

हमारे देश में शीत के दिनों में बालकों को पहनाने-ओढ़ाने और खिलाने-पिलाने के बारे में कुछ ख़ास धारणायें और रिवाज चल पड़े हैं; जिनमें से कइयों पर न सिर्फ एकबार विचार करने की, बल्कि कुछ को सुधारने की भी सख्त ज़रूरत है। घर के बड़े-बूढ़े जाड़ों में अक्सर बच्चों को कई तरह से परेशान करते हैं। उनको खुद जितना जाड़ा लगता है, उसके खयाल से वे बच्चों को भी जाड़े से बचाने के लिए अकसर ज़रूरत से ज्यादा कपड़े पहनाते हैं। इससे बच्चों को आज़ादी के साथ खेलने-कूदने में तकलीफ होती है। इसलिए इन और ऐसे दूसरे छोटे-मोटे प्रश्नों का यहाँ ज़रा गहराई से विचार कर लेना उचित मालूम होता है।

कपड़े पहनाने का हेतु शरीर की गर्मी को बनाये रखना और समय-समय के मौसमी परिवर्तनों से उसे बचाना है। कुछ प्राणियों की तरह मनुष्य न तो जाड़ों में ज्यादा बाल ही उगा सकता है, और न अन्य कुछ प्राणियों की भाँति चर्बी का संग्रह करके जाड़ों में लम्बी नींद सो ही सकता है। अपने शरीर की गर्मी को बनाये रखकर काम करते रहने के सिवा उसके पास और कोई उपाय ही नहीं है।

लेकिन इस तरह कपड़े पहनने-पहनाने से पहले एक दो बातों पर ग़ौर कर लेना ज़रूरी है। पहली बात तो यह है कि कपड़ों के कारण शरीर के अवयवों के हलन-चलन में और खासकर श्वासोच्छ्वास की क्रिया में तनिक भी रुकावट नहीं पड़नी चाहिए। अकसर हमें पता भी नहीं चलता कि बालकों को बहुत ज्यादा या बहुत ही तंग कपड़े पहनाने से साँस लेने में कितनी कठिनाई होती है!

दूसरी ज़रूरी बात यह है कि कपड़े इस प्रकार के पहनने और पहनाने का प्रबंध होना चाहिए, जिससे पसीने के ज़रिये शरीर से अनावश्यक तत्त्वों या विषों को बाहर निकालने का काम, जो त्वचा किया करती है, बंद न हो सके। जाड़ों में वैसे ही त्वचा अपने इस कार्य में शिथिल हो जाती है। तिस पर अगर बालकों को बहुत ही मोटे और इस क्रिया में बाधा डालनेवाले चुस्त कपड़े पहनाये जायँगे, तो इससे उन्हें हानि ही होगी! और आश्चर्य नहीं, यदि वह जुकाम, जो आमतौर पर लोगों

को हुआ करता है, त्वचा के इस स्वाभाविक कार्य को रोकने की प्रतिक्रिया का ही एक रूप हो ! त्वचा को अधिक नीरोग रखने और उसे उसका काम भलीभाँति करने देने के लिए यह ज़रूरी है कि बच्चों को अन्दर महीन कपड़े पहनाये जायँ और ऊपर एकाध गरम कपड़ा ! त्वचा को भलीभाँति घिसने और शरीर को साफ़ हवा में रखने से भी वह काफी नीरोग बन सकती है ! रात में सोते समय बालकों को बहुत भारी या वजनी कम्बल और रजाई वग़ैरा ओढ़ाने का रिवाज है । इसके बदले हलके मगर गरमी को बनाये रखनेवाले कपड़े ओढ़ाना अधिक हितकर है । बहुत वजनी कम्बल वग़ैरा ओढ़ाने से शरीर में रक्त का संचार भली प्रकार नहीं हो पाता । अतएव इसमें कोई शक नहीं कि बालकों को ज्यादा कपड़े पहनाना उनके लिए नितान्त हानिकारक है । प्रायः यह भी देखा जाता है कि घर के बड़े-बूढ़े बालकों के हाथ-पैरों को छूकर यह समझने लगते हैं कि उन्हें बहुत जाड़ा लगता होगा; क्योंकि अकसर बच्चों के हाथ-पैर बर्फ की भाँति ठण्डे होते हैं । लेकिन असलियत यह है कि बालकों को बड़ों की भाँति शीत नहीं सताती । उनके हाथ-पैर ज्यादा ठण्डे इसलिए मालूम होते हैं वे अपने छुटपन के कारण शरीर की गर्मी को ठीक-ठीक सँभाल नहीं पाते । कपड़े पहना देने से ठण्डे हाथ-पैरों का कोई इलाज नहीं होता !

कपड़ों के सिवा दो और भी महत्व की चीज़ें हैं : एक, साफ, ताज़ा हवा; और दूसरी खुराक ! स्नान और कसरत भी आवश्यक हैं, लेकि[न] उनकी विशेष चर्चा हम यहाँ न करेंगे । जाड़ों [में] गर्मी से भी ज्यादा ताज़ा हवा की ज़रूरत रह[ती] है । लेकिन ज़ोरों की तीखी हवा की अपेक्षा धी[मी] और ठण्डी हवा ही अधिक रुचिकर होती है ।

अब खुराक को लीजिये । खुराक के बारे में कई गलतफहमियाँ फैली हुई हैं । सच है कि जा[ड़ों] में खुराक के ज़रिये शरीर में गर्मी पैदा करने [की] जरूरत रहती है; मगर साथ ही यह भी सच [है] कि आहार के कारण शरीर में मलमूत्रा[दि] के रूप में जो अनावश्यक पदार्थ उत्पन्न होते [हैं] उनको बाहर निकालने की क्रियायें भी उत[नी] ही आवश्यक हैं । जाड़ों में यह क्रिया धीमी [हो] जाती है, फलतः आहार से उत्पन्न मल आ[दि] पूरी तादाद में बाहर नहीं निकलते । इसलि[ए] आहार बढ़ाने के साथ उसके सम्पूर्ण पाचन [की] ओर भी हमें ध्यान देना चाहिए ।

एक और इशारा विटामिनवाली दवा[ओं] और पौष्टिक पाक आदि के बारे में भी ! ब[च्चों] को इस प्रकार की तैयार चीज़ें देना ठीक न[हीं] क्योंकि पेड़-पत्तों की तरह मनुष्य के शरीर में [भी] विटामिन संग्रह करने की शक्ति हो सकती है और, इसके लिए अच्छा पौष्टिक आहार ही का[फी] है । खेद इस बात का है कि अभी इस विषय [पर] सम्पूर्ण विचार नहीं हो पाया है और इस[की] पूरी छानबीन भी नहीं हुई है । यहाँ तो [सि]र्फ इस विषय की रूपरेखा भर दी गई है । लेकि[न] अगर माता पिता चाहें, तो स्वयं अपनी सूझ-[बूझ]

से इस विषय में बहुत-कुछ सोच सकते हैं और बच्चों को छोटी-छोटी किन्तु कई गंभीर बीमारियों से बचा सकते हैं।

न०

बचपन का भय

रिचर्ड चार वर्ष का छोटा बालक था। एक रात उसके माता-पिता उसका रोना सुन जाग पड़े। वह नींद में बर्रा रहा था: 'माँ, माँ! बाबूजी, बाबूजी! देखो, वह लड़का! अँ...अँ... देखो, वह आ रहा है, अरे मुझे पकड़ लेगा, ओ माँ......'

जब माँ उसके पास पहुँची, तो देखा कि रिचर्ड बेहद घबराया हुआ है। वह अपनी माँ को भी नहीं पहचान पा रहा है और सिसक रहा है। थोड़ी देर में रिचर्ड स्वयं ही शान्त हो गया। वह गहरी नींद में सो गया, जैसे कुछ हुआ ही न हो! माँ ने उसे हमेशा की तरह ठीक से ओढ़ा दिया और मन-ही-मन बोली: "या तो कोई बुरा स्वप्न देखा होगा, या अधिक थक गया होगा। सुबह तक आपही ठीक हो जायगा।"

एकाध सप्ताह बीता होगा कि रिचर्ड फिर से चीखकर जाग पड़ा। और फिर तो यह रोज़मर्रा की बात हो गई। चाहे सारा दिन शान्ति-पूर्वक खेला हो, और भाई-बहनों के साथ झगड़ा न भी किया हो, तोभी रात में वह डरकर चिल्ला उठता।

थोड़े दिन बाद तो रात में ऐसा कई बार होने लगा, और वह यकसाँ ऐसी घबराट-भरी स्थिति में लम्बे समय तक रहने लगा। तीन सप्ताह के बाद तो स्थिति यहाँ तक बिगड़ी कि माता-पिता को उसके पास रात-रात-भर जागते ही बैठना पड़ता। ज्योंही वह घबराकर चिल्लाता, वे उसे शान्त करने का प्रयत्न करते।

एक रात तो बहुत ही भय-पूर्ण स्थिति में बीती। रिचर्ड मारे डर के सो न सका। उसका वज़न भी दिन-दिन घटता जाता था। और वह शरीर तथा मन से बहुत ही निर्बल हो गया था। आखिर माँ-बाप उसे इस प्रकार के रोगों के चिकित्सक के यहाँ ले गये। चिकित्सक के घर जाते समय उसकी स्थिति इतनी खराब हो गई थी कि माँ की गोदी में पड़े-पड़े भी वह चौंककर जाग पड़ता और चिल्लाने लगता: 'अरे, वह आ रही है: वह मुझे मारेगी!' या वह किसी बड़े-से काले कुत्ते का नाम लेकर चिल्ला पड़ता: 'अरे यह कालिया (काला कुत्ता) आया! अरे...इसने मुझे काट लिया!' इत्यादि। कई बार उसका भय और भी बढ़ जाता। वह अपने हाथों से ही डर जाता और चिल्लाने लगता: 'अरे, ये मेरे हाथ मुझे पीटते हैं! अरे, कोई दौड़ो! मेरे हाथ! देख माँ, मेरे हाथ...' इस प्रकार वह

चिल्लाता और जाग जाता और क्षण-भर माँ-बाप को भी न पहचान पाता। फिर थोड़ी देर उनकी ओर एकटक देखा करता। और तब, जैसे उन्हें पहचान लिया हो, यों आश्वस्त हो, आँखें मींच, सो जाता।

कुछ दिनों के लिए रिचर्ड चिकित्सक के पास अस्पताल में रक्खा गया। धीरे-धीरे चिकित्सक ने उससे मित्रता कर ली; उसका विश्वास प्राप्त किया, और उससे आसानी से बात-चीत करने लगा। बात-चीत में रिचर्ड चिकित्सक को अपने स्वप्नों और अपनी तरंगों के बारे में भी बतलाने लगा। पहले वह ऐसी बातें करते डरता था। या तो कुछ बतलाना अस्वीकृत कर देता या अनिच्छा-पूर्वक कुछ कह कर टाल देता।

नीचे उनके वार्तालाप के कुछ अंश दिये जाते हैं :

चिकित्सक : 'तुम्हें मज़ेदार सपने आते हैं न रिचर्ड ?'

रिचर्ड : 'बिलकुल नहीं। जाने कैसे बुरे-बुरे सपने आते हैं।'

चिकित्सक : 'कैसे आते हैं ? सपने में तुम्हें क्या दीख पड़ता है ?'

रिचर्ड : 'मुझे एक आदमी का स्वप्न आता है। नहीं—नहीं; भूला; एक कुत्ते का स्वप्न आता है।'

चिकित्सक : 'वह क्या कहता है ?'

रिचर्ड : 'वह मुझे काटने दौड़ता है।'

चिकित्सक : 'भला, काटने क्यों दौड़ता है ?'

रिचर्ड : 'इसलिए कि मैं बुरा हूँ।'

चिकित्सक : 'नहीं जी; किसने कहा, तुम बुरे हो ? तुम तो बहुत समझदार लड़के हो !'

रिचर्ड : 'वह औरत कहती थी, मैं बड़ा बदमाश हूँ; परन्तु सच मानिये, मैं बिलकुल बदमाशी नहीं करता था।'

चिकित्सक : 'कौन औरत ?'

रिचर्ड : 'वही मोटी-सी, जो हमारे मुहल्ले में रहती है।'

(रिचर्ड के उत्तर से यह पता चला था कि उसे स्वप्न में डरानेवाला कोई आदमी, कोई कुत्ता या कोई स्त्री भी है, पर उसे इसका पूरा-पूरा ख़याल नहीं था।)

चिकित्सक : 'वह कहाँ रहती है ?'

रिचर्ड : 'हमारे पड़ौस के ही एक मकान में। अरे, वह जेनी की माँ।'

चिकित्सक : 'क्या जेनी को तुम पहचानते हो ?'

रिचर्ड : 'हाँ पहचानता हूँ। मैं और जेनी साथ-साथ रेती के ढेर पर खेलते हैं; परंतु कभी-कभी जेनी बदमाश हो जाती है।'

चिकित्सक : 'जेनी क्या करती है ?'

रिचर्ड : 'बदमाशी करती है; और उसकी माँ कहती है कि मैं बदमाश हूँ।'

चिकित्सक : 'वह तुम्हें बदमाश क्यों कहती हैं ?'

रिचर्ड : 'क्योंकि मैं जेनी को छूता हूँ। उसकी माँ कहती है कि वह कैंची से मेरे हाथ काट डालेगी।'

चिकित्सक : 'बिलकुल नहीं। कैंची छोटे बच्चों के हाथ काटने के लिए थोड़े ही होती है। उससे या तो कपड़े काटे जाते हैं; या काग़ज़ काटे जाते हैं।'

रिचर्ड : 'अरे वह तो चाकू से मेरा पेट चीर डालेगी। सच ही उसने, मुझसे कहा था कि अगर मैं जेब से हाथ निकालूँगा, तो वह चाकू से मेरा पेटही चीर डालेगी!'

चिकित्सक : 'उसने यों ही कह दिया होगा, वह कुछ करेगी थोड़े ही। तुम बड़े आदमी की तरह समझदारी से काम कर सको, इसीलिए उसने यह सब कहा होगा। बड़े आदमी कहीं ऐसा करते हैं? बड़े तो अपनी जेब में चाकू रखते हैं, पुस्तकें रखते हैं, और कभी-कभी घड़ी भी रखते हैं। तुमने वह बड़ा-सा चाकू देखा है न?'

रिचर्ड : 'हाँ मेरे बाबूजी के पास भी ऐसा ही एक बड़ा-सा चाकू है; परन्तु वह मुझे इसलिए नहीं छूने देते कि कहीं चोट लग जायगी।'

चिकित्सक ने अपनी जेब से चाकू निकाला और उसे खोला। रिचर्ड घबराकर पीछे हट गया। चिकित्सक ने उसे समझाया कि इसमें डरने की कोई बात नहीं है, और न उससे उसे चोट ही लग सकती है। फिर उसे हाथ में लेकर देखने दिया और उसके जुदे-जुदे भाग खोलकर दिखलाये। यह बुच निकालने का 'स्क्रू' है, यह हुक है, आदि सभी चीज़ें बतलाई। रिचर्ड को यह सब देखने में बड़ा आनन्द आया—खासकर उस समय जब चिकित्सक ने उससे कहा कि चाकू से तो पेन्सिल की नोक निकालने, शाक काटने और इसी तरह के कई अन्य मज़ेदार काम किये जा सकते हैं। सिर्फ़ आदमियों को चोट पहुँचा सकने के सम्बन्ध में मौन रहे, और रिचर्ड शान्त मन से अपने घर गया।

थोड़े दिन बाद रिचर्ड की माँ उसे फिर अस्पताल में दिखलाने लाई। अब रिचर्ड का रात में डरकर जाग उठना बिलकुल बन्द होगया था। उसे बराबर नींद आती थी। मात्र नींद में कभी-कभी वह चौंक उठता था।

चिकित्सक ने रिचर्ड के साथ बात-चीत शुरू की। और रिचर्ड ने उन्हें बतलाया कि अब वह जेनी के साथ गन्दे खेल नहीं खेलता है। अब वे दोनों नये-नये खेल खेलते हैं। वे बालू में पुल बाँधते हैं और जेनी झूठ-मूठ की रोटियाँ बनाती है। उसमें अभी एक और भय बाक़ी था। वह भी अपने हाथों से डरता था। उसे खतरा था, कि कहीं उसके हाथ कट गये या शरीर का कोई दूसरा अंग कट गया तो!

चिकित्सक के साथ दो तीन बार बात-चीत करने पर उसका यह भय भी बिलकुल जाता रहा और रिचर्ड एकदम स्वस्थ हो गया।

पत्रिका के पाठकों से प्रार्थना है कि वे रिचर्ड की उपर्युक्त कहानी को ध्यान-पूर्वक पढ़ें।

मूलतः बालक थोड़े-बहुत डरते ही हैं; क्योंकि वे जगत से अनजान होते हैं। समाज वा प्रकृति के नियम-क़ानूनों को वे नहीं जानते, इसलिए अनजाने संकट उनपर आ पड़ते हैं। और इस प्रकार एक-दो अनुभवों के बाद वे अनजान चीज़ों से डरना सीख जाते हैं। उनके छोटे से जीवन में अभिभावक ही उनके एकमात्र आधार होते हैं; परन्तु वे अभिभावक उन्हें हमेशा दगा देते हैं। अभिभावकों पर ही बेचारे बालक निर्भयता और

सुरक्षितता प्राप्त करने के लिए निर्भर करते हैं और हम उन्हें तरह-तरह के डर दिखलाकर डरपोक बना डालते हैं। स्त्रियाँ तो उन्हें पग-पग पर अनेक प्रकार के डर दिखलाती हैं। बालक डर से कितने हैरान होते हैं, इसकी कल्पना हम आसानी से कर सकते हैं। 'यह बाबा पकड़ ले जायगा!' 'सिपाही को दे दूँगी!' 'बाऊ खा जायगा!' यों अनेक प्रकार से डराकर हम उनकी मनो-वेदना का कारण बनते हैं।

इस विषय में खास ध्यान में रखने की बात यह है कि किसीभी दशामें बालकों को न डराने का हमें निश्चय करलेना चाहिए। बेहतर है कि बालकों को एक बार पीट दिया जाय। क्योंकि डराने से पीटना बेहतर है। परन्तु हम तो पीटने से पहले: 'मारूँगा', 'मार डालूँगा', 'काट डालूँगा', 'हाथ काट दूँगा', 'पाँव तोड़ डालूँगा', 'टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा'; इस तरह की कई बेमतलब की, परंतु मृदु-मति बालक की दृष्टि में बहुत ही भयंकर बातें कहकर बालक को अधिक परेशान करते हैं।

इस दृष्टान्त से दूसरी विचारणीय बात यह निकलती है कि बहुत से व्यक्ति जहाँ दूसरे अपराध क्षमा कर देते हैं, वहीं जिन्हें वे नैतिक अपराध मानते हैं, उनके लिए कड़ी-से-कड़ी सजा देना पसन्द करते हैं। परन्तु यह एक ज़बर्दस्त भूल है। अधिकांशतः सजा और उससे होनेवाले भय में से ही अपराध पैदा होते हैं। झूठ बोलने और चोरी करने से लगाकर अन्य सभी प्रकार के अपराधों का मूल कारण व्यक्ति की मानसिक विकृति ही होती है। और अधिकांश में यह विकृति बचपन के आघात और उससे होनेवाले डर से पैदा होती है। इसलिए कभी भी सज़ा के जरिये नैतिक-सुधार की बात न सोची जाय। केवल सीधी बात कह देने और सीधे-सादे ढंग से समझा देने से भी बालक इस प्रकार के दोषों से मुक्त हो सकते हैं।

रिचर्ड वाली घटना को लेकर एक चिकित्सक लिखते हैं: रात में बालकों की जो भयभीत स्थिति हो जाती है, अधिकांश में वह उस जबरदस्त डर का परिणाम होती है, जिससे अपनी दो साल से पहले की उम्र में बालक डर चुकता है। यदि बड़ी उम्र के बालकों में पाये जाने वाले भय का कारण खोजा जाय, तो वह उनके जीवन के पहले दो वर्षों में मिल आता है। अर्थात् जब बालक केवल एक या दो वर्ष का होता है, उस समय किसी बात के प्रभाव से यदि वह डर जाता है, तो उसका परिणाम बहुधा बड़ी उम्र में भी देखा जाता है। क्योंकि उसमें उस डर की याद रह जाती है। रिचर्ड अपनी एक कुटेव—हस्त-मैथुन—के कारण ही हाथ-पैर आदि काट डालने के लिए डराया गया था। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार डराने से बालक का कितना भयंकर नुकसान होता है। तोभी इस घटना से यह स्पष्ट है कि बालकों के लिए इस तरह का डराना अत्यन्त भयंकर है। आजकल इस प्रकार के अनेक 'केस' अस्पतालों में आते

हैं। हमारे यहाँ इसके लिए न तो दवाखाने हैं, और न चिकित्सक है। इसलिए इस प्रकार के 'केस' 'भूत की बाधा या नज़र, टोटका' के अन्तर्गत समझे जाते हैं। और यदि उतारनेवाले हिसाब रखें, तो ज्ञात हो कि हमारे यहाँ भी इस प्रकार के अनेक 'केस' होते रहते हैं।

बालकों में भय की उत्पत्ति कब होती है, इस विषय पर उक्त चिकित्सक के विचार जानने योग्य हैं। बड़ी उम्र के बालकों में किन्हीं खास मौकों पर भय उत्पन्न होता है। उस समय उन है। कुछ संयोगों को डर का कारण समझ बैठना सही नहीं संयोग ऐसे होते हैं, जो परिस्थिति पाकर बालक के मन में बैठे किसी पुराने भय को जाग्रत करते हैं; और अधिकतर वह भय, जब बालक एक या दो वर्ष का होता है, तब उसमें बैठा होता है। बड़ी उम्र में कोई अंग कट जाने या कुत्ते के काट खाने या ऐसी ही कोई घटना घटने पर बालक भयभीत होता है; इसका कारण भी बिलकुल बचपन में इस प्रकार का बैठा भय ही होता है।

दो-सवा-दो वर्ष की छोटी-सी वय में एकदम डर बैठ जाने का कारण यह है कि उस समय बालकों में जाति और इन्द्रिय विषयक जिज्ञासा सर्व प्रथम जाग्रत होती है। तब वह अपनी या दूसरे की गुप्तेन्द्रिय को हाथ से छूता है। अभिभावक इसे भयंकर नैतिक अपराध समझ कठोर सज़ा देते हैं, या सज़ा देने का डर बतलाते हैं। 'हाथ लगायेगा तो हाथ काट डालेंगे या इन्द्रिय काट डालेंगे।' यह डर तो सर्व-सामान्य होता है, परन्तु बालक के मन पर इस डर का असर इतना गहरा होता है कि बड़ी उम्र में कभी भी वह जुदे स्वरूप में जाग्रत हो उठता है।

दो वर्ष की उम्र में बालक अपनी शारीरिक रचना की जानकारी प्राप्त करने और अपने से भिन्न जातीय दूसरे बालकों में क्या फ़र्क़ है, इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत ही आतुर हो उठता है। और जब वह अपनी इस जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिए प्रयत्न करता है तो उसे सजा मिलती है। इसी उम्र में उसकी समझने और भाषा की शक्ति में वृद्धि होती है। उसके सामने किसी भी प्रकार के शब्द प्रयोग में लाये जायँ, तो वे उसके मस्तिष्क में ठीक-ठीक रह जाते हैं। उसकी स्मृति दृढ़ और गहरी होती है। किसी नवीन प्रसंग के आते ही यह शब्द-स्मृति जाग्रत हो उठती है और इससे उसमें भय उत्पन्न हो जाता है।

अभिभावकों को समझ लेना चाहिये कि इस प्रकार की जिज्ञासा और उसके वशीभूत होकर गुप्तेन्द्रिय आदि को छूना बालकों में बिलकुल स्वाभाविक है। इसलिए इस वृत्ति को भयंकर अपराध मानकर काटने आदि का डर या और किसी प्रकार का डर दिखलाना या कड़ी सज़ा देना अनुचित ही है। इसकी अपेक्षा सच्ची और योग्य जानकारी द्वारा बालकों की जिज्ञासा पूर्ण करना कहीं अच्छा और आवश्यक है।

स॰ा॰

बालकों का ओढ़ावन

कहावत है कि गरीबों की गर्मी और अमीरों का जाड़ा। गरीब के बालकों को शीतकाल में पूरा ओढ़ने को भी नहीं मिलता। उनकी नींद पूरी और सुख देने वाली नहीं होती। वे सदा यही मनाते हैं कि कब सबेरा हो, कब सूरज उगे, और कब धूप में बैठें! जब उनको पूरा ओढ़ने को ही नहीं मिलता, तो ओढ़ने के बोझ की पीड़ा को वे भला क्या जानें? उनको अधिक ओढ़ने से होनेवाले नुकसानों से बचने की चिंता करनी ही नहीं पड़ती। उनको पूरे कपड़े मिलें, वे ठंड से धूजें नहीं, और उनकी रात सुख से बीते, यही सब उनकी चिन्ता का विषय होता है। अगर हमारे सामने सभी बालकों का प्रश्न है, तो हमें इस प्रश्न को भी हल करना चाहिए। जो लोग जनता की आर्थिक स्थिति का सुधार करने में लगे हैं, उन्हें गरीबों के बालकों के इस प्रश्न को भी अपने हाथ में लेना चाहिए।

दूसरा प्रश्न धनवानों के बालकों का है। उनको, जिस प्रकार ज़रूरत से ज्यादा खाने, पीने और रहने को मिलता है, उसी प्रकार ओढ़ने-बिछाने के लिए भी आवश्यकता से अधिक मिलता है।

जिस प्रकार आवश्यकता से अधिक खाने से खानेवाले को ही नुकसान होता है, वैसे ही अधिक ओढ़ने से भी ओढ़नेवाले को ही नुकसान होता है। अधिक मिलता है, इसलिए उसका अधिक उपयोग भी करना बुद्धिमानी की बात नहीं हो सकती। यह धारणा बालकों का बहुत नुकसान कर रही है, और आज इससे बचने की ज़रूरत है।

दूसरी बात यह है कि बहुत से माता-पिता बालकों को आवश्यकता से अधिक ओढ़ाते हैं शायद इसलिए कि बच्चों को सर्दी न लगे, हवा न लगे, और निमोनिया-जैसे रोग न हों। जब बच्चे एक ओर से ओढ़ा हुआ फेंक देते हैं, तो दूसरी ओर से ये माता पिता उन्हें ओढ़ाते जाते हैं। बालक जब तक जगे या अधजगे होते हैं, तब तक वे अपने ऊपर के अधिक बोझ को फेंक देने का यत्न करते हैं। परंतु नींद आने के बाद, वह बोझ उनके शरीर पर पड़ा ही रहता है। इस प्रकार सोये हुए बच्चों पर भारी बोझ लादने से उनपर किसी बोझीले प्राणी को बैठाने से हानि ही न होगी? अगर इससे हानि हो सकती है तो फिर भारी रजाइयाँ ओढ़ाने से भी यह हानि बालक को अवश्य ही होगी।

अधिक ओढ़ाने से बालक के शरीर को हिलने-डुलने में कष्ट होता है। निद्रा में हिलने-डुलने से शरीर को आराम मिलता है; पाचन-क्रिया ठीक होती है, और सुबह उठने पर स्फूर्ति मालूम होती है। परंतु रजाइयों के बोझ से दबा हुआ शरीर कूड़े-करकट-जैसा शिथिल बन जाता है। रजाइयों के भार से पाचन क्रिया बिगड़ जाती है; श्वासोच्छ्वास ठीक-ठीक नहीं लिया जाता,

और रात में शरीर की बाढ़ हो नहीं पाती। रात में भी शरीर के सब अवयव वृक्ष के शाखा-पत्तों की तरह धीरे-धीरे बढ़ते हैं। परंतु यदि बालक का शरीर दबा हुआ रहा तो वह बढ़ नहीं सकता। प्रायः बालकों को रजाइयों का भार इतना अधिक लगता है कि उस भार के कारण उन्हें ऐसा भास होता है, मानों कोई उन्हें दबा रहा हो! इससे वे प्रायः डर कर जग जाते हैं। डॉक्टर माता-पिताओं से यह शायद ही कभी पूछते होंगे कि तुम्हारे बच्चे अकसर बीमार रहते हैं, और बढ़ते नहीं, सो इसका कारण यह तो नहीं है, कि तुम उन्हें अधिक ओढ़ाते हो? जब माता-पिता अपने दृष्टिकोण से बालकों का विचार करते हैं, तो वे बड़ी भूल करते हैं। स्वयं दो रजाइयाँ ओढ़ते हैं, तो बालक को भी दो ओढ़नी ही होंगी। बहुत से लोग ऐसा सोचते हैं सही, परंतु खुद चार लड्डू खाते हैं, इसलिए बच्चे को भी उतने ही खाने होंगे, ऐसा वे कभी नहीं कहते। बहुत लम्बे समय के बाद और बालकों को काफी कष्ट दे चुकने के बाद उनमें इतनी समझ आई है। ओढ़ावन के बारे में भी बालकों को उतना ही कष्ट देने के बाद गलती सुधारने के बजाय, पहले से ही गलती को दुरुस्त कर लेना बुरा न होगा!

जरूरत यह है कि बालकों को वजनी रजाइयाँ न ओढ़ाई जायँ उनके बदले गर्म परन्तु पतला ओढ़ना ओढ़ाना बेहतर है। कम, नरम और गरम ओढ़ाना बालक के लिए जरूरी है। संक्षेप में, बच्चों का ओढावन उनके अनुकूल और उतने ही वजनवाला होना चाहिए। शहरों में बालकों की रजाइयों की एक भी दूकान कहीं दिखाई नहीं देती। अब तक एक भी दर्जी की दूकान पर 'बालकों के गद्दे बनानेवाला' साइनबोर्ड नज़र नहीं आता। आज भी घरों में बालकों की रजाइयों की बात कोई नहीं करता। अभीतक घरों में बालकों का ओढ़ना-बिछाना रखने की कोई अलग जगह नहीं पाई जाती।

बालकों के लिए ऐसी रजाइयाँ बनानी चाहिएँ, जिन्हें वे खुद उठा सकें, खटिया से गिर जाने पर स्वयं ही लेकर ओढ़ सकें और स्वयं ही उठा कर धूप में डाल सकें! बालक नन्हें मनुष्य हैं, और उनके लिए ऐसी छोटी-छोटी सामग्री बननी ही चाहिए।

यह ज़रूरी है कि बालकों की रजाइयाँ ओढ़ते समय उन्हें आराम दें, और देखने में खुशनुमा भी हों। सुबह यदि खाटिया पर लेटे-लेटे ही बालक अपनी रजाइयों के ऊपर की बेलबूटों या छपे हुए सुंदर चित्रों को देखकर आनंदित हो सकें, तो उपयोग के साथ-साथ कला को मिलाने और उसकी विविधता को समझने की शक्ति बालक में पैदा हो सकती है।

बालकों की रजाइयाँ और बिछाने के गद्दे बार-बार धूप में डालने चाहिए। समझदार माता को ओढ़ने-बिछाने की सामग्री देखनी और उसमें खटमल आदि हैं या नहीं इसका निरीक्षण करना चाहिए। बड़े आदमियों के यहाँ तो यह काम नौकरों का होता है। परंतु ऐसी बातों में नौकर

सावधानी रखते हैं, या नहीं यह तो उनकी मालकिन को देखना ही चाहिए। नौकरों के सुपुर्द किये हुए बालक जैसे हैरान होते हैं, वैसे ही नौकरों के सुपुर्द की हुई रजाइयाँ, आदि भी खराब होती हैं।

गि०

जब कोई काम खराब हो जाय, तो हमें उस काम के लिए दुखी होने की ज़रूरत नहीं; ज़रूरत है, काम खराब करनेवाले के लिए दुखी होने की। काम का कोई नुकसान नहीं होता, नुकसान तो बिगाड़नेवाले का होता है।

* * *

किसी पर भरोसा करके आप कोई काम सौंपे, और भरोसे की वह भैंस पाड़ा दे जाय, तो उसमें भरोसे का या भरोसा करनेवाले का कोई कुसूर नहीं। कुसूर है, उसका, जो भरोसे का दुरुपयोग करता है। भरोसे की और भरोसा करनेवाले की सदा ही जीत होती है; हार तो उसकी कमाई है, जो भरोसे का भंग करता है—दगा देता है!

गि०

बाल-अध्यापन-मंदिर, राजकोट

एक सूचना

बाल-अध्यापन-मंदिर के दूसरे वर्ष का शुभारम्भ आगामी गर्मी की छुट्टियों के बाद किसी समय होगा। अतएव जिन भाइयों और बहनों को सन्, १९३९-४० के सत्र में सम्मिलित होने की इच्छा हो, वे अभी से अपना आवेदन-पत्र एक आने के टिकट के साथ भेज दें, ताकि उनका नाम उम्मीदवारों की सूची में लिखा जा सके।

आवेदन-पत्र भेजने का पता :

आचार्य, बाल-अध्यापन-मंदिर,
जगनाथ प्लॉट, सेवाफलम्
राजकोट (काठियावाड़)

सूचना : पत्रिका का अगला अंक जनवरी-फरवरी का युग्मांक होगा।

—व्यवस्थापक

हमारी कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें : हमारी बालोपयोगी पुस्तकें

१. दिवास्वप्न : श्री० गिजुभाई की चमत्कारिक लेखनी का अनूठा प्रसाद ! बाल-शिक्षा के नवयुग का मनोमुग्धकारी शब्द-चित्र। उपन्यास से भी अधिक रोचक। कहानी से भी अधिक सरल। मूल्य : ।।।) । सजिल्द : १) ।

२. प्राथमिक शाला में भाषा-शिक्षा : बच्चों को हँसते-खेलते भाषा के विविध अंगों का सही-सही, सहज और सम्पूर्ण परिचय कराने की नई रीति पर प्रकाश डालनेवाली बेजोड़ पुस्तक। लेखक : आचार्य श्री० गिजुभाई। मूल्य : ।।) ।

३. विद्यार्थी और शिक्षक : इस पुस्तक में विद्यार्थियों के मनोविज्ञान का और शिक्षकों के कर्त्तव्यों का अनेक दृष्टियों से, छोटे-छोटे निबन्धों में, अत्यन्त हृदयग्राही और विचारोत्तेजक विवेचन किया गया है। अनेक अधिकारी लेखकों के लिखे निबन्धों का यह संग्रह हिन्दी में अपने ढंग की एक ही चीज़ है। मूल्य : ।।) ।

४. बरगद : यह एकांकी नाटक अपनी सहज करुणा, कोमलता और ममता के कारण हिन्दी में एक नई चीज़ बनकर आया है। लोग कहते हैं, जिसने इस नाटक को न पढ़ा, उसने हिन्दी में कुछ भी न पढ़ा ! लेखक : श्री० कृष्णलाल ..रागी। मूल्य : ।।।) ।

५. हिन्दी शिक्षण-पत्रिका : प्रथम चार वर्ष की पूरी फाइलें। मू.. प्रति फाइल : १)। सजिल्द १।)। डाक-व्यय अल.. ।

१. भले रहो ! चंगे रहो ! : छोटे-छोटे रोचक वाक्यों में बच्चों को स्वास्थ्य और सफ़ाई का सहज सन्देश देनेवाली अनूठी पुस्तक। मूल्य : =)।

२. स्वदेशी की प्रतिज्ञा : स्वदेशी आन्दोलन के विविध पहलुओं पर श्री० गिजुभाई की लेखनी से लिखे गये बालोपयोगी संवादों का रोचक संग्रह। मूल्य –)।।

३. हरिश्चन्द्र : अत्यन्त सजीव और सुबोध शैली में लिखा हुआ सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र का मनोमुग्धकारी चरित्र। लेखक : श्री० गिजुभाई। मूल्य : –)।। ।

४. भय का भेद : श्री० ए० एस० नील का लिखा हुआ एक सुन्दर, बालोपयोगी, मनोवैज्ञानिक एकांकी नाटक। मूल्य–)।। ।

५. शरारती सॉके : ब्रह्मदेश के हास्यरस की एक अत्यन्त रोचक लोककथा, जिसे पढ़कर बालक हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते हैं। मूल्य : =)।। ।

६. ..ँ की कहानियाँ : बाल-सुलभ भाषा में ..खी हुई देश-विदेश की कहानियों का रोचक ..ह। मूल्य : ।) ।

७. बलिदान की कहानियाँ : बच्चों को देश, धर्म और जाति-सेवा का पाठ पढ़ानेवाली देश-विदेश के शहीदों की पौराणिक और वास्तविक कथाओं का अनमोल संग्रह। मूल्य : ।)।

व्यवस्थापक,
हिन्दी शिक्षण-पत्रिका-कार्यालय,
६७ चन्द्रभागा, जूनी इन्दौर,
इन्दौर सी० आई०

: १ :

सिखाना छोड़कर शिक्षक लम्बे समय तक शिक्षक नहीं रह सकता।

लिखना छोड़कर कोई लेखक देर तक लेखक नहीं रह सकता।

लिखकर और सिखाकर ही शिक्षक और लेखक बना जा सकता है; निरी बातों से कुछ नहीं बनता।

: २ :

जो केवल अपने ही बारे में सोचता है, वह अन्त में इतना निराश हो जाता है कि उसे अपना ही जीवन भार-रूप प्रतीत होने लगता है।

: ३ :

मनुष्य या तो तन से या धन से दूसरों की सेवा कर सकता है। जो आदमी न तो तन से और न धन ही से दूसरों की सेवा कर सकता है, उसका तन और धन दोनों बेकार हैं।

: ४ :

यदि कोई किसी के अधिकार का अपने लिए उपयोग करे, और अपनी दृष्टि से हमें उसमें आपत्ति मालूम हो, तो भी हमें तो उसके काम को उसकी दृष्टि से देखने और उसके काम के प्रति समभाव रखने की चेष्टा करनी चाहिए।

: ५ :

सब कोई हमारी दृष्टि से अपना जीवन नहीं बिता सकते; और अपने लिए भी हम नहीं चाहते हैं। अतएव जितना हम अपने लिए चाहते हैं, कम से कम उतना तो हमें दूसरों के लिए जरूर चाहना चाहिए।

: ६ :

निठल्लापन एक भयंकर चीज़ है। निठल्ला आदमी न सिर्फ़ खुद काम नहीं करता, बल्कि काम करनेवाले में और काम में नुक्स भी निकालता है। इस तरह वह अपनी एक अलग फ़िलॉसफी रचकर अपनी जान बचाने के लिए दूसरों को धोखा देता है।

: ७ :

वह ज्ञान, ज्ञान नहीं, जो आचरण में न उतारा जा सके, जिसका अनुसरण न किया जा सके, जो केवल शब्दों तक ही परिमित रहे!

मि०

मुद्रक:—ग० वि० ताम्हणे, सहकारी मुद्रणालय, इन्दौर।

प्रकाशक:—काशिनाथ त्रिवेदी, शिक्षण-पत्रिका-कार्यालय, ६७, चन्द्रभागा, जूनी इन्दौर, इन्दौर सिटी।

इंदौर, बीकानेर, जोधपुर, देवास, बड़वानी, बंबई, मध्यप्रान्त–बरार, पंजाब, बिहार, यू॰पी॰ और उड़ीसा की सरकारों के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत।

आद्य संपादक :
स्व॰ गिजुभाई

वार्षिक मूल्य :
देश में, एक रुपया
विदेश में, दो शिलिंग

हिन्दी शिक्षण–पत्रिका

संपादक :
श्री॰ ताराबहन मोड़क.

सहसंपादक :
श्री॰ बन्सीधर
श्री॰ काशिनाथ त्रिवेदी

(माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र)

वर्ष १० वाँ] जनवरी १९४४, मार्गशीर्ष २००० [अंक ४ था

जो प्रतिदिन कठिनाइयों का ख्याल करता है, उसके सामने कठिनाइयाँ आ ही जाती हैं। जो प्रतिदिन उत्साह और आशा का ख्याल करता है, उसे उत्साह और आशा ही मिलते हैं।

जो हमेशा दीनता-हीनता की बात करता है, वह कभी ऊँचा नही उठ सकता। जो सदा उदात्त भावना रखता है, उसे वैसा ही फल मिलता है।

—स्व॰ गिजुभाई

बालकों के खिलौने

भतीजों और भानजों की बहुत बड़ी संख्या होने के कारण मुझे अनेक छोटे बालकों के साथ बहुत निकट का परिचय है। प्रत्येक को उसके जन्म दिनपर या नये वर्ष के आरंभ में कोई वस्तु भेंट करने का प्रश्न मेरे सामने आयाही करता है। उस समय 'अब कौनसा खिलौना लेना ठीक होगा' यह विचार मेरे अनेक विचारों को जागृत किया करता है! ऐसा मालूम होता है कि अनेक अनुभवों के बाद मुझमें कुछ समझ आ गई है। सच पूछा जाय तो बालकोंने ही मुझे इस विषय में सब कुछ सिखाया है। पहले-पहल अपने आपको अच्छे लगनेवाले खिलौने मैं सबको दिया करती थी। परन्तु बालक हम बड़ों की अपेक्षा अधिक साफ़-दिल होते हैं। अपने को दूसरों को अच्छा लगाने के लिये ही मीठा मीठा बोलना, रुचिकर न होते हुए भी रुचिकर दिखाना, इन सब बातोंसे वे मुक्त होते हैं। इस लिये मेरा दिया हुआ खिलौना जब-जब किसी को अच्छा नहीं मालूम होता था, तो प्रत्येक मेरे पास आकर अपने खिलौने की खराबी मुझसे स्पष्ट कह देता था। एक बार ऐसा हुआ कि चार वर्ष की एक लड़की को मैंने कचकड़े (सेल्युलॉईड) की एक गुड़िया भेंट की। वह गुड़िया ग्वालन स्त्री थी। उसके कंधे पर दूध की बहँगी (कावड़) में दो हाँडी और हाँडी थीं। वह गुड़िया, उसके कपड़े, बहँगी आदि बहुत बढ़िया रंग की थीं। मुझे वह बहुत अच्छी लगी। इसलिये मैंने अधिक पैसे खर्च करके भी उसे उस लड़की के लिये खरीदी। परन्तु उस बहिन को वह गुड़िया पसन्द न आई। आरंभ में नई गुड़िया और नये रंगसे वह कुछ आकर्षित हुई, परन्तु उसका वह आनंद पन्द्रह मिनटसे अधिक न रह सका। थोड़ी देर में मुँह बनाकर उसने कहा, "मौसीजी, ऐसी गुड़िया क्यों लाई? न तो यह कपड़े उतारने देती और न बहँगी की हाँडी ही कंधेसे नीचे उतारती है। मैं इसे स्नान कैसे कराऊँ और भोजन कराना हो तो कैसे कराऊँ?"

ऐसे अनेक अवसर आये हैं और खिलौनों के विषय में मुझे तरह-तरह के अनुभव हुए हैं।

यहां मैं दो से सात वर्ष की आयु तक के बालकों के खिलौनों के विषय में विचार करूँगी।

पालने में सोते हुए बालक को लटकती हुई या झूलती हुई रंगीन चीज़ अच्छी लगती है। इस आयुमें बालक अपनी दृष्टि को स्थिर करने की श्रेणी में होता है। इस लिये यह कला सिद्ध हो और उसके फल-स्वरूप स्थिर दृष्टिसे रंगबिरंगी वस्तुएँ इस उम्रमें देखने को मिलें तो बालक बहुत खुश होता है। परन्तु यही बालक जब घुटनों के बल चलना या पैरों पर झूलना सीखता है तो केवल दूर से आँखों से चीजों को देखना उसे अच्छा नहीं लगता।

चाबी घुमाता हुआ या दाने चुगता हुआ मुर्गा, बंदूक हाथमें लिये चक्कर लगाता हुआ सिपाही या बाल जैसी पतली रस्सी पर नाचती हुई गुड़िया अब बालक को क्षणिक आनंद-दायक ही हो सकती है। दूर से दो-चार मिनिट देख कर वह तृप्त हो जाता है और तुरंत ही खिलौना हाथ में लेकर उसे चारों ओरसे घुमा फिराकर देखने की इच्छा इस उम्रमें प्रबल हो उठती है। इस प्रकार की जाँच के लिये खिलौना बालक के हाथ में गया कि उसकी समाप्ति ही समझिये। खिलौना टूट जानेपर हम क्रोधित होते हैं। हम ऐसा मानने लगते हैं कि इस आयुमें बालक को तोड़फोड़ अच्छी लगती है; परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं। इस उम्रमें बालक को वस्तुएँ केवल देखनी अच्छी नहीं लगतीं। उसे तो हिलने-डुलने, दौड़-भाग तथा चलने-फिरने की क्रिया करनेवाली मन-प्रबल-इच्छा होती है और इस इच्छा की पूर्ति में खिलौने का टूट जाना गौण बात है।

बालक की दो-तीन या साढ़े तीन वर्ष की उम्र इस 'क्रिया-शक्ति' के विकास के लिये मुख्य समय है। इस समय कुछ करना या दौड़-भाग लगाना बालक के लिये स्वाभाविक है। घरके दैनिक व्यवहार की वस्तुओं के एकत्र [illegible]ने, उनके उठाने-रखने में बालक को बड़ा आनंद आ[illegible] है। डिब्बों के ढक्कन बन्द करने, चटाई या दरीके [illegible]ने, समेटने और फिर बिछाने, अथवा ताले के ख[illegible] बन्द करने आदि क्रियाओं में इस उम्रका बालक एकाग्रता दिखाता है और संतोष प्राप्त करता है। तीन वर्ष की अपनी भानजी कमला का ही उदाहरण सामने रखती हूँ। उसने दोपहर का पूरा समय दरवाजों के खोलने-बन्द करने, सांकल लगाने, खिड़कियों के खोलने-बंद करने जैसे खेलों में ही आनंदसे व्यतीत किया। इस क्रिया में वह इतनी तल्लीन थी कि कुछ कहा नहीं जा सकता! साथ ही "चलो-चलो बरसात आती है; दरवाजे-खिड़की बंद करदो; चलो जल्दी करो" इस प्रकार बोलती ही रही। वह अपने मनमें यह समझ रही थी कि दरवाजा बंद करके, साँकल लगाने और फिर उसे व्यवस्थित ढंगसे खोलने में बहुत होशियारी है। इसमें ग़लत भी क्या था? इस उम्र के बच्चों के लिये घरके डिब्बे-डिब्बी, ताले-ताली, दरी या आसनों का खिलौनों के ढंगपर बहुत सुन्दर उपयोग हो सकता है। बालक को इन सब में बड़ा आनंद आता है। बड़े तूफ़ानी कहे जाने वाले बालक भी ऐसी क्रियाओं में घंटों तक आनंद से लगे रहते हैं। सच्ची बात तो यह है कि इन सब कामों के द्वारा बालक अपने आप[illegible] हाथ-पैर का व्यवस्थित रूपसे उपयोग क[illegible]ना सीख जाता है। यदि हम दूसरी तरह के खिलौने लाकर इस उम्रके बच्चों को देंगे [illegible] वे बिलकुल निरुपयोगी सिद्ध होंगे। बालक [illegible] भी इससे आनंद नहीं आता। इसके बदले [illegible]टे-बड़े डिब्बे लेकर उनपर सुन्दर रंग लगाया ज[illegible] और उनमें छोटे ताले लगाकर चावी के साथ बालकों को खिलौनों के रूपसें दिये जायें तो धर की चीजों का शिक्षण की दृष्टिसे और

बालकों के विकास के लिये बहुत उत्तम उपयोग माना जायगा।

चार–साड़े चार वर्ष का होने पर बालक में बड़ों के अनुकरण की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। आसपास की प्रत्येक बात पर वह अपना अधिकार स्थापित करना चाहता है। बड़ों द्वारा परिस्थिति पर प्राप्त किया प्रभुत्व उसके ध्यान में रहता है। वह उसे देखता है और स्वयं भी उसी प्रकार स्वायत्त होने का प्रयत्न करता है। बड़ों के अनायास होनेवाले जिन दैनिक व्यवहारों को वह देखता है, वे उसे रुचिकर भी प्रतीत होते हैं। बालक स्वयं भी उन्हें कर सके, इच्छानुसार इधर–उधर घूम फिर सके तो वह प्रसन्न-चित्त रहता है। वह हमेशा ऐसे प्रयत्न किया करता है कि जिनसे दूसरों पर आश्रित न रहे। घरको झाड़ने–बुहारने, सामान और चीजों को माँज कर साफ़ करने या रसोई में भी कुछ न कुछ करने के लिये घुसने का यदि बालक को अवसर मिल जाय तो वह ऐसा तल्लीन हो जाता है कि उसे किसी दूसरे खिलौने की आवश्यकता ही नहीं रहती। बालक झाड़ू लेकर कमरा सा[illegible] करने लगे तो बड़ों को बहुत बुरा लगता है। इत[illegible]ही नहीं; वरन् वह बात उन्हें बड़ी विचित्र ज[illegible]न पड़ती है। शीघ्रता पूर्वक कमरे को सा[illegible] सुथरा बनानेवाला नौकर इस आयु के बालक[illegible] लिये आदर्श बन जाता है। वह स्वयं भी उ[illegible]ी ही शीघ्रता और सफ़ाई से सब काम कर[illegible] का प्रयत्न करता है। ऐसा आदर्श बड़ों की कल्पना में भी किस प्रकार आ सकता है?

वास्तव में देखा जाय तो साड़े तीन वर्ष से लेकर पाँच साड़े-पाँच वर्ष तककी आयुका बालक जो काम करना चाहे उसे करने की उसको पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। ऐसा करने में यदि कुछ नुकसान हो जाय, काँचका कोई सामान टूट–फूट जाय या रसोई में कुछ चीज़ बिगड़ जाय तो उसे सह लेना चाहिये। इस नुक़सान को खिलौने का ही खर्च मान लेना चाहिये। बड़ों के काम करने के साधन बालकों के लिये सुविधाजनक और योग्य नहीं होते; उनके व्यवहार में बच्चों को कठिनाई प्रतीत होती है। अतः उनके लिये छोटी झाड़ू, छोटा चकला–बेलन देना ठीक होगा। इनका उपयोग वे बड़ी सरलतासे कर सकेंगे। कभी कभी ऐसा भी होता है कि बालक को अपनी छोटी वस्तुएँ अच्छी नहीं लगतीं; उनमें उसे लघुता दीख पड़ती है। बड़ों की चीजें लेकर उनके जैसा काम करने का अभिमान भी उसमें पैदा हो जाता है। यहां मैं अपनी एक शिक्षिका बहिन की बच्ची का उदाहरण सामने रखती हूं। इस बहिन ने अपनी लड़की के लिये छोटे-छोटे चित्रों की अनेक पुस्तकें घर में संग्रह की थीं। परन्तु लड़की को तो अपनी माता की बारीक अक्षरोंवाली चित्र–रहित बड़ी–बड़ी पुस्तकें लेकर बड़ों की तरह पृष्ठ उलटने में बड़ा आन[illegible] आता था। बड़ों की तरह [illegible] काम करने का उत्साह बालकों में [illegible]नवार्य रूपसे होता है। ऐसे अवस[illegible]र बड़ों की चीजें लेने के लिये मना करने के बदले यदि बालकों को यह बता

दिया जाय कि उनके लिये छोटी-छोटी चीजें क्यों लाई गई हैं, तो वे अपनी चीज़ों के व्यवहार से सन्तुष्ट हो सकते हैं।

माँ का दूध पीते शिशु तो ऐसे बालकों को सौंपे नहीं जा सकते; इस लिये उन्हें गुड्डे-गुड़ियो के द्वारा ही अपनी भूख शांत करनी पड़ती है। छोटे भाई-बहिन को माँ नहलाती धुलाती या गीत गाकर सुलाती है। ये क्रियाएँ बालक-बालिकाओं को गुड़ियों पर करके ही संतुष्ट होना होता है। उस छोटी लड़की को मेरी भेंटमें दी हुई ग्वालन की गुड़िया पसन्द नहीं आई थी, उसका यही कारण था। क्यों कि इस गुड़िया को नहलाया-धुलाया या नये-नये कपड़े नहीं पहराये जा सकते थे। राँधने का काम न आने तक खिलौने का चूल्हा और रसोई के बर्तन लेकर खेलना ही होगा। घर में वास्तविक घोड़ा न होने पर ही खिलौनों का घोडा अथवा पिताजी के बेंत या कुर्सी का बना घोड़ा लेकर उसे घास-दाना खिलाना, पानी पिलाना, चाबुक से हाँकना और घोड़ा-गाड़ी वाला बनना संभव है। सचा घोड़ा मिलने पर बालक का यह नकली शौक दूर हो जायगा।

प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाली अपूर्णता को बालक अपनी प्रबल कल्पना शक्ति से पूर्ण कर लेता है। मैं ऐसा मानती हूँ कि इस आयु [illegible]लकों को वास्तव में रुचिकर प्रतीत होने वाले खिल[illegible] में गुड़ियाँ, खिलौनों के रसोई-घर तथा बर्तनों, [illegible] गाय और घर के दैनिक व्यवहार की झाड़ू-[illegible]नी आदि चीजों का समावेश हो सकता है।

बालक की आयु बढ़ने के साथ-साथ उसकी विकास प्राप्त करती क्रिया-शक्ति को अवकाश मिलने के लिये कुछ विस्तृत क्षेत्र की आवश्यकता होती है। कोई चीज बनानी और उसे बनाते-बनाते कला निर्माण का आनंद प्राप्त करना इस विचार के आसपास बालक की सब क्रियाएँ गूंथी रहती हैं। मिट्टी का चूल्हा और हाँडी बनाना, मिट्टी में से ही लड्डू-पेड़ों के आकार तैयार करने, घर बनाना, रेलगाड़ी का डिब्बा और इंजन या ऐसी ही चीजें बनानी, इसमें बालक कितने तल्लीन और आनंदमग्न हो जाते हैं, इसको तो कोई अनुभवी ही जान सकता है! अपने बचपन की सब बातें याद न रहने से, बालकों के मिट्टी में हाथ सानने या कागज के टुकड़ों से घर को गंदा करने पर हमारी स्वच्छता और सुघड़ता को आघात पहुँचता है। इसके लिये हम बालक को डराते धमकाते भी हैं; परन्तु हमें अपनी भूल समझ में नहीं आती।

गारे से खेलने वाले बालक को स्व-निर्माण का इच्छित आनंद प्राप्त करने के बाद मल[illegible] नहलाने-धुलाने से स्वच्छता में कमी [illegible]ीं आती और न उसको खुजली आदि होने का ही भय रहता है। बालकों को चॉक अथवा पेंसिल से चित्र बनाने में बड़ा आनंद आता है। हमारे विचार से ये चित्र भले ही रेखाएँ [illegible]; परन्तु उनकी दृष्टि से तो कला की श्रेष्ठ [illegible]ना होती हैं। इन रेखा-चित्रों के बनाने में श्रे[illegible] कलाकार के जितना ही रचना का अपूर्व आनंद उन्हें प्राप्त होता है। इसके लिये बालकों

को कागज-पेंसिल पर्याप्त मात्रा में मिलने की व्यवस्था होनी चाहिए। यदि अनुकूलता हो और बालक को स्वतंत्र स्थान दिया जा सके तो ज़मीन से एक-डेढ़ फुट ऊँची जगह स्लेट या बोर्ड की तरह दी जाय। बालक उस पर अनेक प्रकार के चित्र बनाया करेगा। इस प्रकार की रचना के लिये तरह-तरह के विदेशी खिलौने मिलते हैं। मिट्टी के काम के लिये रंगीन मिट्टी, छोटी-छोटी कुर्सी-मेज़ और रेलगाड़ी बनाने के साधन, टोपा गूँथने की सलाई और कागज आदि अनेक वस्तुएँ बाजार में मिलती हैं। परन्तु ये चीज़ें कीमती होने से साधारण मनुष्यों की शक्ति से बाहर की होती हैं। हमारे देश का कोई कल्पनाशील व्यक्ति बच्चों के ऐसे खिलौनों को एक उद्योग की दृष्टि से भी तैयार करनेवाला निकले तो मूल्य का प्रश्न कुछ हल्का हो सकता है। फिर भी मध्यम श्रेणी के गृहस्थ बालकों को रंगीन मिट्टी, कागज-कैंची, काटने के लिये चित्र, कार्ड-बोर्ड और पेंसिल तथा हो सके तो रंगीन या सफेद चॉक जरूर दें। ये चीजें बालकों के लिये स्व-निर्माण के साथ खेल के पूर्ण आनंद का साधन बन सकती हैं।

सामान्य रूप से दो-तीन या साढ़े तीन वर्ष तक के बालक के लिये ढकने-उघाड़ने या खोलने-बन्द करने आदि की क्रियाओं वाले साधन, साढ़े तीन से पाँच-साढ़े पाँच वर्ष की आयु के बालक को ऐसे छोटे-छोटे साधन जिनके द्वारा वह बड़ों के दैनिक व्यवहार की नकल कर सकें, और साढ़े पांच से सात वर्ष की उम्र के बच्चों को स्वनिर्माण से आनंद पहुँचाने वाले साधन बढ़िया से बढ़िया ढंग के खिलौने हो सकते हैं।

अनु०–'नूतन' –सुलभा पाणंदीकर

शिक्षक सावधान रहे

मॉण्टीसोरी पद्धति पर अर्थात् स्वतंत्र शिक्षण के अनुसार चलने वाली शाला में काम करने वाले शिक्षकों को एक बात विशेष सजग रहने की आवश्यकता है। अपनी कक्षा में पढ़ते हुए १२-१५ या २० बालकों में कुछ की प्रगति बे-रोक-टोक हो रही है। वे हमेशा आगे का नया-नया काम चाहते हैं। शिक्षक को उन्हें आगे के मार्ग-दर्शन के लिये तैयार रहना पड़ता है। इसके साथ ही कुछ बालक सामान्य श्रेणी के होते हैं। उनकी उन्नति धीरे-धीरे हुआ करती है, वे आगे के बताये काम को करते हैं; परन्तु उनकी गति मंद होती है। इस प्रकार आगे पीछे रहने वाले बालकों को प्रतिदिन आगे-आगे बढ़ाने के लिये काम देते रहने का मुख्य प्रश्न शिक्षकों के सामने रहता है। शिक्षक की भूल प्रायः यहीं होती है। वह किसी भी प्रकार के बालकों के साथ रहता है। प्रायः देखा जाता है कि शीघ्र प्रगति करने वाले बालकों की तरफ उसका विशेष ध्यान रहता है और वह उन्हें नित नया

काम दिये चला जाता है। परन्तु उस समय पीछे रहने वाले अथवा सामान्य श्रेणी के बालकों की उपेक्षा हो जाती है। इसके फल-स्वरूप पीछे रहने वाले बालक अधिकाधिक पीछे रहते जाते हैं। इसके विपरीत परिस्थिति उस शिक्षक के सामने आती है जो पीछे रहने वाले बालकों की ओर अधिक ध्यान दिया करता है। वह शीघ्रता-पूर्वक आगे बढ़ने वाले बालकों का ध्यान नहीं रखता; इस लिये ऐसे बालक कक्षा में बैठे ही रहते हैं और उनकी उन्नति रुक जाती है। प्रायः ऐसा होता है कि ऐसे बालक कुछ न कुछ करके शाला के समय को तो पूरा करते हैं; परन्तु उनमें से अधिकांश बालक शैतानी की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। बहुत वार तो वे शाला में आना भी पसंद नहीं करते।

सब बालकों की प्रगति पर समान ध्यान रखते हुए सबको उचित अवसर पर आवश्यक मार्ग-दर्शन कराते चलना मॉन्टीसोरी शिक्षक का सबसे कठिन कार्य है। यदि भूल से शिक्षक इन दो में से एक कक्षा के बालकों में फँसा रहा तो दूसरी कक्षा की ओर से वह असावधान बना रहेगा, और बालकों को योग्य समय में मार्ग-दर्शन नहीं मिल सकेगा।

प्रायः शिक्षक शीघ्रता-पूर्वक प्रगति करने वाले [illegible]कों की तरफ ही अधिक ध्यान देते हैं। इसका एक [illegible] भी कारण है कि शाला देखने के लिये आनेवाले [illegible]क्तियों के सामने ऐसे बालकों का प्रदर्शन किया [illegible] सकता है; यथा, "देखिये इस चार वर्ष की लड़कीने यह सब लिखा है। यह बालक इस उम्र में भाग के प्रश्न करने लगा है" आदि। वास्तव में देखा जाय तो, जो बालक कुछ नहीं करते या जो पिछड़े हुए हैं, उनके लिये शिक्षकने क्या क्या प्रयत्न किया है, शाला देखने वालों को यह देखना और पूछना चाहिए।

इसके विपरीत उदाहरण भी देखने में आते हैं। यदि शिक्षक मंद गति से आगे बढ़नेवाले बच्चों पर ही विशेष ध्यान दे और शीघ्र काम करनेवालों की तरफ से बे-खबर हो जाय तो ऐसे प्रगतिशील बालक आगे करने का काम न मिलने के कारण आलसी और शैतान हो जाते हैं। यह भी उतना ही अनुचित है। कुछ बालक घन और ईंटों की सहायता से बंगला बनाने में ही लगे रहते हैं; तो कुछ मोतियों की माला ही बनाया करते हैं। बुद्धि के बिना उपयोग की ऐसी क्रियाओं में लगे हुए बालकों का यदि ठीक-ठीक अव-लोकन किया जाय तो जान पड़ेगा कि वे आगे काम न मिलने के कारण ही जहाँ के वहाँ पड़े [illegible]। विकास के बहुमूल्य समय को वे [illegible] प्रकार की जड़ क्रियाओं में निरर्थक [illegible]यतीत किया करते हैं।

शिक्षक को हमेशा दो बातों के लिये अधिक सावधान रहना आवश्यक है। एक तो [illegible]ागे बढ़नेवाले बालकों को आगे से आगे का [illegible] हमेशा मिलते रहना चाहिए, और दूसरे, कौ[illegible]-सा बालक पीछे रह जाता है उसका ठीक ध्यान रखते हुए उन्नति का उचित मार्ग ढूंढ

कर उसकी समुचित सहायता करनी चाहिए।

प्रत्यक्ष काम करते समय होनेवाली दोनों प्रकार की भूल और फिर परिस्थिति में किये हुए सुधार से होनेवाले परिवर्तन को स्पष्ट बताने-वाले दो उदाहरण यहां दिये जाते हैं।

साढ़े चार वर्ष की एक छोटी लड़की बीमारी के कारण दो महीने तक शाला में न आ सकी। दो मास बाद जब उसने आना शुरु किया तो साथी बालक बाल–पोथी पूर्ण करके पहली पुस्तक के पाठ पढ़ने लगे थे। वह लड़की लेखन, वाचन, गणित आदि सब में पीछे रह गई थी।

वर्ग की शिक्षिका आगे बढ़े हुए बच्चों को काम देने में लगी रहती। पीछे रहनेवाली उस बालिका को साथ लेने के विषयमें उन्होंने जरा भी विचार नहीं किया और न उपाय ही। बालिका धीरे-धीरे पिछड़ती गई और दूसरे बालक अधिकाधिक उन्नति करते रहे। अंत में तंग आ कर–दुखी हो कर–वह बच्ची इधर-उधर चक्कर लगाकर समय व्यतीत करने लगी।

वास्तविक परिस्थिति पर ध्यान जाते ही मैंने उसका मार्ग खोज निकाला। लड़[illegible] के लिये हमेशा पांच-दस मिनिट निकालकर उ[illegible] बिलकुल शुरु के शब्द-वाचन से लिया; फि[illegible] सरल चिठ्ठी पढ़ने को दी। धीरे-धीरे उसे आनंद आने लगा और वह प्रसन्न दीख पड़ने लगी। घर जाते समय वह कुछ न कुछ प्र[illegible] पूछा करती: "इन चिठ्ठीयों को घर लेजाऊं [illegible] "कल आप बहुत सी चिठ्ठी लिखकर देंगी [illegible]" आदि। अब उसे अपने विकास का मार्ग हाथ लग गया था। उसकी उदासीनता जाती रही। पहले वह घबराई हुई, चिंतित और उदासीन रहती थी; परन्तु अब हँसमुख खेलती-कूदती शाला में आती है। साथ में पुस्तक लाती है। बालपोथी को, आरंभ के सरल पाठ होने से, बे-रोकटोक समझ के साथ पढ़ती है। उसमें आत्म-विश्वास और प्रसन्नता आ गई है। धीरे-धीरे वह दूसरे बालकों के साथ हो गई है।

एक बालक का उदाहरण इस से दूसरे प्रकार का है। दो महीने पहले उसे जोड़ बाकी करना आता था। ४३२१ −३८९५ जैसी हासिल वाली बाकी करना वह जानता था; परन्तु आज ३४६ +४५८ जैसी संख्याओं का जोड़ भी उसे नहीं आता! ऐसा ही पढ़ने के संबंध में हुआ। वास्तव में उन्नति के बदले उसकी तो अवनति हो रही थी! बालक शाला से तंग आ गया था और दूसरी शाला में जाना चाहता था।

इस बीचमें नई नोटबुक (Exercise Book) लेने की उसकी इच्छा हुई। बालक के पिताने उसकी इस इच्छा को प्रेमपूर्वक पूर्ण किया। नई कॉपी हाथ में आते ही उसमें बहुत-से उदाहरण करने का उत्साह प्रकट हुआ। उसके पिताने एक-दो प्रश्न करके ब[illegible] और १०-१२ प्रश्न अपने साम[illegible] करवाये। बस, फिर तो बालक प्र[illegible] के पीछे ही पड़ गया! इसके बाद [illegible] उत्साह की धारा वाचन की तरफ भी प्रवाहित हुई। वास्तव में देखा जाय

तो उसे शाला में कुछ आगे का काम मिलने की आवश्यकता थी। प्रतिदिन एक ही काम को करने से वह तंग आ गया था और उपेक्षा के कारण पहले सीखे हुए को भूलने की तैयारी करने लगा था। नई कॉपी का कुछ सहारा मिलते ही उसमें नवीन उत्साह प्रकट हुआ और वह शाला में नितनया काम करने के लिये प्रसन्नता से जुट गया।

यदि शिक्षक भाई अपने कर्तव्य के विषय में जाग्रत रहें तो ऐसी छोटी मालूम होने वाली बातों में भी उनका असावधानी न करना आवश्यक है।

अनु०-'नूतन' —ता०

गणित शिक्षण

(७)

(दशक पद्धति)

डॉ. मॉण्टेसोरीने संख्या-लेखन तथा जोड़-बाकी गुणा और भाग सिखाने के लिये जिन साधनों की योजना की है वे गणित-शिक्षण के साधनों में अच्छे से अच्छे और अति उपयोगी साधन हैं। प्रत्येक प्राथमिक शाला को ये साधन अपने यहां अवश्य ही रखने चाहिए। गणित सीखते हुए इनसे बालकों को कभी भी अरुचि नहीं होती। इन साधनों को बालक बड़ी खुशीसे लेते हैं और एकाग्रता-पूर्वक इनका उपयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त बालकों को इनके द्वारा गणित के महत्त्वपूर्ण प्राथमिक अंगों — संख्या-लेखन, जोड़-बाकी, गुणा और भाग का गंभीर ज्ञान प्राप्त [illegible] है। इन क्रियाओं का मर्म उनकी समझ में आ [illegible] सामान्यतः दीख पड़नेवाली गणित विषयकी [illegible] उनमें कदाचित् ही उत्पन्न होती है।

संख्या-लेखन की एक विशेषता यह है कि चाहे जितनी बड़ी-अरबों-खरबों की-संख्या लिखनी हो तो भी उसके लिखने में नौ अंको और दसवें शून्य से काम चल सकता है। निःसंदेह गणित की विचित्र शोधों में से इस संख्या-लेखन की शोध करनेवाले गणित-शास्त्रियों का हम पर अपार उपकार है।

इतनी बड़ी संख्याओं का लिखना केवल दसही अंकों की सहायता से हो जाता है, इसके मूल में 'दशक-पद्धति' की योजना सम[illegible] है। एक-एक करके दस हो जाते हैं; [illegible]र्थात् इस दस की ही गिनती के लिये नौ इकाई लेकर फिर एक दस, दो-दस इस प्रकार गिन सकते हैं, और लिखने में भी यही रीति है। लिखने में अंतर केवल इतना है कि एक एक वाली और दसवाली संख्या को प्रकट [क]रने के लिये अंकों के स्थान अलग-अलग [र]खे जाते हैं।

दस से आगे चल कर दस-बार दस होने

पर उसे 'सौ' का नाम दे दिया जाता है। फिर उसकी एकसौ, दोसौ, तीनसौ इस प्रकार नौसौ तक गिनती चलती है। इस लिये सौ की संख्या के अंक-मान को प्रकट करने के लिये तीसरा खाना बनाना चाहिए। इसी प्रकार दस सौ में से 'एक हजार' की संख्या पैदा होती है और आगे एक हजार से नौ हजार तक चलती है। इसके बाद एक दस, दो दस... नौ दस हजार बोली और लिखी जाती है। दस दस हजार होने पर उसे 'लाख' का नाम दे दिया जाता है और फिर पूर्ववत् एक दो तीन लाख बोलते-लिखते हैं। इसी प्रकार का क्रम आगे चलता जाता है।

इन स्थानबद्ध भिन्न-भिन्न अंकमानों का ज्ञान बालकों को उचित ढंग से कराने में ही संख्या-लेखन की विशेषता अथवा महत्त्व समाहित है। यही मुख्य प्रश्न है कि शिक्षक बच्चों को इसका ज्ञान किस प्रकार करायें।

प्राथमिक शालाओं में आज तक इस प्रश्न को उचित ढंग से हल नहीं किया गया। धृष्टता-पूर्वक कहें तो कहना होगा कि प्राथमिक शिक्षण के किसी भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न को प्राथमिक शालाओं के शिक्षकों ने अपने हाथ में लेकर अभी तक नहीं सुलझाया। ये तो बालकों से रटाकर आवश्यक पाठ तैयार करवाने की—खराब से खराब—पद्धति का ही व्यवहार करते रहे हैं।

साधन

डॉ. मॉण्टेसोरी ने इस 'दशकपद्धति' का ज्ञान करने के लिये निम्न प्रकार के साधनों की योजना की है। ये साधन सुनहरे रंग के कुल दो हजार एकसौ दस मोतियों द्वारा बनाये जा सकते हैं।

एक तो छोटी डिब्बी में दस मोती खुले रक्खे जाते हैं।

ऐसे ही दस-दस मोती पीतल के मजबूत तार में पिरो कर तार के दोनों सिरे गोल मोड़ दिये जाते हैं। इस तरह की दस-दस मोतियों की दस मालाएं होती हैं। ये दूसरी डिब्बी में रक्खी जाती हैं।

इनके अतिरिक्त दस-दस की दूसरी दो सौ मालाऐं बनानी होती हैं। इन में से दस मालाएं लेकर तार की सहायता से मजबूत बांध कर १०० मोतियों का एक वर्ग बनाया जाता है। ऐसे दस वर्ग बना कर उन्हें तीसरी डिब्बी में रखते हैं।

ऊपर के ढंग के शेष दस वर्गों को उपर-नीचे रख कर १००० मोतियों का एक घन मजबूत बांध कर बनाया जाता है। इसे चौथी डिब्बी में रखते हैं।

जब बालक को दस तक की गिनती पक्की हो जाय तो उसके बाद तुरन्त ही यह साधन उसे दिये जा सकते हैं।

गिनती पक्की होने की स्पष्ट पहचान नीचे लिखे ढंग से हो सकती है:—

(१) बालक के हाथ में थोडी सी कौड़ी, मोती या बीज दे कर उससे पूछा जाय, 'ये कितने हैं?' इस प्रकार पूछने पर वह ठीक-ठीक गिन कर बता दे।

(२) चार कौड़ी लाओ, सात कंकड़

लाओ, इस प्रकार पूछने पर बालक ठीक उतनी ही कौड़ी या कंकड़ लाकर दे सके।

(३) ५, ८, ० आदि अंकों के ताश बालक को बताने पर वह उतनी कंकड़ या कौड़ी ताश के ऊपर रख सके।

(४) बालक, हाथ में दी हुई कंकड़ों को गिनकर उसी के अनुरूप ताश या अंक लाकर दे सके।

(५) अपनी निकटवर्ती वस्तुओं या पदार्थों में से उसे संख्या की पहचान आजानी चाहिए। जैसे कमरे में चार खिड़कियाँ हैं, बैठक में आठ आदमी बैठे हैं, मेज पर पांच फूल पड़े हैं, आदि।

संक्षेप में दस तक की संख्याओं के लिखने, पढ़ने, गिनने और उन्हीं के अनुसार वस्तु लाने का पूर्ण ज्ञान बालक को हो जाने पर उक्त साधन उसे दिये जा सकते हैं।

साधन सामने रखने का ढंग

पहले सबसे छोटी डिब्बी में रक्खे हुए खुले मोती बालक से गिनवाये जाँय। दस तक गिन चुकने के बाद शिक्षक बालक को दूसरी डिब्बी में से दस मोतियों की तैयार की हुई माला दे और उससे कहे कि "इसमें कितने मोती हैं? गिनो!"

मोती गिनकर बालक कहेगा कि "दस मोती हैं।"

एक माला गिन जाने के बाद दूसरी डिब्बी में की शेष ... मालाओं को भी बालक से कह कर गिनवाया जाय। इस प्रकार बालक को दूसरी डिब्बी में की दस मालाओं को गिन लेना चाहिए।

फिर प्रत्येक माला लेकर बच्चे से कहना चाहिए कि "यह दस (या दहाई) है।" इसके बाद शिक्षक एक-एक माला उठाकर रखता जाय और बोलता जाय, "एक दस, दो दस, तीन दस, चार दस, पांच दस, छ दस, सात दस, आठ दस, नौ दस, दस दस।" आरंभ में शिक्षक के साथ बालक को भी गिनते रहना चाहिए। फिर धीरे-धीरे वह स्वयं ही साधन लेकर गिनने लगेगा। बालक को दस तक गिनना तो आता ही है। जैसे वह आसपास की चीज़ों को गिनता था उसी प्रकार इन मालाओं को भी गिनने लगेगा। पांच कौड़ी, सात गोली या दस मालाओं मे सब उसके लिये स्वतंत्र गिनने की वस्तु ही रहेंगी।

आरंभ में इस प्रकार बोलना शायद बच्चे को अच्छा न प्रतीत हो; फिर भी उसे ऐसी आदत डाल देनी चाहिए कि वह "एक माला, दो माला" न बोल कर "एक दस, दो दस" आदि ही बोले। आदत पड जाने पर इस प्रकार बोलना भी अच्छा मालूम होने लगता है। इस में कोई नई समझ की बात तो है नहीं, क्यों कि प्रत्येक माला में दस मोती हैं, ... वो उसने स्वयं गिनकर देख लिया है।

मालाओं का गिनना आ जाने पर दृढ़ विश्वास करने और आदत डालने के लिये मालाओं की डिब्बी कुछ दूर रख कर बालक से लेना चाहिए, "तीन दस लाओ, पांच दस लाओ, आठ दस लाओ।" शिक्षक के कहने के अनुसार दस की मालाएँ लाने और डिब्बी

Regd. No. B. 4410

में रख कर आने का खेल हो सकता है। कुछ बालक तो इस पद्धति को तुरन्त समझ जाते हैं और इसके अनुसार काम करने लगते हैं; परन्तु कुछ को एक-दो दिन की देर भी लगती है। जिन्हें यह समझ में आ जाय और रुचिकर जान पड़े, उन्हें आगे का काम बताया जा सकता है। इस प्रकार बिना भूल किये, कही हुई मालाएँ लाकर देने पर बालक को आगे का खेल खिलाना चाहिए। (क्रमशः)

अनु०—नूतन —ता०

भूल सुधार

देखिये हिन्दी शिक्षणपत्रिका वर्ष १० अंक १ पृष्ठ ४ पर **अंकगणित-शिक्षण** के दूसरे अनुच्छेद (पैरे) पंक्ति ५ में "१० से १९ तक" के स्थान पर "१० से १८ तक" होना चाहिए।

पृष्ठ ५ के पहले कॉलम की ११ वीं पंक्ति में "६ के नीचे आयेगा" के स्थान पर "७ के नीचे आयेगा" और [illegible] वीं पंक्ति में "४ या ६ की लाल पट्टी" की जगह "४ या ७ की लाल पट्टी" होना चाहिये। इसी पृष्ठ के दूसरे कॉलम की २६ वी पंक्ति में [illegible] तक" के स्थान पर "१० से [illegible] तक" होना चाहिए।

छठे पृष्ठ के प्रथम कॉलम की १५, १६, २० पंक्ति में क्रम से १६, ९, १९ के स्थान पर १७, ८, १८ होना चाहिये। इसी प्रकार दूसरे कॉलम की पहली-दूसरी पांक्ति में १९ के स्थान पर १७ होना चाहिये।

पृष्ठ ७ के पहले कॉलम की १७ वीं पंक्ति में १९ के स्थान पर १८ होना चाहिए।

यह लाभ अवश्य उठाईये।

शिक्षण पत्रिका के पिछली साल के अंक रिआयती मूल्यसे मिल सकते हैं। पहले पांच वर्ष के अंक अब नहीं मिलते। वर्ष ६ और ७ की पिछली हरेक फाईल (यानी १२ अंक) का मूल्य ०-८-० किया गया है। किसी में एक-दो अंक कम हैं इसके लिये हम मजबूर हैं।

वर्ष ८ और ९ का वार्षिक चंदा १-०-० होगा। उक्त वर्षोंकी सभी फाईलें मंगवाने से ३-१२-० में घर पहुंचा देते हैं। सजिल्द का हरएक फाईल का ०-१२-० अलग अलग होगा।

पताः —

व्यवस्थापक, शिक्षण-पत्रिका कार्यालय, [illegible]पुरा, बडौदा.

मुद्रक व प्रकाशक : पु. आ. चित्रे आत्माराम मुद्रणालय, [illegible]रोबाव रोड, बडोदा
कार्यालय : महाजन गली, [illegible]ानमंदिर, रावपुरा, बडोदा ८ : १ : ४४

इंदौर, बीकानेर, जोधपुर, देवास, बड़वानी, बंबई, मध्यप्रान्त–बरार, पंजाब, बिहार, यू॰पी॰ और उड़ीसा की सरकारों के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत।

आद्य संपादक :
स्व॰ गिजुभाई

वार्षिक मूल्य :
देश में, एक रुपया
विदेश में, दो शिलिंग

शिक्षण–पत्रिका

संपादक :
श्री॰ ताराबहन मोड़क.

सहसंपादक :
श्री॰ बन्सीधर
श्री॰ काशिनाथ त्रिवेदी

(माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र)

वर्ष १० वाँ] फरवरी १९४४, माघ २००० [अंक ५ वाँ

दूसरों के सुधार करने का फिक्र करने से पहले अपना सुधार करो।

दूसरों की नुक्ताचीनी करने की अपेक्षा अपनी नुक्ताचीनी करो।

दूसरों को उपदेश देने की निस्बत खुद अपने को उपदेश देना सीखो।

बस, खुद गुलाब के फूल बन जाओ, सुगंधी खुद-ब-खुद चारों ओर फैल जाएगी। खुद प्रकाश बनजाओ, अंधकार स्वतः मिट जाएगा।

—सं॰

★

नूतन बालशिक्षण संघ का आगामी चुनाव और संघ का कार्य

पाठक इसी अंक में नूतन बालशिक्षण संघ का नया संशोधित विधान (Constitution) पढ़ेंगे। कागज की असह्य मँहगाई का परिणाम शिक्षणपत्रिका के पाठकों से अज्ञात नहीं है। तदुपरांत संघ के सभासदों की संख्या भी बहुत है। इन सब कारणों से हमें यह सम्पूर्ण अंक संघ के विधान और चुनाव विषयक वर्णन में रोकना पडा है। इस के लिये पाठकों से हम क्षम्य हैं।

संघ का एक अस्थायी विधान ३ वर्ष पूर्व बनाया गया था। उसके अनुसार गत ३ वर्ष से संघ ने अपना कार्य किया है। इन तीन वर्षों के अनुभव से विधान में परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई; वह लक्ष्य में रखकर यह नवीन विधान तैयार किया गया है। निःसन्देह संघ के मूल उद्देश्य या कार्य में कुछ भी परिवर्तन नहीं किया है। जो कुछ परिवर्तन किये गये हैं, वे संघ के कामकाज विषयक नियमों में ही किये गये हैं।

जरूरी परिवर्तन

विधान में किये गये नये परिवर्तन मुख्यतः ३ हैं। (१) व्यवस्थापक मंडल का चुनाव, (२) भाषा-विभागीय कार्यकर्ता मंडलों की नियुक्ति और (३) स्वतंत्र विश्वस्तमंडल (ट्रस्ट मंडल) की नियुक्ति।

व्यवस्थापक मंडल

पुराने विधान के अनुसार व्यवस्थापक मंडल में ५ चुने हुए सभ्य आते थे और ११ सभ्य कार्यकर्ता मंडल में चुने हुए आते थे। कार्यकर्ता मंडल के ११ सभ्यो में से दो सभ्य उस मंडल की तरफ से चुनाव करके व्यवस्थापक मंडल में भेजने का प्रबन्ध था, और इस प्रकार व्यवस्थापक मंडल कुल ७ सभ्यों का था।

नये विधान में व्यवस्थापक मंडल को विस्तृत किया गया है। पुराने विधान के अनुसार भिन्न २ प्रकार के सभ्यों में से कार्यकर्ता मंडल का चुनाव किया जाता था; अब यह चुनाव व्यवस्थापक मंडल के सभ्यों के लिये किया जाये गा। अर्थात् नवीन योजना अनुसार व्यवस्थापक मंडल में—२ आजीवन सभ्यों में से, २ सहायक सभ्यों में से, ६ सक्रिय और प्रतिनिधि सभ्यों में से और १ सामान्य सभ्यों में से इस प्रकार कुल मिलकर—११ सभ्य चुने हुए होंगे।

इस के अतिरिक्त संघ द्वारा आज गुजराती, मराठी और हिन्दी—तीन भाषाओं में काम हो रहा है। इस लिये आवश्यकता प्रतीत हो तब प्रत्येक भाषा के लिये [illegible] एक मंत्री नियुक्त करने का अधिकार व्यवस्थापक मंडल को दिया गया है। इस के सिवाय विश्वस्त

मंडल के दो सभ्य भी व्यवस्थापक मंडल में बैठेंगे। इस प्रकार व्यवस्थापक मंडल के सभ्यों की ज्यादह से ज्यादह संख्या १६ की होगी।

आजकल संघ का जो काम हो रहा है, उसे देखते हुए गुजराती और मराठी भाषा के लिये एक-एक मंत्री नियुक्त करने की आवश्य- संघ के लिये जरूरी धन प्राप्त करना और उसका समुचित विनियोग करना गिना जा सकता है। इस के सिवाय संघ की कार्य-दिशा का निर्देश करना और इस के लिये आयोजित किये हुए कार्य सफल करना—यह भी व्यवस्थापक मंडल का ही काम है। इस लिये नवीन विधान के अनुसार व्यवस्थापक मंडल में

नूतन बालशिक्षण संघ

सामान्य सभा

(ता. १२-३-४४ रविवार)

नूतन बालशिक्षण संघ के सभ्यों की सामान्य सभा (General Body) ता. १२-३-४४ रविवार को शाम के ५ बजे (नया टाईम) बम्बई चौपाटी मेथ्यु-रोड पर स्थित भगिनी समाज, टी. एन. माळवी बाल-मंदिरमें होगी। उस समय निम्न विषय प्रस्तूत होगा।

१ पिछले तीन वर्ष का संघ के कार्य का वृत्तान्त।
२ पिछले तीन वर्ष का अन्वेषक द्वारा जाचा हुआ हिसाब।
३ प्रमुखश्री की अनुमति से मंत्री पेश करे वह।

ताराबेन मोडक
सरोजबेन योध
मंत्री, नूतन बालशिक्षण संघ

कता तो है ही; तदुपरांत हिन्दी भाषा में भी [illegible]र्थ एक स्वतंत्र मत्री नियुक्त करने की भी उतनी ह[illegible] विशेष आवश्यकता है।

व्यवस्थापक मंडल [illegible] उपर संघ के काम का सब उत्तरदायित्व है। [illegible] में मुख्यतः [illegible]ुनाव होकर जो सभ्य आवें गे, वे ही संघ के [illegible]चे संचालकों के स्थान पर होंगे। संघ के मार्ग-द[illegible]न की सभी जवाबदारी उन की होगी।

कार्यकर्तामंडल

संघ का संचालन करनेवाला, कार्यदिशा

का निर्देश करनेवाला और उसके लिये द्रव्य देने का प्रबन्ध करनेवाला मंडल, व्यवस्थापक मंडल होनें परभी प्रत्यक्ष कार्य हमेश वह मंडल ही करे गा ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष कार्य प्रायः वेतन लेनेवाले कार्यकर्ताओ द्वाराही होता है। संघ का आधुनिक मुख्य कार्य नूतन बालशिक्षण के प्रचार का है। अर्थात् वेतन लेकर संपूर्ण समय संघ का काम करनेवाले प्रचारक नियुक्त करने की पद्धति भी संघने स्वीकारी है। किन्तु प्रचारकार्य मात्र दो एक गिने चुने व्यक्तियों से नहीं हो सकता। इस के लिये प्रचारकला के ज्ञाता, संख्याबद्ध कार्यकरों की सतत सहायता आवश्यक होती है। इस नवीन विधान में प्रचार की दृष्टि से अनेक उत्साही कार्यकर्ताओं का प्रत्येक भाषा के लिये एक-एक कार्यकर्ता मंडल नियुक्त करने की योजना का समावेश किया है। इस में संदेह नहीं है कि यह मंडल अवैतनिक स्वयंसेवकों का होगा, और उनका कार्य प्रत्यक्ष प्रचार का होगा। व्यवस्थापक मंडल का चुनाव करना तो प्रति तीन वर्ष के अन्त में रखा है, किन्तु कार्यकर्ता मंडल प्रति वर्ष नया नि[illegible] करने की योजना है। ऐसा इस दृष्टि से किया ग[illegible] है कि वर्ष के प्रारम्भ में किसी भाई या बहन क[illegible] वह संघ का कार्य करेगा इस आशा से कार्यक[illegible] कर्ता मंडल में नियुक्त किया गया हो; किन्तु वर्ष के अन्त में ऐसा प्रतीत हो कि कार्य कर[illegible] की इच्छा के अभाव से, अवकाश के अभ[illegible] से या इसी प्रकार के अन्य किसी कारण से उस व्यक्ति से संघ का कार्य ठीक ठीक हो नहीं सकता, तो नये वर्ष में अन्य उत्साही कार्यकर्ता को नियुक्त करने की अनुकूलता रहे। जो उत्साहपूर्वक काम करते हैं, उन कार्यकर्ताओं को बदलने की कोई जरूरत नहीं है। प्रतिवर्ष नवीन नियुक्ति में भी उत्साही कार्यकर्ताओं को तो फिर भी कार्यकर्ता मंडल में लियाही जायगा। बहुत से मंडलों मे ऐसा होते देखा गया है कि पुराने सभ्य तीन या पाँच वर्ष तक अकर्मण्य से रहते हैं और निष्कारण मंडल में उतना स्थान रोक रखते हैं; इस प्रकार इस कार्यकर्ता मंडल में न होने पावे इसी लिये मंडल के सभ्यों की नियुक्ति प्रतिवर्ष नवीन सिरे से करने का विचार है।

कार्यकर्ताओं की नियुक्ति

सामान्य मंत्री (जनरल सेक्रेटरी) और भाषा विभागीय मंत्री मिलकर कार्यकर्ता मंडल के लिये जो नाम सूचित करेंगे उसके मुताबिक व्यवस्थापक मंडल कार्यकर्ताओं की नियुक्ति करेगा। भावार्थ यह कि प्रत्येक भाषा विभागीय मंत्री को अपने २ प्रदेश में कार्य करना होगा- इस लिये वह अपने अनुकूल कार्यकर्ता मंडल बना सके और अन्तिम निर्णय एवं नियुक्ति व्यवस्थापक मंडल की स्वीकृति से हो।

इस प्रकार हरेक भाषा के स्वतंत्र कार्यकर्ता मंडल कब नियुक्त किये जाँय, यह [illegible] स्वतः उत्पन्न होता है। इस के लिये ऐसी शर्त रखी है कि जिस भा[illegible] विभाग में कम से कम १० आजीव[illegible] सभ्य, २० सहायक सभ्य, २५

नूतन बालशिक्षण संघ

सक्रिय सभ्य, ३ प्रतिनिधि सभ्य और १०० सामान्य सभ्य हों, उस विभाग के लिये स्वतंत्र कार्यकर्ता मंडल नियुक्त किया जा सके। इन शर्तों के अनुसार हाल गुजराती और मराठी विभाग के लिये स्वतंत्र कार्यकर्ता मंडल नियुक्त हो सकेगा। हिन्दी भाषाविभाग में इस दृष्टि से अभी बहुत प्रचार होने की जरूरत है। इसके लिये हिन्दी भाषामंत्री की नियुक्ति की खास आवश्यकता है। ऐसे मंत्री के प्रचारकार्य के परिणामरूप थोडे समय में हिन्दी भाषाविभाग के लिये भी स्वतंत्र कार्यकर्ता मंडल नियुक्त करने का अवसर आ पहुँचेगा ऐसा भास होता है, कारण कि आज हिन्दी भाषाभाषी प्रान्तों में नूतन बालशिक्षण के विषय में अत्यन्त रस लेनेवाले भाईबहेनों की संख्या बहुतायत से है।

ट्रस्टी मंडल

संघ के पास भिन्न २ कार्यों में उपयोग के लिये कुछेक धननिधियाँ (फंड) एकत्र हुए हैं। इन फंडों एवं व्यवस्थापक मंडल सुपुर्द करे, उस सभी संपत्ति की योग्य व्यवस्था के लिये तथा इनका व्यय योग्य प्रकार से होता है कि नहीं इसके निरीक्षण के लिये स्वतंत्र स्थायी ट्रस्टी मंडल होने की आवश्यकता प्रतीत होने से इस विधान में इतना परिवर्तन किया गया है। संघ के पास हाल स्व. गिजुभाई स्मारकनिधि और आजीवन सभ्यों का चंदा,–इस प्रकार दो फंड तो हैं ही। इसके सिवाय अन्य दान तथा शिक्षणपत्रिका का वार्षिक मूल्य, और संघ के सभ्यों का वार्षिक चंदा भी आता है। इस सब धनराशि का विनियोग एकद्वारा हो इसलिये ट्रस्टी मंडल की होना आवश्यक थी।

लिखन के लिये प्रेरित करना।

(ख) अपने देश की भाषाओं में बालशिक्षण सम्बन्धी साहित्य बहुत नहीं है, इस

का शिक्षण देनेवाले अध्यापनमंदिर का संचालन करना अथवा उक्त प्रकार

का निर्देश करनेवाला और उसके लिये द्रव्य देने का प्रबन्ध करनेवाला मंडल, व्यवस्थापक मंडल होनें परभी प्रत्यक्ष कार्य हमेश वह मंडल ही करे

उस व्यक्ति से संघ का कार्य ठीक ठीक हो नहीं सकता, तो नये वर्ष में अन्य उत्साही कार्यकर्ता को नियुक्त करने की अनुकूलता रहे। जो

नवीन विधान में इतनी फेरफारी मुख्यरूप से है। विधान के नियोजकों का ऐसा मन्तव्य है कि यह नवीन विधान अधिक कार्यपोषक और कार्यसाधक सिद्ध होगा। यह तो स्पष्ट है कि विधान. तो–कागज उपर के अक्षर–निर्जीव अक्षर ही हैं। वास्तविकता तो कार्यकर्ताओं के कार्य और उत्साह से है। गत ३ वर्षों में अनेक सेवाभावी एवं नूतन बालशिक्षण संघ के प्रति ममता रखनेवाले भाई-बहेनों ने उत्साहपूर्वक और ध्यान से संघ का सेवाकार्य किया है। हमारी इच्छा है कि आगामी वर्षों में भी उतने ही उत्साह से–बल्कि सविशेष उत्साह से–संघ का कार्य प्रगतिवान् हो।

अनेक बालशिक्षणप्रेमी और बालशिक्षण-क्षेत्र के कार्यकर्ताओं से हमारी आग्रहपूर्ण, प्रेमपूर्वक नम्र विनति है कि जिन-जिन भाई-बहेनों को कार्यकर्ता मंडल में शामिल होने की इच्छा हो वे अपने पूरे नाम पूरे पते के साथ संघ के मंत्री को पत्र लिख कर सूचित करें।

संघ का कार्य

संघ का कार्य नवीन नहीं है। अनेक वर्षों से संघ बालशिक्षण कार्य के निमित्त सतत प्रयत्न कर रहा है। नूतन बालशिक्षण के सिद्धान्तों का जनता में प्रचार करना–इसका कार्य है। इसके लिये संघ का संगठित बल बढ़ना चाहिये; अर्थात् संघ-सभ्यों की संख्या विशाल, अतिविशाल–हजारों की संख्या में होनी चाहिये। बालकों के हित के लिये यह कार्य सफल करने का बल हम सब में आये ऐसी सब की अभिलाषा हो।

ताराबेन मोडक
सरोजबेन योध
मंत्री, नू. बा. शि. संघ

से या इसी प्रकार के अन्य किसी कारण से

१० आजीवन सभ्य, २० सहायक सभ्य, २५

नूतन बालशिक्षण संघ

(आद्यस्थापक स्व० गिजुभाई बधेका)

विधान और नियम

नाम—इस संघ का नाम नूतन बालशिक्षण संघ (आद्य संस्थापक स्व० श्री गिजुभाई बधेका) होगा।

कार्यालय—इस संघ का कार्यालय बम्बई में या इसके बाद जहाँ संघ निश्चय करे वहाँ रहेगा।

उद्देश्य—इस संघ का उद्देश्य-हिन्दुस्तान में बाल-शिक्षण का अध्ययन तथा प्रत्यक्ष प्रयोग बढ़ाना, इस विषय में नवीन अन्वेषण करना, बालशिक्षण सम्बन्धी नये सिद्धान्तों का प्रचार करना, एवं हिंद की परिस्थिति के अनुरूप हो सके ऐसी बाल-शिक्षण विषयक नवीन पद्धति या पद्धति-यों का समावेश करना है।

कार्यप्रदेश—इस संघ की कार्यसरणी निम्न प्रकार की होगी।

(क) जिन व्यक्तियों ने बालशिक्षण के क्षेत्र में प्रत्यक्ष कार्य किया हो या उस सम्बन्धी पढ़ा-विचारा हो, उनको-अपने अनुभव, अध्ययन और विचार के मुख्य आधार-मूलक मौलिक पुस्तकें लिखने के लिये प्रेरित करना।

(ख) अपने देश की भाषाओं में बालशिक्षण सम्बन्धी साहित्य बहुत नहीं है, इस लिए अन्य भाषाओं में से बालशिक्षण विषयक प्रमाणभूत ग्रन्थों का हिन्दी, गुजराती, मराठी या हिन्द की अन्य भाषाओं में अनुवाद करने के लिये प्रेरणा करना।

(ग) नूतन शिक्षण के सिद्धान्तों को माता-पिता भी समझ सकें ऐसी सुबोध भाषा में छोटी पुस्तिकायें तैयार कराना और ये पुस्तिकायें मुफ्त अथवा नाम-मात्र के मूल्य से बेचना।

(घ) माता-पिता और शिक्षकों (अध्या-पकों) के लिये लोकोपयोगी व्याख्यानों की आयोजना करना।

(ङ) बालशिक्षण विषयक नूतन सिद्धांतों के सम्बन्ध में शिक्षण और मातापिताओं को मार्गदर्शक हो, एवं इस क्षेत्र के कार्य-कर्ताओं के अनुभव लेखबद्ध रहें, इस लिए किसी सामयिक पत्र का संचा-लन करना।

(च) नूतन पद्धति के अनुकूल संचालित बालशालाओं के लिए शिक्षित शिक्षक मिल सकें इस लिए नूतन शिक्षण पद्धति का शिक्षण देनेवाले अध्यापनमंदिर का संचालन करना अथवा उक्त प्रकार

के अध्यापनमंदिर चलानेवालोंको सहायता देना।

(छ) आधुनिक प्राथमिक शिक्षणालयों में कार्यकरने वाले शिक्षकों के लिये अध्यापनमंदिर प्रारंभ करना, उनको नूतन शिक्षण का ज्ञान देना और नूतन शिक्षण के सिद्धान्तों की दृष्टिसे वे अपनी शालाओं में किस प्रकार के आवश्यक परिवर्तनों का समावेश कर सकते हैं इस विषय में उनको आग्रहपूर्वक समझाना।

(ज) बालशिक्षण के क्षेत्र में विदेश या स्वदेश में, उक्त प्रकार की शालाओं के लिये उपयोगी हो सकने वाली नवीन प्रकाशित पुस्तकों या उपयुक्त शिक्षण विषयक साधनों सम्बन्धी विविध प्रकार के अद्यतन समाचार दे सकने वाले विज्ञापक केन्द्र स्थापित करना।

(झ) अपने इस विशाल किन्तु गरीब देश की आवश्यकताओं के अनुरूप सस्ते होने पर भी शास्त्रशुद्ध साधन बनने के लिये उत्तेजन देना और उनके प्रचार-प्रसार के लिये अनुकूलता करना।

(ञ) उक्त प्रणालि अनुसार संचालित शालाओं के निरीक्षण और मार्गदर्शन के लिये निरीक्षक-मंडल नियुक्त करना।

(ट) शिक्षण की नूतन पद्धतियों के अभ्यासार्थ योग्य व्यक्तियों को उनकी अभ्यास-वृद्धि के लिये सहायता देनी।

(ठ) हिंद की एवं विदेश की भाषाओं का बालशिक्षण विषयक साहित्य तथा बाल-साहित्य का 'चल (फिरता) पुस्तकालय' रखना।

(ड) १० वर्ष से कम आयु के बालका के मानसिक विकास के अध्ययन एवं उनके उपर प्रयोग करने के लिये मानसशास्त्र विषयक संशोधनमंदिर स्थापित करना अथवा इस प्रकार के संचालित विभाग को सहायता देना।

(ढ) नूतन बालशिक्षण के कार्य को वेगवान् बनाने और प्रचार करने के लिये शिक्षण विषयक संमेलनों की आयोजना करना।

(ण) बालशिक्षण के कार्य को नवीन रीत और पद्धति अनुसार आगे बढाने के लिये सब आवश्यक कार्यवाही करनी।

(त) इस प्रकार के बालशिक्षण की वृद्धि के लिये अन्य जो मंडल या संघों के हेतु और कार्य हों, उनके साथ सहकार करना।

कायदाकानून

(अ) **सभ्य (सभासद)**–संघ के सभ्यों के निम्न प्रकार के ५ विभाग होंगे।

१ आजीवन सभ्य

संघ के उद्देश्य और कार्यसरणि से संमत हो, ऐसी १८ वर्ष से ज्यादह उम्र की कोई भी व्यक्ति नीचे दर्शित रकम देकर (या व्यवस्थापक मंडल यथा-

नूतन बालशिक्षण संघ

उमेदवार-पत्र

श्री मंत्रीजी,

नूतन बालशिक्षण संघ,

११७, हिन्दु कॉलॉनी, पांचमी गली, दादर (बम्बई १४)

मैं ______________ निवास ______________

पोष्ट ______________ जिला ______________ का इस उमेदवार-पत्र द्वारा नूतन बालशिक्षण संघ के आजीवन * / सहायक / सक्रिय / प्रतिनिधि / सामान्य सभ्यों के विभाग की तरफ से व्यवस्थापक मंडल के सभ्यपद के चुनाव के लिये अपना नाम उमेदवारों की नामावलि में लिखने का निवेदन करता हूँ।

____

तारीख — —१९ हस्ताक्षर (उमेदवार)

अथवा

श्री ______________ स्थान ______________ पोष्ट ______________

जिला ______________ निवासी का नाम संघ के + ______________ विभाग के सभ्यों की तरफ से व्यवस्थापक मंडल के सभ्यपद की उमेदवारी के लिये प्रस्तुत करता हूँ।

______________ ______________

तारीख — —१९ तारीख — —१९

अनुमोदक के पूरे हस्ताक्षर प्रस्तावक के पूरे हस्ताक्षर

अनुमोदक का स्पष्ट अक्षरों में पूरा नाम पूरे पते के साथ प्रस्तावक का स्पष्ट अक्षरों में पूरा नाम पूरे पते के साथ

नाम ______________ नाम ______________

पता ______________ पता ______________

यहाँ से काट लेना।

* + कृपा कर के पिछली और छपी हुई सूचनायें देखिये।

आवश्यक सूचनायें

* उमेदवार स्वयं जिस विभाग के सभ्यों की तरफ से खड़ा हुआ हो, उस विभाग का नाम बाकी रख कर अन्यचारों के नाम मिटा देने चाहिये।

\+ जो सभ्य किसी दूसरे का नाम जिस विभाग के सभ्यों की तरफ से व्यवस्थापक मंडल के सभ्यपद के लिये सूचित (प्रस्तूत) करे, वह विभाग का नाम स्पष्ट रूप से लिखे ।

१ व्यवस्थापक मंडल के चुनाव के लिये उमेदवारी करनेवाले संघ के सभ्यों को पीछे का फॉर्म भर कर भेजना होगा । उमेदवार का नाम और पता संपूर्ण लिखना चाहिये ।

२ स्वयं चुनाव में खड़ा रहना हो और दूसरे का नाम भी सूचित करना हो तो दोनों फॉर्म अलग २ भर कर भेजने चाहिये । दूसरा फॉर्म संघ के कार्यालय (दादर) से मंगवा लेना चाहिये ।

३ सब उमेदवार-पत्र ता. ८-३-४४ बुधवार शाम के छ बजे तक मिल जाँय इस प्रकार मंत्री, नूतन बालशिक्षण संघ, ११७, हिन्दु कोलॉनी, पांचनी गली, दादर, बम्बई १४, इस पत्ते पर भेज देने चाहिये । देर से आये हुए उमेदवार-पत्र लिये नहीं जायेंगे ।

४ उमेदवारी के लिये दूसरे नाम सूचित करनेवाले (प्रस्तावक) सभ्य को चाहिये कि वह जिसका नाम सूचित करे उसकी संमति (उमेदवारी करने के सम्बन्ध में) पहले से प्राप्त करले । इस प्रकार प्रस्तूत किये हुए नाम के लिये अनुमोदक के हस्ताक्षर की **नितान्त आवश्यकता है ।**

५ अपनी खुदकी उमेदवारी के लिये अनुमोदक के हस्ताक्षर की जरूरत है।

६ प्रस्तावक, अनुमोदक तथा उमेदवार-सब संघ के सभ्य होने चाहियें और उनका चन्दा १० मी दिसंबर १९४३ तक आया हुआ होना चाहिये।

समय नियत करे वह चंदा देकर) आजीवन सभ्य हो सकेगा।

(१) रु. १००० या इससे अधिक एक ही बार देकर कोई भी व्यक्ति संघ का (क) विभाग का आजीवन सभ्य हो सकेगा।

(२) रु. ५०० या इससे अधिक एकही बार देकर कोई भी व्यक्ति संघ का (ख) विभाग का आजीवन सभ्य हो सकेगा।

(३) रु. २५० या इससे अधिक एकही बार देकर कोई भी व्यक्ति संघ का (ग) विभाग का आजीवन सभ्य हो सकेगा।

(४) रु. १०० या इससे अधिक एकही बार देकर कोई भी व्यक्ति संघ का (घ) विभाग का आजीवन सभ्य हो सकेगा।

(५) रु. ५० या इस से अधिक एकही बार देकर कोई भी व्यक्ति संघ का (च) विभाग का आजीवन सभ्य हो सकेगा।

२ प्रतिनिधि-सभ्य

जिस संस्था (शिक्षणालय-शाला) को संघ के उद्देश्य और कार्य स्वीकार्य हों, जो नूतन बालशिक्षण के सिद्धान्तानुसार संचालित होती हो तथा जिसको संघ के मार्गदर्शन की अपेक्षा हो—ऐसी कोई भी संस्था वार्षिक रु. ६ (अथवा व्यवस्थापक मंडल यथासमय नियत करे वह चंदा) देकर संघ में शामिल हो सकेगी। उस संस्था द्वारा अपने प्रतिनिधिरूप में पसंद किया हुआ १८ वर्ष से उपर की आयु का कोई भी व्यक्ति प्रतिनिधि सभ्य समझा जायगा।

३ सक्रिय सभ्य

संघ के उद्देश्य और कार्य से संमत, १८ वर्ष से अधिक आयु का, संघ की प्रवृत्तियों में सक्रिय भाग लेनेवाला कोई भी व्यक्ति वार्षिक रु. ३ (या व्यवस्थापक मंडल यथासमय नियत करे वह चंदा) देकर संघ का सक्रिय सभ्य हो सकेगा।

४ सहायक सभ्य

संघ के उद्देश्य और कार्य से संमत, १८ वर्ष से अधिक आयु का, संघ की प्रवृत्तियों से सहानुभूति रखनेवाला कोई भी व्यक्ति वार्षिक रु ५ (अथवा व्यवस्थापक मंडल यथासमय नियत करे वह) देकर संघ का सहायक सभ्य हो सकेगा।

५ सामान्य सभ्य

संघ के उद्देश्य और कार्य से संमत, १८ वर्ष से ज्यादह उम्र का कोई भी व्यक्ति वार्षिक रु. १॥ (या व्यवस्थापक मंडल यथासमय नियत करे वह) देकर संघ का सामान्य सभ्य हो सकेगा।

(ब) साधारण सभा

संघ के सब प्रकार (विभाग) के सभ्यों की मिलकर साधारण सभा (General Body) होगी। इस के अधिकार और कार्य निम्न हैं।

(१) साधारण सभा का अधिवेशन वर्ष में कम से कम एकवार होगा।

उस समय संघ के कार्य का वार्षिक वृत्तान्त, वार्षिक हिसाब सभा की स्वीकृति के लिये पेश किया जायगा।

(२) सभ्यों को संघ की तरफ से प्रकाशित होने वाली "शिक्षण-पत्रिका" मुफत मिलेगी।

(३) सामान्य सभ्यों के सिवाय सब प्रकार के सभ्य जिन का चंदा चुनाव के समय से चार मास पूर्व आ गया होगा; और जो सामान्य सभ्य चुनाव के समय से १ वर्ष पहले से सामान्य सभ्य हों और जिनका चंदा चुनाव के समय से चार महीने पहले आ गया हो—ऐसे सब सभ्यों को व्यवस्थापक मंडल के चुनाव में मत देने का अधिकार होगा।

२ व्यवस्थापक-मंडल

(अ) इस संघ की सब व्यवस्था व्यवस्थापक मंडल के आधीन होगी।

इस की रचना इस प्रकार की [illegible]

२ सभ्य आजीवन सभ्यों में से, २ सहायक सभ्यों में से, ६ सक्रिय तथा प्रतिनिधि सभ्यों में से, १ सामान्य सभ्यों में से (वह जो चुनाव से पूर्व सतत दो वर्ष से संघ का सामान्य सभ्य रहा हो)

इस के अतिरिक्त व्यवस्थापक मंडल प्रत्येक भाषा के लिये एक एक मंत्री का अपने में समावेश (Co-opt) कर सकेगा।

(आ) व्यवस्थापक मंडल के चुने हुए सभ्य अपने में से ही पदाधिकारी (प्रमुख, उप-प्रमुख, सामान्य मंत्री, संयुक्त मंत्री) का चुनाव करेंगे।

(इ) इस मंडल की अवधि (अन्तिम चुनाव की तारीख से) तीन वर्ष की होगी। इस के बाद कुल सभ्यों की आधी संख्या के सभ्य (जो ज्यादह समय से मंडल के सभ्य होंगे) उत्तरोत्तर सभ्यपद से निवृत्त होंगे। किन्तु वे फिर चुनाव के लायक गिने जायें गे (अर्थात् उनको मंडल के सभ्यपद के लिये उमेदवारी करने का हक होगा।) समान अवधि के निवृत्त होने-वाले सभ्य निवृत्ति के विषय में परस्पर निर्णय नहीं कर सकेंगे तो चिट्ठी डालकर निर्णय किया जायगा। निवृत्त सभ्य जिस विभाग के सभ्य होंगें, उन की खाली जगह उसी विभाग के सभ्यों के चुनाव द्वारा भरी जायेगी।

(उ) इस प्रकार नये चुने हुए सभ्य और पुराने (निवृत्त हुए) सभ्य मिलकर नया व्यवस्थापक मंडल बनेगा। तब से ही पुराना व्यवस्थापक मंडल कार्यनिवृत्त हुआ समझा जाय गा।

(ए) मंडल के सभ्य का स्थान निम्न कारणों से खाली हुआ माना जायगा।

१ नियम नं. १३ के अनुसार वह सभ्य मंडल के सभ्य की योग्यता से भ्रष्ट हो तब।

(२) अपना वार्षिक चन्दा (नियत रकम) देना बंद करे।

(३) मंडल को सूचना दिये बिना मंडल की सतत तीन सभाओं में अनुपस्थित रहे।

(४) महामंत्री को लिखित त्यागपत्र दे।

३ व्यवस्थापक मंडल का कार्य

(१) संघ के कार्य की व्यवस्था के लिये नियम, उपनियम बनाना; प्रस्ताव आदि करना।

(२) व्यवस्थापक मंडल के चुनाव और नियुक्ति के लिये जरूरी उपनियम बनाना और यथा समय उस में परिवर्तन, परिवर्धन या संशोधन करना।

(३) वार्षिक अंदाजपत्र (बजेट) स्वीकार करना।

(४) दान और सहायता प्राप्त करना।

(५) प्रमाणित अन्वेषक (Registered auditor) को नियुक्त करना, जाँचा हुआ वार्षिक हिसाब और वार्षिक वृत्तान्त साधारण सभा में पेश करना और वह विश्वस्त मंडल (Board of Trustees) को प्रकाशनार्थ सौंपना।

(६) मंडल में आकस्मिक खाली पडी हुई जगह पर सभ्य की नियुक्ति करना।

(७) कार्यालय के लिये कार्यकरों की नियुक्ति और उनका वेतन निश्चय करना।

(८) 'शिक्षण-पत्रिका' का वार्षिक मूल्य ठहराना।

(९) संघ का उद्देश्य सफल करने के लिये और कार्य को वेगवान् करने के लिये आवश्यक कार्यवाही करना।

४ सामान्य मंत्री का उत्तरदायित्व और कार्य

(१) साधारण सभा और व्यवस्थापक मंडल की सभायें बुलाना।

(२) व्यवस्थापक मंडल द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों के अनुसार संघ की आय में से खर्च करना और साधनसंपत्ति का उपयोग करना।

(३) व्यवस्थापक मंडल से प्राप्त अधिकार और सूचना अनुसार सर्व आय और व्यय का वास्तविक एवं विस्तृत हिसाब रखना।

(४) व्यवस्थापक मंडल और साधारण सभा की लिखित कार्यवाही (Minutes) रखना और संघ के दफ्तर (Record) रखना।

(५) व्य० मंडल और साधारण सभा की लिखित कार्यवाही पर हस्ताक्षर करना।

(६) संघ के कामकाज के लिये पत्रव्यवहार करना।

(७) व्यवस्थापक मंडल की यथासमय की सूचनाओं के अनुसार बँक में करंट या अन्य प्रकार के एकाउन्ट खोलना।

(८) आगामी वर्ष के लिये आयव्यय का अंदाजपत्र हिसाबी वर्ष (Financial year) के अन्तिम महीने में व्यवस्थापक मंडल की स्वीकृति के लिये तैयार करना।

(९) वार्षिक साधारण सभा में प्रस्तुत करने का, अन्वेषक द्वारा जाँचा हुआ हिसाब और कार्यप्रवृत्ति का वृत्तान्त व्यवस्थापक मंडल की सम्मति के लिये पेश करना।

(१०) कार्यालय के कार्यकरों का कार्यनिश्चय करना, उनकी छुट्टी स्वीकारना।

(११) संघ के लाभ के लिये जरूरी कानूनी प्रवृत्ति करना।

(१२) व्यवस्थापक मंडलने आवश्यकतानुसार नियुक्त किये हुए भाषाविभाग के मंत्री या मंत्रियों के कार्य परस्परसुसंगत रहें इसका ध्यान रखना।

(१३) सामान्यतः अपना कर्तव्य करने के लिये आवश्यक कार्य और व्यवस्थापक मंडल द्वारा सूचित काम करना।

५ सामान्य मंत्री ने समय समय पर जो काम और अधिकार दिये होंगे वे सहायक मंत्री को करने होंगे।

६ व्यवस्थापक मंडल जरूरत होगी तब प्रत्येक भाषाविभाग के लिये विभाग मंत्री की सहाय्य से एक कार्यकर्ता मंडल नियुक्त करेगा।

७ (अ) व्यवस्थापक मंडल विभाग मंत्री की सलाह लेकर योग्य संख्या के सभ्यों का कार्यकर्ता मंडल नियुक्त करेगा। उस की रचना के लिये प्रत्येक भाषाविभाग में कम के कम नीचे की संख्या के सभ्य नामावलि की लीस्ट पर होने चाहिये।

१० आजीवन सभ्य
२० सहायक सभ्य
३ प्रतिनिधि सभ्य
२५ सक्रिय सभ्य
१०० सामान्य सभ्य
१५८ कुल

कार्यकर्ता मंडल की अवधि १ वर्ष की होगी। प्रत्येक विभाग-मंत्री अपने-अपने कार्यकर्ता मंडल के भी मंत्री समझे जायेंगे।

(आ) एक दूसरे के साथ विचार और अनुभव विनिमय करने के लिये सब भाषाविभाग के कार्यकर्ता मंडलों की वर्ष में कम से कम १ बार और संभवित हो तो दो बार संयुक्त सभा की जायेगी।

(इ) कार्यकर्ता मंडल अपने विभाग मंत्री और सामान्य मंत्री द्वारा व्यवस्थापक मंडल को उत्तरदाता रहेगा।

(उ) कार्यकर्ता मंडल के कार्य

(१) वार्षिक कार्य का निश्चय करना; उस के लिये अंदाजपत्र तैयार कर के व्यवस्थापक मंडल की स्वीकृति प्राप्त करना।

(२) संघ की व्यवस्था अथवा नीति सम्बन्धी सूचनायें उस उस भाषा के विभागीय मंत्री द्वारा व्यवस्थापक मंडल में विचारार्थ पेश करना।

८ संघ के मुखपत्र में प्रकाशित की हुई सार्वजनिक सूचना (Notice) पर्याप्त समझी जायेगी।

९ संघ का वर्ष जनवरी से दिसम्बर का गिना जायगा।

१० (अ) संघ का धन तथा साधन संपत्ति और अन्य सब आय (उसकी व्यवस्था करने की सर्व सत्ता के साथ, एवं उस सम्बन्धी कागज़ात आदि विश्वस्त मंडल स्वयं संमत हो. उस बैंक में रखने की सत्ता के साथ) व्यवस्थापक मंडल द्वारा नियुक्त विश्वस्त मंडल (Board of Trustees) के सुपुर्द किया जायगा। विश्वस्त मंडल के सब सभ्य संघ के सभ्य होने चाहिये। किन्तु यदि संघ का सभ्य न हो ऐसे किसी व्यक्ति को व्यवस्थापक मंडल विश्वस्त मंडल के सभ्यपद पर नियुक्त करना चाहे तो उस दशा में एक व्यक्ति नियुक्त हो सकेगा।

(आ) विश्वस्त मंडल के सभ्यों की संख्या ५ से कम नहीं और ७ से ज्यादह नहीं वैसी होगी।

(ई) विश्वस्त मंडल अपने पदाधिकारी (अध्यक्ष और कोषाध्यक्ष) अपने में से चुन लेगा। कोषाध्यक्ष विश्वस्त मंडल के नियंत्रक (Convener) के रूप काम करेंगें।

(उ) खास इसी काम के लिये बुलाई हुई व्यवस्थापक मंडल की सभा में उपस्थित सभ्यों में से $\frac{3}{4}$ भाग के सभ्यों की संमति द्वारा अन्यथा निश्चय न किया जाय तब तक विश्वस्त मंडल अधिकार पर रहेगा। यदि व्यवस्थापक मंडल को पुराने विश्वस्त मंडल के स्थान पर संपूर्ण नया विश्वस्त मंडल नियुक्त करना पडे तो पुरानें विश्वस्त मंडल को उस के सुपुर्द की हुई, आधिपत्य की या अधिकारान्तर्गत रही हुई सब प्रकार की साधनसंपत्ति नये विश्वस्त मंडल को सोंपनी होगी। इसी तरह उन को अपने कामकाज तथा व्यवस्था का वृत्तान्त नये विश्वस्त मंडल के स्वाधीन करना होगा। इस प्रकार सब स्वाधीन करने के बाद और हिसाब स्वीकृत हो जाने के बाद पुराना विश्वस्त मंडल साधनसंपत्ति और कामकाज की जवाबदारी में से मुक्त हुआ समझा जायगा। अकस्मात् विश्वस्त मंडल के सभ्यों में से कोई स्थान खाली हो और इस प्रकार विश्वस्त मंडल के सभ्यों की संख्या ५ से कम होजाय तो उतने खाली स्थान बाकी रहे हुए सभ्य भर सकते हैं।

११ व्यवस्थापक मंडल सब चंदा, दान या फीस एवं उस को सुपुर्द की हुई—साधनसंपत्ति का उत्पन्न और किसी भी तरह मिली, आधिपत्य में रही अथवा अधिकार के कारण हुई आय और खर्च का सच्चा तथा व्यवस्थित हिसाब रखेगा। व्यवस्थापक मंडल की सब हिसाबी बहीयाँ विश्वस्त मंडल किसी भी समय जाँच के लिये मांग सकेगा। इस लिये व्यवस्थापक मंडल हिसाब की योग्य बहियाँ रखेगा।

१२ **विश्वस्तमंडल**–उसको सुपुर्द की हुई या अन्य किसी प्रकार से प्राप्त नगद, अथवा उस के द्वारा हुई उत्पन्न, एवं उसके आधिपत्य या अधिकार की–मालमिल्कत का हिसाब रखेगा या रखायेगा। उसी प्रकार मंडल उसको सुपुर्द की हुई मालमिलकत की व्यवस्था करने में, तथा मंडल को अपना कर्तव्य अदा करते हुए जो खर्च हो उसका सच्चा और व्यवस्थित हिसाब उसके लिये खास तैयार की हुई बही में रखेगा। विश्वस्त मंडल प्रत्येक हिसाबी वर्ष के अन्त में उसके कामकाज और व्यवस्था का अधिकृत अन्वेषक द्वारा जाँचाया हुआ हिसाब व्यवस्थापक मंडल ने उसको दिये हुए हिसाब के साथ प्रकाशित करेगा।

१३. संघ का कोईभी सभ्य जो व्यवस्थापक मंडल का या कार्यकर्ता मंडल का सभ्य होगा, अथवा अन्य कोईभी व्यक्ती जो संघ का सभ्य हो या न हो किन्तु विश्वस्त मंडल का सभ्य हो,–वह ध्यानपूर्वक की जाँच पडताल के बाद यदि नीतिनियमों को उल्लंघन हुआ हो ऐसे कार्य में शामिल हुआ है यह सिद्ध हो, अथवा वैसे कार्य के लिये दोषित निश्चित हो, अथवा दिवालिया हो जाय, अथवा अस्थिर चित्त का हो जाय, तो उस सभ्य को व्यवस्थापक मंडल, कार्यकर्ता मंडल या विश्वस्त मंडल के सभ्यपद के लिये अयोग्य प्रमाणित किया जायेगा; एवं उसी प्रकार व्यवस्थापक मंडल उसको अयोग्य रूप में प्रसिद्ध करेगा। इस प्रकार की प्रसिद्धी के बाद उस सभ्य या व्यक्ती को उपर किये हुए निर्देश के अनुसार सभ्यपद पर से अलग किया जायेगा।

१४ संघ की साधारण सभा की कार्यसाधक (कोरम) संख्या ३० होगी, व्यवस्थापक मंडल की कार्यसाधक संख्या ५ रहेगी और विश्वस्त मंडल की कार्यसाधक संख्या ३ रहेगी।

१५ व्यवस्थापक मंडल, कार्यकर्ता मंडल या विश्वस्त मंडल के किसीभी सभ्य को, सभ्य रूप में सद्भावपूर्वक अपना कर्तव्य करते हुए, उसके दूसरे किसीभी सहकार्यकर्ता के प्रति ठगाई, दुर्व्यवहार, दुरुपयोग या कर्तव्य के प्रति बेपरवाही के लिये व्यक्तिगत जवाबदार गिना नहीं जायगा। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति उसके अपने वर्तन के लिये जवाबदार होगा।

१६ व्यवस्थापक मंडल, कार्यकर्ता मंडल या विश्वस्त मंडल के किसीभी सभ्य ने व्यक्तिगत किया हुआ कोईभी कार्य-यदि उस कार्य को योग्य अधिकारी ने संघ के नियमों के अनुसार संमति नहीं दी होगी तो वह किसीभी प्रकार संघ को बन्धनकारक नहीं होगा।

नये व्यवस्थापक-मंडल का चुनाव

संघ को वैधानिक व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त होने के बाद व्यवस्थापक-मंडल का यह पहेला चुनाव है। हम सबने तीन वर्ष तक मिलजुलकर कार्य किया है। इस दरम्यान कितने ही समासदों को अनुभव हुआ कि संघ के वैधानिक नियमों में कुछ परिवर्तन करना चाहिये। इस लिये नियमों में संशोधन या परिवर्धन सूचित करने की मांग सभ्यों के पास पत्रिका द्वारा की गई। कुछ मौलिक रद्दो बदली प्रथम पत्रिकामें प्रकाशित की गई थी। उसके बाद आई हुई सूचनाओं पर विचार कर के व्यवस्थापक मंडल ने आगे छपाये हुए विधान (Constitution) के नियम स्वीकृत किये हैं। नया चुनाव नये नियमों के अनुसार होगा। नये नियमों के विषय में विशेष समझावट दूसरे लेख में की गई है। यहाँ हम केवल चुनाव सम्बन्धी विचार करेंगे।

नये नियमों के मुताबिक व्यवस्थापक मंडल निम्न ११ सभ्यों का चुना जायगा।

२ आजीवन सभ्यो में से
२ सहायक सभ्यों में से
६ सक्रिय और प्रतिनिधि सभ्यों में से
१ सामान्य सभ्यों में से
११

नये संशोधित नियमों के अनुसार सामान्य सभ्यों को व्यवस्थापक-मंडल में अपनी तरफ से एक प्रतिनिधि भेजने का और समग्र चुनाव में मत देने का अधिकार मिला है;—जो नये नियमोंमें महत्त्व का संशोधन है।

उमेदवारी कौन कर सकता है?

१ सामान्य सभ्यों के अतिरिक्त सब सभ्य,-जिनका चंदा (सभ्य फीस) १० दिसम्बर १९४३ तक आगया हो।

२ गत दो वर्ष से सतत इस संघ के सभ्य हों ऐसे सामान्य सभ्य —जिनका चंदा १०दिसं० १९४३ तक आगया हो।

मत कौन दे सकेगा?

१ संघ के सामान्य सभ्यों के सिवाय सब प्रकारके सभ्य, जिनका चंदा १० दिसं. १९४३ तक आगया हो।

२ वे सामान्य सभ्य जो पिछले एक वर्ष से संघ के सभासद हैं; और जिनका चंदा ता. १० दिसं० १९४३ से पूर्व आगया होगा।

मतदाताओंसे—

आप सबों ने संघ के आगे छपाये हुए नये नियम [illegible] होंगे। उससे तथा नियमा की स्पष्टता करनेवाले दूसरे स्वतंत्र लेख द्वारा आप सब को ध्यान में आगया होगा कि संघ के संचालन के लिये कैसी व्यवस्था की गई है।

व्यवस्थापक-मंडल का चुनाव, कार्यकर्ता-मंडल की नियुक्ति, विभाग-मंत्री, सामान्य मंत्री आदि भिन्न २ अंगो की रचना, एक मुख्य तंत्र को व्यवस्थित एवं प्रगतिसाधक रूप में चलाने के

हेतु की गई है। ये सब एक यंत्र के छोटे-बड़े भाग है। सब के सहकार से ही संपूर्ण यंत्र चल सकेगा।

नये संशोधित नियमों से सामान्य सभ्यों को व्यवस्थापक-मंडल में चुन कर आने का एवं समग्र चुनाव में मत देने का अधिकार मिला है; यह इस संशोधन का महत्त्व का अंग है। सब मतदाता भाई-बहन नये नियमों का ध्यानपूर्वक मनन करें और संघ के कार्य को आगे बढ़ानेवाले सभ्यों की पसंदगी कर के, उनके चुनाव के लिये अपने मताधिकार का सब सभ्यगण उपयोग करें ऐसी साग्रह नम्र विनंति है।

मताधिकार का उपयोग करना यह अतिशय महत्त्व का कर्तव्य है। नागरिक जीवन का यह सर्वोच्च अधिकार है। किसी भी तंत्र के वाहक मतदाता ही होते हैं। इस लिए हमें आशा है कि सब मतदाता भाई-बहन अपने मत का मूल्य और उत्तरदायित्व समझ कर अपने मत का अवश्य उपयोग करेंगे। और इस प्रकार संस्था के ध्येय एवं कार्य को वेगवान् और प्रगतिशील बनानेवाले सभ्यों को अपना मत दे कर मतदान का पवित्र कर्तव्य निभायेंगे।

नूतन शिक्षण के सिद्धान्तों को माननेवाले और उसका प्रचार करनेवाले हम सब चुनाव के सामान्य दूषणों से तो अवश्य दूर रहेंगे ऐसी आशा है। —मंत्री

नूतन बालशिक्षण संघ

कृपा करके याद रखिये

चुनाव के लिये उमेदवारपत्रक भेजने का आखरी दिन ता. ८-४-४४ है।

मतप्रदान के कागज़ अप्रेल के अंक के साथ मिलेंगे। वह सूचनानुसार ठीक तयार कर के भेज देने का आखरी दिन १०-४-१९४४ है।

आगामी साल से सहायक सभ्यों का चंदा जो कि वार्षिक ३ रुपये का था, वह अब ५ रुपये होगा। कृपा कर के नोंद कर लीजिए।

आगामी अंक मतप्रदानपत्रक के साथ मार्च के आखरी सप्ताह में मिलेगा।

आगामी अंक के लिये प्रतीक्षा करें।

मतदारोंसे

नूतन बालशिक्षण संघ के सर्व प्रकार के सभ्यों का व्यवस्थापक मंडल के चुनाव के लिये उमेदवारों की यादी सह मतप्रदानपत्रक मार्च मास के अंक की साथ भेजे जायेंगे। उसमें लिखी हुई सूचनानुसार अपने २ मतदानपत्रक तयार कर के सर्व सभ्य वह पत्रक दादर कार्यालयमें कम से कम ता. १०-४-४४ के दिन सायंकाल के ६ बजे तक पहूंचा देंगे ऐसी प्रार्थना है। मतप्रदान के लिये संपूर्ण सूचनायें पत्रक के साथ दी जायेंगी। प्रार्थना है की संघ के सर्व सभ्य भाईबहन सूचनायें अच्छी तरह पढ़ कर मतप्रदान करेंगे।

—मंत्री : नू. बा. शि. संघ.

समाचार

श्री. ताराबहन मोडक यह मास की ता. ५ के दिन डॉ. मेडम मोन्टेसोरी के पास कोडाय केनल में एडवान्स क्लासेस में तीन-चार सप्ताह हाजिर रहने के लिये गयीं है।

मुद्रक व प्रकाशक : पु. आ. चित्रे, आत्माराम मुद्रणालय, खारीबाव रोड, बडोदा
कार्यालय : महाजन गली, ज्ञानमंदिर, रावपुरा, बडोदा २४ : २ : ४४

इंदोर, बीकानेर, जोधपुर, देवास, बड़वानी, मुंबई, मध्यप्रान्त–बरार, पंजाब, बिहार, यु० पी० और उड़ीसा की सरकारों के शिक्षा–विभागों द्वारा स्कूलों, पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिये स्वीकृत।

आद्य संपादक :
स्व० गिजुभाई

संपादक :
श्री० ताराबहन मोड़क.

वार्षिक मूल्य :
देश में एक रुपया
विदेश में दो शिलिंग

सहसंपादक :
श्री० बन्सीधर
श्री० काशीनाथ त्रिवेदी

हिन्दी शिक्षण–पत्रिका

(माता–पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र)

वर्ष १० वाँ] मार्च १९४४, फागुन २००० [अंक ६ वाँ

सजा बालक को डरपोक, कायर, नामर्द, दब्बू, हठी, क्रोधी, चिड़चिड़ा और क्रूर बनाती है।

सजा बालक में भय, घृणा, द्वेष और निराशा का संचार करती है। उसे झूठ बोलना और हाँ में हाँ मिलाना सिखाती है।

सजा बालक की बुद्धि को कुंठित करती है, उसकी शक्तियों का नाश करती है और उसकी उमंगों और भावनाओं का खून करती है।

सजा बालक के हृदय, मन और शरीर को भारी ठेस पहुँचाकर उसे अनेक दुर्गुणों का शिकार बनाती है।

—बं०

स्व० पू० कस्तुरबा गांधी

ता० १२-३-४४ के दिन बम्बई में नूतन बालशिक्षण संघ के व्यवस्थापक मंडल की सभा हुई थी। सभाकी कार्यवाही शुरु करने से पूर्व स्वर्गस्थ पूज्या कस्तुरबा गांधी के शोकजनक निधन के सम्बन्ध में निम्न प्रस्ताव किया गयाथा।

"श्री नूतन बालशिक्षण संघ का व्यवस्थापक मंडल पू० कस्तुरबा के निधन से अत्यन्त खेद अनुभव करता है और इस विषम प्रसंग में श्री पूज्य गांधीजी तथा उनके कुटुम्बियों के प्रति हार्दिक सहानुभूति प्रकट करता है। पूज्या कस्तूरबा के देहावसान से समस्त देशको एक आदर्श माता की, कर्तव्यनिष्ठ गृहिणी की और धर्म-परायण सन्नारी की खोट हुई है ऐसा घोषित करता है। और उनके पवित्र आत्मा को शाश्वत शांति प्राप्त हो-ऐसी परमात्मा से प्रार्थना करता है।

सज़ा

सज़ा देने के काम में कुदरत का पहला स्थान है। उसकी सज़ाका ढंग सब से अधिक कठोरता का होता है। जरा-सी भूल होते ही उसका तुरत फल मिलना अनिवार्य है। बीड़ी के जलते हुये छोटे से टुकड़े का ही उदाहरण लीजिये। यदि उसे अच्छी तरह से बिना बुझाये चाहे जहाँ फेंक दिया जाय तो इस छोटीसी भूलका बहुत भयंकर परिणाम हो सकता है। इसमें न दया का सवाल है, न अपने पराये का विचार और न ऐसा ही है कि छोटी भूल की कम सज़ा और बड़ी भूल के लिये अधिक सज़ा हो।

कुदरत का सज़ा देने का ढंग एक प्रकार से बड़ा अनोखा है; फिर भी उसमें एक बात की सुविधा रहती है। वह हमेशा प्रत्येक को सावधान रहने की सूचना देती है। कुदरत ज़रा भी बेपरवाही नहीं चलाने देती; उसमें न अनभिज्ञता और अज्ञानता को स्थान है और न किसी प्रकार के पक्षपात को ही। वहाँ तो यही होता है कि इधर भूल हुई और उधर सज़ा मिली। इसके विपरीत प्रकृति के अटल नियमों का यथार्थ रूप से पालन किया जाय तो उसकी कृपा भी अधिक परिमाण में ही होती है।

कुदरत का सज़ा देने का ढंग चाहे जितना कठोर हो और भले ही उसमें किसी प्रकार की सीमा न हो; फिर भी उसमें एक बात का बिलकुल अभाव पाया जाता है। वह

यह कि सज़ा देने वाले के मनमें किसी प्रकार का क्रोध नहीं होता। साधारण बोलचाल में हम 'कुदरत का कोप' जैसे शब्दों का उपयोग करते हैं; परन्तु वास्तव में प्रकृति में क्रोध जैसी कोई वस्तु ही होती नहीं।

बालक असावधानी से चलता है, पैर फिसल जाता है, गिर पड़ता है; चोट लगती है और दुःख भी होता है; पैर अधिक दुखने पर बालक रोने भी लगता है। थोड़ी देर बाद कष्ट मिटने पर बात जहाँ की तहाँ समाप्त हो जाती है। परन्तु यदि माता ने दो गाली सुना कर चपत मारा हो तो उस मार का प्रभाव केवल शरीर तक ही सीमित नहीं रहता; वरन् उसका मानसिक कष्ट भी होता है। माता-पिता का यह क्रूर व्यवहार धमकी और मार के साथ संबद्ध होता है। उसमें दुःख भी होता है; परन्तु इसका मन पर विशेष आघात पहुँचता है। इस समय बालक अपने आपको असहाय स्थिति में समझने लगता है, उसे अपमान प्रतीत होता है, उसका मन दुखी हो जाता है और वह उलझन में पड़ जाता है। कुदरत की ओर से दीजाने वाली सज़ा में इनमें से कोई बात नहीं होती। हाथ-पैर में चोट लगती है, गहरा घाव हो जाता है, सूजन आजाती है, रोना भी पड़ता है; परन्तु यह सब धैर्य-पूर्वक सहा जाता है, उसके विपरीत जब बड़े, सज़ा के नाम पर पीटते हैं तो उसका दुःख दूसरे ही प्रकार का होता है। मनुष्य और कुदरत की सज़ा में इस प्रकार बहुत अन्तर है।

दूसरी बात, बालक को दी जाने वाली सज़ा माता, पिता या घर के किसी बडे के बदले, यदि रक्षा करने वाले किसी बाहरी मनुष्य के हाथ हो, तो शारीरिक दुःख एक-सा होते हुये भी मानसिक दुःख का परिमाण, विशेष होजाता है। इसीलिये शालामें शिक्षक द्वारा दिये जाने वाले दण्ड का परिणाम, पड़ौसी अथवा महेमान के हाथ मिलने वाली सज़ा का परिणाम, रेलमें यात्रा करते हुए किसी अपरिचित के हाथ की मार का परिणाम और साथी मित्रों के हाथ की पिटाई का परिणाम एक-दूसरे से भिन्न प्रकार का होता है।

माता के मारने का दुःख तो होता ही है; परन्तु उसके प्यार का हाथ मुँह पर फिरते ही उस मार का बालक को पूरा बदला मिल जाता है और उसका मानसिक दुःख दूर हो जाता है। इसके विपरीत यदि कोई अपरिचित मनुष्य मारे तो मन में क्रोध आता है, शिक्षक के मारने पर दिलमें उसका डर बैठ जाता है और साथी मित्रों के मारने पर उलट कर मारने की इच्छा हो जाती है।

इस प्रकार अनेक तरह की सज़ाओं का मन पर पड़ने वाला प्रभाव सज़ा देने वालों पर भी निर्भर है।

इसके अतिरिक्त जिस कारण से सज़ा मिलती है उस कारण पर भी बालक के मानसिक प्रत्याघात का आधार रहता है। बच्चे ने कोई भूल की और उसे पहेले से ही मालूम हो कि उसके बदले में माता के दो चपत लगेंगे अथवा अध्यापक की मार पड़ेगी, तो इस विश्वास के अनुसार जो सज़ा मिलेगी उससे मनमें कम दुःख होगा। परन्तु बहुत बार बालक को इस बात का पता भी नहीं होता कि उसे सज़ा कब सहन करनी होगी, क्योंकि सज़ा देने वाले को स्वयं भी सज़ा देने का पूर्वज्ञान कदाचित् ही होता हो। एक ही क्रिया के बदले कभी बालक को बहुत सज़ा दी जाती है। तो कभी कोई यह भी नहीं कहता कि "यह तुम्हारी भूल है।" जब पहले से निश्चय किये बिना ही बालकको सज़ा दी जाती है तो वह घबरा जाता है-उलझन में पड़ जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि बड़े जिसे बहुत बड़ी भूल कहते हैं, बच्चों को वह लेशमात्र भी भूल नहीं प्रतीत होती। इतना ही नहीं, बल्कि कभी-कभी तो यहाँ तक होता है कि बालक अपने आप को बिलकुल सच्चा निर्दोष मानता है। इसलिये ऐसे समय पर दी जाने वाली सज़ा को वह अपने साथ किया जाने वाला अन्याय मानने लगता है। अकारण मिलने वाली सज़ा के लिये उसे क्रोध आता है और विशेष मानसिक दुःख होता है।

इस तरह सज़ाएँ पूर्व-निश्चित और अनिश्चित, न्याय-संगत तथा अन्याय-पूर्ण भी होती हैं और इनमें से प्रत्येक का मानसिक प्रभाव सज़ा पाने वाले के मन पर अलग-अलग पड़ता है।

सज़ा पाने वाले बालकों में भी स्वभाव-भेद होता है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के बालकों पर सज़ा का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है और इसका विचित्र परिणाम देखने में आता है। कुछ बालक स्वभाव से बड़े आनंदी और उत्साही होते हैं। थोड़ी सज़ा मिलने और धमकाये जाने पर भी वे थोड़ी देर में उसे भूल जाते हैं। और फिर पहले की तरह आनन्द से खेलने लगते हैं। शरीर पर मार के चिन्ह होने पर भी ऐसे बालक खुशी से खेलते दिखाई देते हैं। जैसे कुछ पौधे मुसलाधार वर्षा में भी बढ़ते ही जाते हैं उसी प्रकार चाहे जैसी परिस्थिति में भी ऐसे स्वभाव के बालक अबाध गति से बढ़ते रहते हैं। इसके विपरीत कुछ बालकों की मानसिक स्थिति लज्जावन्ती के पौधे जैसी कोमल होती है। मारने की बात तो दूर रही, यदि कोई जरा सा धमका दे तो भी ऐसे बालक भयभीत और घबराये-से फिरा करते हैं। कुछ बालक अपनी गलती की संभावना अथवा मार के भय से प्रत्येक समय डरते ही रहते हैं। कुछ इसके बिलकुल विपरीत देखने में आते हैं। ऐसे बालक बड़ों का ध्यान हमेशा अपनी ओर खींचा करते हैं। वे हमेशा यही चाहते हैं कि घर और शालामें सब

लोगों का ध्यान हमारी ही तरफ़ हो; हम ही सर्वत्र केन्द्रस्थान में रहे। इस प्रकार के बालक सख्त सज़ा सहकर भी दूसरों का ध्यान खींचने का प्रयत्न किया करते हैं। बहुत-से बालकों को जरा-सी फटकार या उलहना भी बड़ा भारी मानसिक आघात पहुँचाता है और यह बात उनके मन में हमेशा खटकती रहती है। कुनीन की कड़वाहट की तरह ऐसे प्रसंग का दुःख उनके मनमें बहुत समय तक चुभता रहता है। कुछ बालक सज़ा मिलने के बाद सरल बने प्रतीत होने लगते हैं। कुछ बालकों पर सज़ा का ज़रा भी असर नहीं होता; ऐसे बालक मार के अभ्यस्त होकर 'ढीठ' हो जाते हैं।

सज़ा भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। पहले शारीरिक सज़ा बहुत प्रचलित, थी परन्तु वह शालाओं में से प्रायः लुप्त हो रही है। अब मारने के बदले बेंत दिखाना अथवा 'बेंत मारूँगा' ऐसे शब्दों का व्यवहार अधिक प्रचलित है। इतने पर भी आधी या इससे भी अधिक शालाओं में अभीतक बेंत मारने की प्रथा प्रचलित होगी। घरों में दृष्टि डालें तो वहाँ सजा आज भी ज्यों की त्यों दीख पड़ेगी। वहाँ तो माता-पिता का यह जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता है। फिर भी घर की सजाओं की क्रूरता प्रायः अदृश्य हो रही है।

एक ओर शारीरिक सज़ाओं का माप घट रहा है तो दूसरी तरफ़ मानसिक सज़ा बढ़ गई हैं; अर्थात् शब्दों या वाग्बाणोंका प्रहार बहुत अधिक हो चला है।

प्रत्यक्ष-रूप से बालक को नीचे गिराने अथवा उसे सामाजिक दृष्टि से नीचा समझने की सज़ा का एक प्रकार शालाओं में प्रचलित है। "यह लड़का काटता है; सँभल जाना" यह वाक्य लिखा हुवा बोर्ड कमर में बाँधकर जिस प्रकार डेविड कॉपरफील्ड को सर्वत्र घुमाया गया था; उसी प्रकार की, बालक को अपमानित करने वाली, उसे नीचे गिरानेवाली, बहुत तरह की सज़ाएँ शिक्षक आज भी दे रहे हैं।

माता-पिता अथवा घर के बड़े सज़ा का एक दूसरा ढंग भी काम में लाते हैं। इसमें अपने आप पर क्रोध करना, अप्रसन्न हो जाना, अच्छा न लगना, मनमें दुखी होना आदि का समावेश होता है। इस प्रकार की सज़ाओं के वख्त बहुत कोमल मन के बालक यह सोचने लगते हैं कि इसकी अपेक्षा तो माँ-बाप का हमको मारना या फटकारना ही अच्छा हो।"

सज़ा का एक सुधरा हुआ ढंग भी देखने में आता है। इसमें बालकों को भूल के विषय में समझाया जाता है—कारण बता कर भूल न करने का उपदेश दिया जाता है। इसके साथ ही और किसी प्रकार की सज़ा दिये बिना, की हुई भूल को तीव्रता से दूर करने और उसके बदले पश्चात्ताप करने के लिये बालक

को तैयार किया जाता है। छोटी-सी भूल को बहुत बड़ा रूप देकर बालक को यह विश्वास कराना अच्छा नहीं कि–उसका व्यवहार बहुत बुरा है, उसने भयंकर अपराध किया है, अपने अपराध के लिये वह स्वयं उत्तरदायी है। इस से बालक को बहुत मानसिक कष्ट पहुँचता है–उसका दिल सदा दुखी रहता है। सज़ा का यह मार्ग बहुत दुःखद और शारीरिक सज़ा से भी अधिक भयंकर तथा हानिकारक है।

सज़ा का एक और भी ढंग शालाओं में देखा जाता है। इसमें बालक की जाति, कुल अथवा शाला के सम्मान को आगे रक्खा जाता है। बालक से कहा जाता है–उसे यह विश्वास दिलाया जाता है कि अमुक जाति या कुल में उत्पन्न हुआ अथवा अमुक शाला में पढ़ने वाला बालक ऐसी भूल कभी नहीं करता। बालक को इस रास्ते पर ले जाकर–'हमारी जाति या वंश को ये बातें शोभा नहीं देतीं' आदि बातें बताकर भूलोंसे बचाने का मार्ग ग्रहण किया जाता है। परन्तु ऐसे बालक भी भूल तो बहुत बार कर ही बैठते हैं। इस समय वे बहुत दुखी होते हैं और उनका मन प्रायः अस्वस्थ रहा करता है। यह भी सज़ा का ही एक रूप है और सूक्ष्म होने से मानसिक दृष्टि से उतना ही भयंकर परिणाम लाने वाला है।

ऊपर के सब कथन का अभिप्राय यह है कि सज़ाओं के विविध प्रकारों में बेंत और चपत जैसी शारीरिक सज़ाओं तथा गाली देना, गुस्सा होना, उलहना देना आदि सूक्ष्म सज़ाओं से लेकर हमेशा दिलको दुखानेवाली अति सूक्ष्म सज़ाओं का समावेश हो सकता है। सज़ा के उक्त सब प्रकार बालकों पर अलग-अलग तरह से प्रयुक्त किये जाते हैं और उनका परिणाम भी भिन्न-भिन्न प्रकार का आता है।

सज़ा के भेद, उनके परिणाम और भूल सुधार-विषयक आधार के लिये गंभीर विचार की आवश्यकता है; अतः इन सब बातोंपर अगले लेखमें प्रकाश डाला जाएगा।

क्रमशः— ता०

अनु 'नूतन'

नूतन बालशिक्षण संघ

स्थगित रही हुई साधारण सभा १९-४-४४ को होगी

ता० १२-३-४४ रविवार के दिन बम्बई बुलाई हुई नूतन बालशिक्षण संघ की साधारण सभा सभ्यों की कार्यसाधक संख्या (कोरम) के अभाव के कारण स्थगित रक्खी गई थी। वह अब ता. १९-४-४४ को शामके ६ बजे मेथ्युरोड पर स्थित भगिनी समाज बालमंदिर में होगी।

मंत्री–नू० बा० शि० संघ

बालकों के साथ मैत्री

बालकों के मित्र बनजाना सभी जानते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। साधारणतया बड़ों के पास जाते हुए बालकों को डर लगता है। पहली बार मिलते ही बालकों को अपनी ओर आकर्षित करना बहुत कम लोग जानते हैं। बालकों को आकर्षित करने में कोई जादू है, ऐसा तो नहीं कह सकते। साधारणतया बड़ों को एक दूसरे के निकट आने के लिये जिन गुणों की जरूरत है, उन्हीं गुणों की जरूरत बालकों के निकट आने के लिये है। बड़े अगर मिलनसार हैं, बालकों के साथ सरलतापूर्वक व्यवहार करते हैं तथा उनसे सच्ची सहानुभूति रखते हैं, तो बालक उनके पास जाते हैं अन्यथा वे उनसे दूर भागते हैं।

बड़ों के संबंध में बालकों के दिल में जो भय होता है वह निकल जाए और बालक उन का विश्वास करने लगें, तभी बालकों के साथ मैत्री हो सकती है। बालकों को बड़ों से डर लगने के अनेक कारण होते हैं। अंधेरे में जैसे डर लगता है वैसे ही तनहाई में रहने तथा स्वाभिमान पर चोट आने से भी उन्हें डर लगता है। इस दूसरे प्रकार के मानसिक भय के कारण ही बालक बड़ों से दूर भागते हैं। अतः इस डर को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि बड़ों के प्रति बालकों के दिल में विश्वास पैदा हो। यह विश्वास एकदम अल्प समय में पैदा नहीं हो सकता। ऐसा भी लगता है कि अन्य प्राणियों की तरह बालक को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि किसके दिल में उसके प्रति सच्चा प्रेम है और कौन उससे प्रेम का दिखावा करता है। यही कारण है कि बालक कितने ही व्यक्तियों से तुरंत हिलमिल जाता है और कितनों ही से दूर भागता है।

अगर बालकों के साथ मैत्री करनी है तो उनके साथ बोलने का ढंग आना चाहिए। जो व्यक्ति यह जानता है कि बालकों के साथ किस विषय पर, किस ढंग से और क्या बात करनी चाहिए, वही व्यक्ति बालकों के निकट आ सकता है। इसके लिये बालकों के साथ खुले दिल से हँसना उनके साथ बालक बन जाना आवश्यक है। जो बालकों के साथ हँस-खेल नहीं सकता, वह बालकों के साथ बात-चीत नहीं कर सकता। अगर हम ऐसा मानते हैं कि बड़ों के विचार उच्च होने तथा उन के ज्ञान का क्षेत्र विशाल होने के कारण वे बालकों के साथ हिलमिल नहीं सकते, तो यह हमारी भूल है। वास्तविक रूप से विचार करने पर हम यह जान सकेंगे कि बालकों के विचारों का क्षेत्र भी विविध प्रकार का और विशाल होता है। जीवन में उत्साहपूर्वक प्रवेश करने

के कारण बालक में अनेक प्रकार की जिज्ञासाएं और आकर्षण होते हैं। इसी लिये बालक अनेक प्रकार के सवाल पूछता है— "प्याले के नीचे रकाबी क्यों रखते हैं? मक्खी उलटी होकर छत पर कैसे चल सकती है?" आदि।

बड़े यह भूल करते हैं जब बालकों के साथ बात करते समय वे अपने को बड़ा मान कर उनके साथ बात करना शुरू करते हैं। इस लिये बात करते समय वे शिक्षक का रूप धारण कर लेते हैं और बालकों को ज्ञान प्रदान करने की इच्छा ही से बात करते हैं। बालकों को बड़ों का यह ढंग जरा भी नहीं जँचता। बालकों के साथ बातचीत करने में बड़ों को बहुत कुछ सीखने को मिलता है, यह बात वे भूल जाते हैं। बालकों के दृष्टिबिंदु से अगर हम उनके प्रश्नों पर विचार करेंगे तो हमें मालूम होगा कि हम उनके प्रश्नों से बहुत सी नई बातें सीख सकते हैं। ऐसा करने से ही बालकों और बड़ों में मित्रता हो सकती है। बालकों के खेलों और मनोरंजक कार्यों में भाग लेकर अगर उनके साथ हम घुलमिल जाएं तो बालकों को बड़ा मजा आता है। लेकिन हमारा उनके साथ हिलमिल जाना बनावटी नहीं, स्वाभाविक होना चाहिए। इसके अलावा बालकों का मजाक कभी नहीं उड़ाना चाहिए!

संकोचशील बालक के साथ शुरू शुरू में हमें बहुत बोलना पड़ता है। परन्तु अगर बातचीत का विषय घरेलू हो और भाषा सरल और सीधी-सादी हो तो बालक धीरे धीरे कुछ बोलने लगता है। बालक को हँसाने में ही हमारी सफलता है। बालकों को पेट पकड़ कर हँसानेवाला व्यक्ति एकदम उनका प्रिय बनजाता है और हँसने के कारण बालक तुरंत उसके वश में आजाता है।

बालकों को हँसाने में खास विनोद की आवश्यकता है सो बात नहीं है। बालकों को सरकस का विदूषक बहुत अच्छा लगता है। जरा गिर पड़ने, कोट उलटा पहनने से बालक हँस पड़ते हैं। इसीलिये लॉरेलहार्डी बालकों को बहुत अच्छा लगता है। बालकों का मज़ाक उड़ाकर हँसने का प्रसंग लाना तथा बालकों को खुद हँसाना इन दोनों में बड़ा भेद है। बालकों का मज़ाक उड़ाकर हँसना उनको रुचता नहीं, इससे उलटा उनका दिल दुखता है। बड़ों के साथ ऐसा हो तो शायद वे मजा उठा सकते हैं, लेकिन बालक ऐसा नहीं कर सकते। इसलिये बालकों को हँसाने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सभी हँसें और सभी को खुशी हो।

बड़प्पन का अहंकार रख कर, और गंभीर बन कर बालकों के साथ काम करना ठीक नहीं है। जो अपने को बड़ा और उच्च मानते हैं और बालकों को क्षुद्र समझते हैं, उनके साथ बात करना बालक पसंद नहीं करते। बालकों को वही व्यक्ति प्रिय लगता है

जो उनके साथ उन्हीं जैसा बन कर हँसता-खेलता है। उपदेश देनेवालों से बालक बहुत घबराता है और मौका मिलते ही उनके पास से उसी क्षण भाग जाना चाहता है।

बालकों के साथ मित्रता करने की इच्छा रखने वाले अगर ऊपर की बातों का ध्यान रखेंगे तो अवश्य सफल होंगे, इस में शंका नहीं है।

मा. धों. कर्वे.

बालकों का शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक प्रवृत्ति

अब सामान्य रूपसे यह तो मान ही लिया गया है कि मनुष्य के मानसिक व्यापार और मानसिक वृद्धि के नियम शारीरिक व्यापारों और शारीरिक वृद्धि के नियमों के समान ही चलते हैं।

श्रीमति मॉण्टेसोरी ने सर्व प्रथम यही निश्चय किया कि शारीरिक वृद्धि के नियमों के बिलकुल अनुरूप (उन्हीं की तरह) मानसिक वृद्धि के नियम भी चलते हैं।

परन्तु आज का चिकित्सा-शास्त्र तो इससे भी बहुत आगे बढ़ गया है। उसने यह सिद्ध किया है कि मानसिक विकृति, मंदता, जड़ता और बुद्धि, भावना, ग्रहण-धारण-शक्ति आदि की कमियों के मूल, बीज रूपसे शारीरिक गठन की वृद्धि, परिपूर्णता या अपूर्णता आदि पर निर्भर रहते हैं।

इस विषय को निष्णात (Experts) व्यक्तियों के लिये छोड़ कर सामान्य रूप से प्रतिदिन घर के बालकों के संपर्क में आने और काम करने से जो कुछ देखने में आता है उसी के उदाहरण रूप कुछ विचार यहाँ उपस्थित किये जाते हैं।

थकावट और उस के फलस्वरूप तूफ़ान तथा अनैतिक क्रिया की तरफ़ झुकना—यह देखा गया है कि बालक, शारीरिक कार्य, मानसिक प्रवृत्ति या अन्य काम से जब थक जाते हैं तो उन का झुकाव ऐसे कार्यों की ओर बढ़ता है, जिन्हें हम अपनी सामान्य भाषा में मस्ती, तूफ़ान अथवा जान-बूझ कर किया हुआ अनैतिक व्यवहार कहते हैं।

बालकों को स्वयं भी अपनी इस मानसिक वृत्ति का कारण समझ में नहीं आता; बल्कि न जाने क्यों उन से ऐसा हो जाता है।

बड़े इस विषय में कुछ कहते हैं तो उन्हें अच्छा नहीं लगता; बल्कि उस का प्रतिकार करने का मन होता है (They

Set up a mental resistance)। इस प्रकार बड़ों की 'ना' या 'हाँ' और बालकों की तात्कालिक मानसिक वृत्ति से आघात-प्रत्याघात का वर्तुल बन जाता है। इस में बड़े और बालक दोनों को समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों होता है। ऐसे समय में समझदार माँ-बापों और बड़ों को बच्चों के साथ अधिक बहस न करके उन्हें आराम करने की ओर ले जाना चाहिए। शारीरिक थकावट होने पर शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का विश्राम देना चाहिए। उन्हें एसी प्रवृत्तियों की ओर प्रेरित करना चाहिये कि जिनसे दोनों प्रकार का विश्राम (Relaxation) मिले।

छोटी छोटी बीमारियाँ—सर्दी लगना, खाँसी होना, आँख दुखना, फोड़ा, खुजली, चोट का पक जाना आदि ऐसी बीमारी हैं जिन्हें हम सामान्यतः छोटे रोग कहते हैं और बहुत-से घरों में प्रायः इनकी ठीक-ठीक दवा और देखभाल भी नहीं होती। इन सब का बालकों के मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

इन बीमारियों में बच्चों के साधारण काम ठीक-ठीक नहीं होते। थोड़ी थोड़ी देर में चिढ़ना, छोटी-छोटी बातों में उत्तेजित हो जाना, आपस में लड़ना आदि इन्हीं रोगों के कारण होते हैं।

मैंने बिलकुल समधारण बालकों के स्वभाव में जो सामान्यतः न चिढ़ते हैं, न छोटी-छोटी बातों में उत्तेजित होते हैं, उक्त रोगों के कारण परिवर्तन होते देखा है। इतना ही नहीं; वरन् उस समय इन्हीं समधारण बालकों का झुकाव ऐसे असामाजिक कृत्यों की ओर होता दिखाई देता है कि जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

ऊपर बताये रोगों में बालक ज्ञानतन्तुओं में एक प्रकार के खिंचाव का अनुभव करते हैं। इसे अंग्रेजी में (Indisposed) अव्यवस्थित होना कहते हैं। ऐसा होने पर शरीर-मन के सब व्यापार समधारण रीति से नहीं होते।

ऐसी परिस्थिति में भी जहाँ तक हो सके बालकों से बिना कुछ कहे, पढ़ने या शाला में जाने के सब कामों को बन्द करके, उन्हें आराम देना चाहिए और ऐसा उपाय करना चाहिए कि उनके साथ बड़ों के संघर्ष का अवसर न आये। यदि इतना हो जाय तो बड़ों और बालकों के व्यवहार की 'हाँ' 'ना' की बहुत सी उलझन दूर हो जायगी।

कुछ जीर्ण रोग (Chronic defects)—आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक न हों; अर्थात् आँखों से कम दीखता हो या कानों से ठीक न सुनाई देता हो या कोई पैतृक रोग बालकों में हो, तो भी उन की सब मानसिक व्यवस्था या व्यवहार में, समधारण बालकों से भिन्नता दीख पड़ती है।

यहाँ से काट कर भेजियेगा।

नूतन बालशिक्षण संघ

1264

व्यवस्थापक मंडल के चुनाव का मतपत्रक

सूचना

(१) **मतपत्र भरने से पहले पीछे की सूचनायें अवश्य पढ़ जाइयेगा।**

(२) व्यवस्थापक मंडल के ११ सभ्यों में से ४ सभ्य पीछे लिखे अनुसार बिना प्रतिस्पर्धा के ही चुने जाने से अब नीचे के दो विभागों में से ७ सभ्यों का चुनाव करना बाकी है। प्रत्येक मतदाता को कुल ७ मत देने हैं। उसमें—सक्रिय और प्रतिनिधि सभ्यों के विभाग में से ६ व्यक्तियों को और सामान्य सभ्यों के विभाग में से १ व्यक्ति को मत देना है। आप जिनको मत दे कर चुनना चाहते हों उनके नाम के ठीक सामने× कर के मत दें।

यहां से काट कर भेजियेगा।

किन सभ्यों के विभाग में से और कितनी बेठकें (स्थान)	क्रम संख्या	उमेदवार का नाम	निवास	मत देने के लिये	
सक्रिय और प्रतिनिधि सभ्यों के विभाग में से ६ सभ्यस्थानों (बेठकों) के लिये	१	श्री. नानाभाई का. भट्ट	भावनगर		इनमें से किन्हीं ६ नामों के सामने क्रोस (×) कर के आपके ६ मत दीजियेगा।
	२	,, ताराबहन मोडक	दादर		
	३	,, गंगुबाई पटवर्धन	बड़ौदा		
	४	,, हरप्रसाद भट्ट	अहमदाबाद		
	५	,, सरोज बहेन योध	बम्बई		
	६	,, गोविंदराम बा. ठाकर	अहमदाबाद		
	७	,, विष्णुप्रसाद मजमुदार	बड़ौदा		
	८	,, आशाभाई कालीदास पटेल	पेटलाद		
सामान्य सभ्यों के विभाग में से १ स्थान के लिये	१	श्री. प्रभुलाल जसवंतराय घोळकिया	सदनदाडी, कच्छ		इनमे से किसी एक नाम के सामने× क्रोस करके आपका १ मत दीजियेगा
	२	,, रतिलाल बालाभाई नाजर	कपडवंज		
	३	,, ल. वा. पडोळे	भंडारा		

तारीख — —१९४४

पूरा नाम और पता ________________ मतदाता के पूरे हस्ताक्षर

सूचना.

(१) आजीवन सभ्यों के विभाग में से २ सभ्यों का चुनाव करना था। चुनाव के लिये २ ही उमेदवार खड़े होने से वे सुतराम् बिना प्रतिस्पर्धी के ही चुने गये हैं। उनके नाम—१ श्री सरलादेवी साराभाई, अहमदावाद, और २ श्री बाबीबहन मुळजी, बम्बई, हैं।

(२) सहायक सभ्यों के विभाग में से भी २ सभ्यों का चुनाव करना था। चुनाव के लिये २ ही उमेदवार खड़े होने से दोनों बिना प्रतिस्पर्धी के चुने गये हैं। उनके नाम—१ श्री. जमुभाई दाणी, बम्बई, और २ सौ. कुसुमावती देशपांडे, नागपूर, हैं।

(३) व्यवस्थापक मंडल के ११ सभ्य-स्थानों में से ४ बिनप्रतिस्पर्धा चुने गये हैं। इस लिये बाकी रहे हुए ७ सभ्य-स्थानों के लिये चुनाव करना है। उसमें से ६ स्थान सक्रिय और प्रतिनिधि सभ्यों के विभाग में से और १ स्थान सामान्य सभ्यों के विभाग में से है। सक्रिय और प्रतिनिधि सभ्यों के विभाग के ६ सभ्यस्थानों (बैठकों) के लिये ८ उमेदवार हैं और सामान्य सभ्यों के विभाग के १ सभ्य-स्थान के लिये ३ उमेदवार हैं।

(४) संघ के किसी भी प्रकार के सभ्य जिनका स. १९४३ का वार्षिक चंदा १० दिसं० १९४३ तक आ गया हो, ऐसे सब सभ्य इन सात सभ्यस्थानों (बैठकों) के चुनाव के लिये अपने ७ मत दे सकेंगे। खुद जिस विभाग का सभ्य हों वे उसी विभाग के सभ्य के लिये मत दें—**ऐसा नहीं है**। आप किसी भी विभाग के उमेदवार सभ्य को अपना मत दे सकते हैं।

(५) प्रत्येक मतदाता को ७ मत देनें हैं। ६ मत सक्रिय और प्रतिनिधि विभाग के सभ्यों को और १ मत सामान्य विभाग के सभ्य को देना है। आपके कुल सात मत ठीक इस प्रकार ही दीजियेगा। निश्चित की हुई संख्या से अधिक मत दिये होंगे (क्रॉस × किया होगा) तो वह मतपत्रक रद्द किया जायगा।

(६) मंत्रीयों के हस्ताक्षर और छपी हुई अनुक्रम संख्यावाला मतपत्रक मतों की गणना के योग्य माना जायगा।

(७) मत देने के बाद मतपत्रक के नीचे मतदाता खुद हस्ताक्षर करके अपना पूरा नाम और पता लिखे।

(८) मत दिये हुए मतपत्रक लिफाफे में बंद करके, उपर कोने पर **"व्यवस्थापक मंडल का चुनाव"** यह लिख कर ता. १२-४-४४ मंगलवार के शाम के ६ बजे तक "श्री मंत्री, नू. बा. शि. संघ, ११७ इंदिरा भवन, हिन्दु कॉलनी, ५ वी गली, दादर" इस पते पर भेज देनें चाहिये। उसके बाद आये हुए मतपत्रक मत-गणना के योग्य नहीं गिने जायेंगे।

—मंत्री.

कानों से कम सुनने वाले बालक हमेशा मंद-बुद्धि ही दीख पड़ते हैं। कही हुई बात को न सुनने तथा आज्ञा मान कर व्यवहार न करने के आक्षेप ऐसे ही बालकों पर हुआ करते हैं। कमजोर आँखों वाला बालक भी ऐसा ही Dull मन्द या मूढ़ प्रतीत होता है। इस के फल स्वरूप देखने वाले को उसका व्यवहार असामाजिक और उसकी ग्रहण-शक्ति औरों से कम जान पड़ती है।

इन सब बातों के विषय में भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पालन-पोषण किये गये बालकों के व्यवहारों में भिन्नता का होना स्वाभाविक है। परन्तु इस प्रकार के सभी शारीरिक रोग किसी न किसी तरह से बालक के मन पर अपना प्रभाव डाला ही करते हैं। इनके स्पष्ट परिणाम भी हम अपनी आँखों देख सकते हैं।

अंतिम बात—ऊपर की सब बातों से हम एक मुख्य बात की ओर माता-पिता और शिक्षकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

हमारे यहाँ आजकल नूतन-बाल-शिक्षण प्रेमियों में मानस-प्रथक्करण-शास्त्र के अध्ययन की प्रथा बहुत प्रचलित है। मानसिक रोगी, अस्थिर आदि सभी प्रकार के उदाहरण यूरोप की पुस्तकों में से हमारे शिक्षक-समूह के सामने बहुत अधिक आते हैं। इसलिये ऐसा होता है कि अपने साथ काम करने वाले बालकों के व्यवहार में जब हम ऐसे परिवर्तन देखते हैं तो उसे अनायास ही मानस-पृथ-क्करण-शास्त्र के माप से मापने लगते हैं। इसके परिणाम में हम जल्दी से ही किसी को 'लघुताग्रंथि' किसी को 'जटिल' तो किसी को 'जड़ता' (Fixation) कह देते हैं। परन्तु वास्तव में वहाँ केवल किसी मामूली शारीरिक रोग के कारण ही बच्चे की वैसी मनोदशा होती है।

ऐसे अनेक अनुभवों के बाद मैं इस विषय पर लिखने को प्रस्तुत हुआ हूँ। शिक्षक बंधु और अपने बालकों में रुचि रखनेवाले माता-पिता शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से बालकों के व्यवहार को देखेंगे तो मेरे मतानुसार उनके बहुत-से प्रश्न हल हो जायेंगे। मार्ग-दर्शन के लिये आज इतना लिखना ही पर्याप्त होगा।

— न.

अनु० 'नूतन'

Regd. No. B. 441

कह कर क्यों नहीं गया था ?

"प फ ब भ म। प फ ब भ म। प फ ब........"–विजय दिवाल पर टंगे चार्ट से वर्णमाला सीख रहा था "प फ ब...." कि पास की मौलसिरी पर से गोरैया की आवाज आई। वह आहिस्से आहिस्ते गया और गोरैयों का फुदकना और चहकना देखने-सुनने में लवलीन हो गया। थोडी देर बाद विजय अपने चार्ट के पास लौट आया-"प फ ब"

"कहाँ गया था रे !" कड़ी आवाज में अध्यापक ने बुलाया "इधर तो आ !"

विजय आगे बढ़ा। डर के मारे पैर मन मन भर के भारी हो रहे थे। हृदय विद्रोह कर रहा था। अध्यापक के पास आकर वह एक ओर 'महान् अपराधी' सा बुत बने खड़ा रहा।

"कहाँ गया था ?"

"..........." अपने नन्हेसे हाथ को उठा कर विजय ने बाहर मौलसिरी की ओर इशारा किया। आतंक ने उसे गूंगा बना दिया। प्रारंभिक वर्ग का नरेन्द्र बोल उठा– "जी, गोरैयों को देख रहा था।"

विजय ने कनखी मार कर नरेन्द्र की तरफ देखा और शिर को और भी नीचे कर लिया। अध्यापक ने मेज पर मुक्की मारी– "कहकर क्यों नहीं गया था, शैतान !"

क्षण भर के लिए सभी लड़के चुप थे। सारी पाठशाला निष्पन्द। प्रकृति मानो स्तब्ध और क्षुब्ध होकर सब कुछ देख रही हो।

"अरे, कहकर क्यों नहीं गया ? उठरे लल्लू, विजय के कान तो गरम कर, उठ।"

लालचंद ने अध्यापक की आज्ञा का पालन किया। विजय फिर अपने चार्ट के नज़दीक आया। फिर वही "प फ ब भ" लेकिन स्वर भारी था और आत्मा आहत, अपमानित। छ साल की उम्र। पाठशाला सिर्फ बारह-चौदह दिनों से आता है ऐसी ठेस आज विजय को पहली दफे लगी है।

घर जाने पर उसे बुखार चढ़ आया। बुखार की तेजी में वह कभी कभी बक उठता–"कहकर क्यों नहीं गया था !"

—ना०

यह लाभ अवश्य उठाईये।

शिक्षण पत्रिका के पिछली साल के अंक रिआयती मूल्यसे मिल सकते हैं। पहले पांच वर्ष के अंक अब नहीं मिलते। वर्ष ६ और ७ की पिछली हरेक फाईल (यानी १२ अंक) का मूल्य ०–८–० किया गया है। किसी में एक-दो अंक कम हैं इसके लिये हम मजबूर हैं।

वर्ष ८ और ९ का वार्षिक चंदा १–०–० होगा। उक्त वर्षोंकी सभी फाईलें मंगवाने से ३–१२–० में घर पहुंचा देते हैं। सजिल्द का हरएक फाईल का ०–१२–० अलग अलग होगा।

मुद्रक व प्रकाशक : पु. आ. चित्रे आत्माराम मुद्रणालय, खारीबाव रोड, बडोदा
कार्यालय : महाजन गली, ज्ञानमंदिर, रावपुरा, बडोदा २३–३–४४.

इंदोर, बीकानेर, जोधपुर, देवास, बड़वानी, बम्बई, मध्यप्रान्त-बरार, पंजाब, बिहार, यू० पी० और उडीसा की सरकारों के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिये स्वीकृत।

आद्य संपादक :
स्व० गिजुभाई

वार्षिक मूल्य :
देश में एक रुपया
विदेश में दो शिलिंग

हिन्दी शिक्षण-पत्रिका

संपादक :
श्री० ताराबहन मोड़क.

सहसंपादक :
श्री० बन्सीधर
श्री० काशीनाथ त्रिवेदी

(माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र)

वर्ष १० वाँ] अप्रैल १९४४, चैत्र २००० [अंक ७ वाँ

तुम सारे संसार को ठग सकते हो, किन्तु अपने बालक को ठग नहीं सकते।

तुम सारे संसार को चकाचौंध में डाल सकते हो; परन्तु अपने बालक को चकाचौंध में नहीं डाल सकते।

तुम अपना चरित्र (शायद) ईश्वर से भी छिपा सकते हो, परन्तु अपने बालक से कभी छिपा नहीं सकते।

न जाने प्रकृतिने इनको कैसी शक्ति प्रदान की है कि वे अवश्य तुमको जान जायेंगे—तुम्हारे वास्तविक स्वरूपको पहिचान जायेंगे।

—स्व० गिजुभाई

माता-पिता के सवाल।

हमारा बालक दूसरे बालकों के साथ कैसे मिले?

एक शिक्षित माता पूछती है—

"हमारे एक ही लडकी है। वह तीन वर्ष की हो गई है। लेकिन अन्य बालकों के साथ मिलती झुलती नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि उसमें सामाजिक भावना बहुत कम प्रमाण में है। अन्य बालकों के साथ मिलने तथा उनसे मिलता करने का मौका देने के लिये इरादापूर्वक मैं आसपास के बालकों को अपने यहां बुलाती हूँ और कुछ खाने के लिये भी उन्हें देती हूँ। पड़ोस के बालक खुशी-खुशी हमारे यहां आते हैं और खूब खेल कूद कर आनंदपूर्वक घर जाते हैं। ये बालक जब खेलते-कूदते हैं, तब भी मेरी लड़की मेरे पास ही बैठी रहती है। वह सब बालकों का खेल तो देखती है; लेकिन उनके साथ खेलने के लिये दौड़कर उनके पास नहीं जाती। दूसरे बालकों के साथ मिलने का अवसर देने के लिये मैंने उसे एक बाल-मंदिर में भेजना शुरू किया है। लेकिन वहां का अनुभव भी वैसा ही है। बालकों के साथ मिलने के बदले वह शिक्षक के पास ही बैठी रहती है। मुझे अपनी लड़की में यह कमी लगती है। इस कमी को दूर करने का कोई रास्ता बतायें। आप ऐसा तो नहीं मानती हैं कि बालकों के मूल स्वभाव में कोई फर्क पड़ता ही नहीं?"

ज०—मैंने आपकी लड़की को देखा है। मेरी यह धारणा है कि जितनी चिंता आप उसके अकेला रहने के बारे में करती हैं सो ठीक नहीं है। वह इतनी तनहाई-पसंद नहीं है। हमारे यहां जब वह आती थी, तो वह बालकों के साथ खेलती-कूदती थी, छोटे बच्चे को देखकर वह बहुत खुश होती थी। और उसे खेलाने भी जाती थी। दो दिन पहले भी वह अन्य लड़कों के साथ खेलने जाने के लिये तैयार थी। इसलिये मैं तो ऐसा मानती हूँ कि आपकी लड़की इतनी संकोचशील, डरपोक अथवा बिलकुल तनहाई-पसंद नहीं है जितना कि आप ख्याल करती हैं।

आपको तो इस बात का कारण मालूम करना चाहिए कि वह पड़ोस के बालकों के साथ क्यों नहीं मिलती-जुलती। संभव है कि जिन कारणों से घर में वह पड़ोस के बालकों के साथ नहीं मिलती, उन्हीं कारणों से वह बालमंदिर के बालकों से भी न मिलती हो।

ऐसा भी हो सकता है कि पड़ोस के बालक आपकी लड़की से उम्र में बड़े हों। चार वर्ष का बालक जिस तेजी से खेल और दौड़ सकता है, उसी तेजी से तीन साल का बालक खेल और दौड़ नहीं सकता।

ऐसा भी हो सकता है कि आपके पड़ोस के बालकों के खेल में खूब धका-मुकी चलती

हो जिसे आपकी लड़की सहन न कर सकती हो। इस लिये दूसरे बालकों का खेल बैठे बैठे देखते रहना उसके लिये स्वाभाविक है। कितने ही बालक धक्का-मुक्की तथा गिरने-पड़ने के कठिन खेल खेल सकते हैं, लेकिन कितने ही बालक ऐसे खेल नहीं खेल सकते।

ऐसा भी हो सकता है कि आपके पड़ोस के बालकों की भाषा आपकी लड़की को न आती हो। मूलत: वह उनसे न मिल सकती हो या मिलने की इच्छा ही न होती हो। भाषा के संबंध में मेरा अनुभव तो ऐसा है कि खेलने के लिये बालकों को भाषा की बहुत कम आवश्यकता रहती है। हमारे बालमंदिर में २$\frac{1}{4}$, २$\frac{1}{2}$ वर्ष के बंगाली अथवा मद्रासी बालक भी झट खेलने लग जाते हैं। प्रत्येक बालक अपनी भाषा बोलता है। एक बालक दूसरे की भाषा को जरा भी नहीं समझता। लेकिन फिर भी वे आनंद के साथ खेलते हैं। और ऐसा करते करते कुछ दिनों में अपने लिये आवश्यक नयी भाषा सीख लेते हैं। इसमें शक नहीं कि ऐसा करने से विभिन्न भाषाओं के शब्दों की खिचड़ीसी बन जाती है। लेकिन बालकों का काम इसमें बन जाता है क्योंकि साधारणतया अंदर अंदर खेलने या मिलने में भाषा की रुकावट नहीं आती। फिर कुछ बालक ऐसे होते हैं जिन्हें भाषा विषयक कठिनाई महसूस होती है।

ऊपर जो कुछ बताया गया है, उससे आप आसानी से मालूम कर सकती हैं कि आपकी लड़की दूसरे बालकों से क्यों नहीं मिलती। आपकी लड़की तो अच्छी तरह बोलना जानती है। इस लिये उसके साथ बातचीत कर के आप कारणों की खोज कर सकती हैं।

ऐसा भी हो सकता है कि आपकी लड़की का स्वभाव ही ऐसा हो कि वह दूसरों से अधिक मिलना जुलना पसंद न करती हो। किसी बालक का अपेक्षाकृत अधिक अंतर्मुख होना संभव है। ऐसे बालक के स्वभाव में आमूलचूल परिवर्तन नहीं हो सकता। लेकिन जो बालक अधिक अंतर्मुख है, उसे बहिर्मुख बनाने के लिये उस की अवश्य मदद करनी चाहिए। विशेष रूप से ऐसे बालकों को अपने आन्तरिक भाव व्यक्त करने का मार्ग दिखाना आवश्यक है। ऐसा मार्ग चित्र-कारी या मिट्टी के काम में मिल सकता है। जो बालक दूसरे से बोलकर या मिलकर अपने अंदरूनी भाव व्यक्त नहीं करता उसके लिये कोई कला या भविष्य में लेखनकार्य उसका मार्गदर्शक बन सकता है। इसके अलावा दूसरे बालकों के साथ बोलना और मिलनाजुलना सिखाने के लिये, उसे शाला में भेजना, क्रीडांगणों में खेल के लिये ले जाना, नाटकों अथवा संवादों में मार्ग दिलाना, बोर्डिंग हाउस में रहने के लिये भेजना आवश्यक है। ऐसा करते समय इस बात का जरूर ध्यान रखना चाहिये कि जो कुछ किया जावे वह स्वाभाविक तौर पर किया जावे। बालकों को इस बात का पता नहीं लगना चाहिए कि मातापिता हमारे लिये खास चिन्ता कर रहे

हैं अथवा अन्य बालकों के साथ मिलने जुलने और खेलने पर भी वे सब से अलिप्त रहते हुए अपने ही में मग्न रहेंगे।

इसके अलावा इस बातका भी पता लगा लेना चाहिए कि बालक की इस प्रकार की अन्तर्मुख-वृत्ति स्वाभाविक है या बाह्य परिस्थितियों के कारण पैदा हुई है।

आपको अपनी लड़की को ऐसे वातावरण में रखना चाहिए जिससे उसमें आत्म-विश्वास पैदा हो और उसे न तो कोई चिढ़ाये, न मारे और न कोई उस पर क्रोध करे। उसे ही इस बात का निर्णय करने दें कि उसे क्या अच्छा लगता है और क्या नहीं। और फिर ऐसी व्यवस्था करें कि वह दृढ़तापूर्वक अपने निर्णय के अनुसार चलती रहे। यह भी मालूम कर लेना चाहिए कि आपका या लड़की के पिता का व्यक्तित्व तो उसको नहीं दबा रहा है? अंतमें आग्रहपूर्वक मुझे आपसे यही कहना है कि लड़की के विषय में आप जो इतनी चिंता करती हैं वह बिलकुल आपको छोड़ देनी चाहिए। ऐसा करेंगी तो आप की लड़की अवश्य अन्य बालकों जैसी समधारण लड़की बन जाएगी।

—ता०

बच्चों का भय कैसे दूर हो?

बच्चों के साथ घुलमिल जाने की कला शिक्षकों और माँबापों के लिये अति आवश्यक है। जिन्हें बालकों के साथ बालक बनना—उनमें घुलमिल जाना आता है, जिन्हें उनकी इच्छाओं और दौड़-भागमें एकरस होना आता है वही शिक्षक अथवा माँबाप बच्चों की वृत्तियों को उचित मार्ग पर लेजाने में सफल होते हैं। परन्तु बड़ों अर्थात् समझदार मनुष्यों को क्या वास्तव में बालक बनना आता है? जगत् के अच्छे बुरे अनुभवों से बने हुए बड़े मनुष्यों की वृत्तियों में से स्वाभाविक अल्हड़पन प्रायः लुप्त हो जाता है। कागज के पाँच पौंड के नोट की नौका बनाकर उसे पानी में तैरती हुई देखने में बालक के समान निर्दोष आनन्द प्राप्त करनेवाले कवि शेले के सदृश कोई विरला ही निकलेगा! कवि में बालक की यह निर्दोष वृत्ति जीवनभर बनी रहती है। इसके अतिरिक्त साधारण मनुष्य भी पुरानी स्मृति के सहारे भूले हुए बचपन और उस समय की भावनाओं को फिर से ताजी कर सकता है। पहले पहल मिलनेवाले खिलौने को प्राप्त कर होनेवाले अपार हर्ष, मिलने के लिये आनेवाली चाची या मौसी के पीछे चलते हुए होनेवाले असह्य दुःख अथवा नई मोल ली पुस्तक पर छोटे भाईबहनों द्वारा डाले हुए स्याही के दाग को देखकर आनेवाले असाधारण क्रोध आदि को यदि अच्छी तरह याद रक्खा जा सके तो बड़ी उम्र में बालक बनना आ जाता है। हमें अपना बचपन याद न होने से उन के साथ हमारा

हार्दिक संबंध नहीं जुड़ता और न उनकी आकांक्षाओं के विषय में आवश्यक सहानुभूति ही हम में जाग्रत होती है। इसी के फलस्वरूप हम बच्चों के क्रोध, दुःख या हर्ष के भावों को केवल अल्हड़पन के तुच्छ खेल ही मानते हैं। ऐसा होने पर बालक भी हम बड़ों से दूर दूर रहा करते हैं और इसी लिये वे हम से कुछ सीख नहीं सकते।

अब हम बच्चों के भय का विचार करते हैं। बड़ो या समझदारों की दृष्टि में बच्चों में होनेवाला भय प्रायः बिलकुल निराधार मूर्खतापूर्ण प्रतीत होता है। इस लिये जब बच्चों को डर लगता है तो बड़ों को उन पर क्रोध आता है और वे उन्हें मार पीट कर सीधा करना चाहते हैं। हाँ कभी-कभी बालक भी इतनी छोटी बातों से डर जाते हैं कि कुछ न पूछिये! आजकल के हमारे रहनसहन में वर्तमान सभ्यताके साम्राज्य में-नन्हें-से बसन्त को बड़ी बड़ी मूछों या लम्बी दाढ़ी वाला मनुष्य बहुत ढूँढ़े से देखने को मिलेगा। अतः दादाजी से मिलने के लिये घर में आनेवाले ऐसे दाढ़ी-मूछधारी मेहमान को देखकर बसन्त को कितना भय लगता है, यह उस के चेहरे से ही जाना जा सकता है। इस समय वह घर के बड़ों को भी घबराहट में डाल देता है। इसी प्रकार माथे पर होली का तिलक या टीका लगाये हुए किसी ग्रामीण स्त्री को देखते ही बसन्त अपनी माँकी गोद में छिप जाता है। उस का यह व्यवहार बिलकुल निरर्थक होता है और बड़ों को भी ऐसी साधारण बात के लिये बसन्त का यह व्यवहार उलझन में डालने वाला और अप्रिय प्रतीत होता है। सब यही चाहते हैं कि यह अच्छी तरह रहे! बहुत बार तो उस पर क्रोध भी आता है; परन्तु जब अपने बचपन की याद आती है और हम सोचते हैं कि हम भी इसी प्रकार अनेक बार डरा करते थे और किसी काबुली पठान को आते हुए देखकर तो हम रसोई घर में जा छिपते थे। इन सब बातों के याद आते ही हमारा क्रोध शान्त हो जाता है। हम सहानुभूतिपूर्वक भय का विचार कर के उसे दूर करने का उपाय सोचने लगते हैं।

हमारे कहने का यह अर्थ नहीं कि लाड़-प्यार के द्वारा बालक के भय का पोषण किया जाय और उसे स्थायी रूप दिया जाय। इस के विपरीत हमारा तो यह विश्वास है कि डरनेवाले बालक को भविष्य में अकारण ही अनेक प्रकार की कठिनाई और यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। मन में घर कर बैठने वाला भय बालक की (बड़ा होने पर) मनुष्य की क्रियाशक्ति को कुंठित कर देता है और उसे बिलकुल असहाय-निर्बल बना डालता है। अतः बचपन में ही भय दूर होना चाहिए। परन्तु भय का सच्चा कारण जब तक बालक को बालक के ढंग पर न समझाया जाय तब तक केवल डाँट-फटकार के द्वारा भय दूर नहीं किया जा सकता। इस के लिये हमें बालकों की इच्छाओं के साथ घुलमिल जाना आवश्यक है।

हमें यह देखना चाहिए कि बच्चों में भय किस कारण से उत्पन्न होता है। 'भय क्या वस्तु है, मैं नहीं जानता.' नेल्सन की तरह इस प्रकार कहनेवाला कोई विरला ही मिलेगा। सामान्यतः बालक को किसी न किसी प्रकार का भय लगा ही करता है। जब उसे भय लगता है तो उसके मन में यह भावना पैदा होती है कि भय लगानेवाली वस्तु द्वारा उसे हानि पहुँचेगी।

मनोवैज्ञानिक, भय के चार मुख्य कारण बताते हैं:—(१) अचानक होनीवाली तीव्र ध्वनि, (२) भयभीत होकर चीख पड़नेवाले मनुष्य की आवाज़ को सुनना अथवा उसकी भयाकुल आकृति को देखना, (३) अपने नीचे का आधार दूर हो जाने की परिस्थिति उत्पन्न होना, (४) किसी अपरिचित प्राणी या दृश्य आदि का अकस्मात् प्रत्यक्ष दर्शन होना। यद्यपि भय के उक्त चार मुख्य कारण गिनवाये जाते हैं; फिर भी अनुभव से मालूम हुआ है कि आरंभिक एक-दो वर्ष में ही बालक अनेक बातों से डरने लगता है। ऐसा क्यों होता है? वाट्सन नामक एक वैज्ञानिक ने प्रयोगों द्वारा इस विषय में अनेक बातें मालूम की हैं। उसका एक प्रयोग निम्न प्रकार का था।

अल्बर्ट नामक एक ११ महिने का बहुत ही हृष्ट-पुष्ट और खिलाडी बालक था। उसे किसी का भय (उक्त चार बातों को छोड़ कर) नहीं लगता था। अल्बर्ट चाहे जिसे छूने को सदा तैयार रहता था। वह ऐसा था कि चूहे और खरगोश से डरना तो दूर रहा; परन्तु यदि संयोग से वे उसके हाथ में आजाते तो वह उन्हें बिना दबाये और बिना खींचे न रहता था। उक्त वैज्ञानिकने सोचा, "भला, इस बालक के मन में अपने प्यारे खरगोश का भय उत्पन्न किया जा सकता है या नहीं, यह देखना चाहिए।" प्रयोग के लिये उसने ऐसा कार्यक्रम बनाया कि जब जब अल्बर्ट अपने प्यारे खरगोश को प्यार करने के लिये हाथ बढ़ाता तब तब पीछे छिपकर वैज्ञानिक उत्तरोत्तर तीव्र ध्वनि करता। वह जब भी खरगोश को छूना चाहता तभी तेज़ आवाज़ की जाती थी। थोडे दिनों बाद अल्बर्ट के मनमें खरगोश का ऐसा डर समाया कि वह उसे दूर से देखते ही भयभीत होकर रोने लगता और दौडकर कहीं छिप जाता।

यह बात सच है कि इस प्रयोग में कुछ कठोरता है। एक खिलाड़ी और नीडर बालक को इस प्रकार डरपोक बना देने में अवश्य ही एक प्रकार की निष्ठुरता है। परन्तु इस का मूल कारण तो, बालक में भय किस कारण पैदा होता है, इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करना था। अतः यह निष्ठुरता क्षम्य मानी जा सकती है। इस प्रयोग का दूसरा लाभदायक पक्ष यह है कि बालक में घुसा हुआ भय कैसे दूर किया जा सकता है, यह आवश्यक बात इस प्रयोग से जानी जासकती है। बहुत तेज़ आवाज़ के साथ खरगोश के स्पर्श को जोड़ने से भय उत्पन्न कर सकने की बात यदि सत्य है तो मन को प्रसन्न करनेवाली किसी घटना के साथ उसके स्पर्श को जोड़ देने से वह भय दूर भी

किया जा सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अल्बर्ट पर दूसरा प्रयोग करना निश्चय हुआ। अल्बर्ट भोजन का बड़ा शौकीन था। जब वह भोजन के लिये बैठता तो उससे बहुत दूर केवल उसकी दृष्टि के सामने, खरगोश को रखना शुरु किया गया। अल्बर्ट अपने बहुत प्यारे काम भोजन में लगा रहने के कारण खरगोश की ओर जरा भी ध्यान न देता था। इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि खरगोश बहुत दूर रहता था। परन्तु वैज्ञानिक, उस लड़के और खरगोश का अन्तर बहुत धीरे-धीरे-लडके को बिना मालूम किये प्रतिदिन कम करता जाता था। हमेशा भोजन के समय ही खरगोश को देखते रहने के कारण बच्चे के मन में से उसका भय दूर होने लगा और थोड़े दिनों में ही पहले की तरह वह खरगोश के साथ खेलने लगा। फिर तो यहाँ तक दोस्ती हो गई कि वह एक हाथ से भोजन करता और दूसरे से उसे प्यार किया करता।

हमारे प्रतिदिन के व्यवहारों में भी उक्त वैज्ञानिक के इस प्रयोग से प्राप्त होनेवाला सिद्धान्त देखने में आया करता है। बहुत बार भय को पूर्वोक्त चार कारणों के साथ जोड़ने के कारण बहुत मामूली बातों से भी बालक डरने लगता है। दिवाली के अवसर पर चारों ओर पटाख़ों की आवाज़ हुआ करती है। डेढ़-दो वर्ष के बालक इस कारण से अथवा जलने के भय से डरा करते हैं। हमारी नन्हीं बच्ची जब बोरीबन्दर (बम्बई) की ओर थी, तब वह शांत भाव से रहा करती थी; क्योंकि यहाँ पटाख़ों की आवाज़ वह नहीं सुनती थी। परन्तु गिरगाँव में अपनी मौसी के घर जाते हुए वह चारों तरफ़ पटाख़ों की आवाज सुना करती थी इस के फल स्वरूप उस के मन में मौसी के घर का ऐसा भय समा गया कि उस का दूर होना बड़ा कठिन हो गया।

यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि बहुत तेज़ आवाज़ से बालक का डरना बिलकुल स्वाभाविक है। यही कारण है कि छोटे बच्चों के लिये बहुत शांति की आवश्यकता होती है। अब यह प्रश्न उठता है की छोटे बच्चों को तेज़ आवाज़ से कब और किस प्रकार परिचित कराया जाय? जीवन भर किसी शांत कोठरी में ही बन्द रहना तो सर्वथा असंभव है। बड़ी उम्र में भी बहुत तेज़ आवाज़ असह्य प्रतीत होती है, इसे हम भी जानते हैं। बम्बवर्षा में स्फोटक द्रव्यों की कानों को फाडनेवाली तेज़ आवाज़ और वायुयानों के घरघराट से ही विशेष हानि पहुँचती है। बम्बवर्षा में से बचनेवाले लोगों का कहना है कि "आँखों के आगे होनेवाली बम्बवर्षा में एक-दो बम्ब पडकर मर जाना अच्छा है; परन्तु यह भयंकर आवाज़ और दिल दहलानेवाली चीत्कार सहन नहीं होती! कहने का अभिप्राय यह है कि आवाज़ के भय को निर्मूल करना मनुष्य के हाथ की बात नहीं। फिर भी उससे लगनेवाला भय कम तो किया ही जासकता है। यों तो आवाज़ का भय प्राकृतिक रूप से लगा ही करता है; परन्तु उसके साथ किसी अज्ञात वस्तु के भय

को जोड देने से उसका परिणाम बहुत अधिक बढ़ जाता है। आवाज़ क्यों होती है और उसका क्या परिणाम होना संभव है, इन दो बातों का ज्ञान होने पर आवाज़ से उत्पन्न भय बहुत कम हो जाता है। भय का यह कारण यदि बालक को भी उसकी समझ के अनुसार बता दिया जाय, भविष्य में आवाज़ कैसी होगी इसका कुछ संकेत बालक को कर दिया जाय और उसकी आकस्मिकता तथा अपरिचितता कुछ कम कर दी जाय तो उससे लगनेवाले भय की तीव्रता कम हो सकती है। दिवाली के अवसर पर चारों ओर पटाख़ों का शब्द हुआ ही करता है। ऐसे समय में बालक को शांति से समझाया जा सकता है कि "देखो, अब यह पटाख़ा छूटता है। जोर का धडाका होगा! लो, सावधान हो जाओ! यदि इस प्रकार तेज आवाज को सुनने के लिये पहले से ही बालक को तैयार रक्खा जाय तो उसके मन में उस आवाज का भय नहीं रहता। परन्तु इस तैयारी की आवश्यकता को पहले बड़े स्वयं अनुभव करें और फिर बालक को शांति के साथ पास बैठाकर समझा दें। इसके विपरीत यदि भय को दूर करने के लिये बालक को केवल धमकाया जायगा तो इसका उलटा ही परिणाम होगा। हाँ, बिलकुल छोटे सात आठ महीने के बालक को इस प्रकार नहीं समझाया जासकता; परन्तु ऐसे अवसर पर जब आवाज हो तो किसी बड़े व्यक्ति को पास में उपस्थित रहना चाहिए और उसे प्रसन्नता से गोद में ले लेना चाहिए। यदि बालक जागता हो तो "चलो, तमाशा हो रहा है उसे देखने चलें।" यह कह कर उसे जहाँ पटाखे छूटते हो वहाँ ले जाना चाहिए। इस प्रकार की सावधानी रखना बड़ों का काम है। जहाँ तक हो सके बालक के समझदार होने तक उसे शांतिपूर्ण वातावरण में रखना आवश्यक है; यद्यपि बम्बई जैसे मनुष्यों से भरपूर नगरों में सामान्य स्थितिवाले मनुष्य के लिये ऐसा होना असंभव है। (अपूर्ण)

अनु०-नूतन. —सुलभाबाई पाणंदीकर

अंकगणित-शिक्षण।

(८)

(दशकपद्धति)

बोर्ड पर तीन खड़ी रेखायें खींच कर दो खाने बनाये जाँय और उनमें शीर्षस्थान पर क्रमसे 'दस' और 'खुले' लिखे जायँ। फिर खेल शुरु किया जाय। उदाहरण के ढंग पर बालक से कहना चाहिए "तीन 'दस' लाओ।" जब बालक दसवाली तीन माला ले आये तो उससे कहा जाय, "अच्छा, तुम कितने 'दस' लाये, उन्हें तख्ते पर लिखदो।" बालक कहेगा "तीन 'दस' हैं।" इसलिये हमें तख्ते पर

दस	खुले
३	०

पास में दिये ढंग से 'दस' वाले खाने में ३ का अंक और 'खुले' वाले खाने में ० शून्य लिखना चाहिए। फिर बालक से सात 'दस' लाने को कहा जाय और जब वह ले आये तो माला गिन कर उन्हें भी खाने में लिख दिया जाय। इस प्रकार दो-तीन बार भिन्न-भिन्न प्रकार से 'दस' मँगवा कर उन्हें तख्ते पर लिखवाया जाय। यदि इस समय तक बालक को अंक लिखने आ गये हों तो दो-तीन बार लिखना बता कर फिर खानों में उससे ही लिखवाना चाहिए। परंतु यदि बालक को अंक लिखना न आता हो तो हमें स्वयं ही लिखना चाहिए और इसके लिये 'दशक' के संख्या शिक्षण को रोकने की आवश्यकता नहीं।

दस	खुले
७	०
४	०

बालक 'दस' की माला गिन कर ले आये। हम उन्हें गिने और स्वयं ही तख्ते पर खाने में लिख दें और बालक से पढ़वाते जायँ। पढ़वाते समय इस बात का विशेष ध्यान रक्खें कि बालक खाने देखकर 'चार दस', 'पाँच दस', 'आठ दस' आदि इस प्रकार पढ़े।

इसके उपरांत तख्ते पर हमारी लिखी हुई संख्याओं को बालक पढ़े और उन्हीं के अनुसार माला लाकर दे। जैसे हमने पास में लिखे ढंग से तख्ते पर लिखा। पहले उसे बालक "पाँच दस" पढ़े और बाद में डिब्बी में से गिन कर दसवाली पाँच माला लाकर दे। इसी तरह कई बार अभ्यास कराया जाय।

दस	खुले
५	०

इसके बाद के साधन दस, सौ, और हजार की संख्या लिखे हुए ताश (कार्ड) हैं। ये साधन बाज़ार में से तैयार मिल सकें तो ठीक, नहीं तो शिक्षक स्वयं भी तैयार कर सकता है। मोटे चिकने कागज के ३"×३" के नौ वर्गाकार टुकडे बनाकर उनपर १ से ९ तक के अंक लिखे जायँ और उन्हें 'इकाई' माना जाय। १०, २०,.....९० के अंकोंवाले कार्ड ३"×६" के अर्थात् इकाईवाले कार्डों से दुगने लंबे हों। १००, २००,......९०० की संख्या के कार्ड ३"×९" के माप के और १०००, २०००,......९००० के ताश ३"×१२" के मापवाले हों। ये ताश मोटे और जल्दी न मुड़नेवाले हों तो ठीक है; जिससे बहुत से बालकों के उपयोग में लाने पर भी बारबार नये बनाने न पड़ें।

इन संख्याओं के लिखने के लिये डॉ. मॉण्टेसोरी ने रंग भी निर्धारित कर रक्खे हैं। यह रंग की स्वीकृति उनके गणित के सब साधनों में आगे से आगे निरंतर रहा करती है। बाज़ार में मिलनेवाले ताशों में भी उसी प्रकार के रंगोंवाले ताश तैयार मिलते हैं। इसलिये हमारे तैयार किये हुए साधनों में भी उन्हीं रंगों के रखने से सरलता रहेगी। वे रंग इस प्रकार है—इकाई (खुले) के लिये हरा, दशक या दस के लिये नीला, सैकड़ा या सौ के लिये लाल और हजार के लिये इकाई जैसा ही हरा रंग होगा।

अंग्रेजी में ऐसी रीति है कि तीन-तीन संख्याओं के बाद नाम बदलता है; परंतु

हमारे यहाँ हज़ार के बाद प्रत्येक दूसरी संख्या का नाम बदल जाता है। जैसे हजार-दस हजार, लाख-दसलाख, करोड़-दसकरोड़ आदि। इसलिये हमें इससे आगे के ताश बनाने हों तो हजार का हरा, दसहजार का नीला, लाख का हरा, दसलाख का नीला, फिर करोड़ का हरा और दसकरोड़ का नीला इस प्रकार रंगो का क्रम रखना चाहिए।

साधन का उपयोग इस प्रकार किया जाय। प्रथम 'दस' लिखे ताश लेकर बालक उन्हें पढ़े और उन्हीं के अनुसार माला लाकर दे। जैसे ५० का ताश देख कर बालक दसवाली पाँच माला लाकर दे। इतना अभ्यास हो जाने के बाद इससे विपरीत ढंग से खेल शुरु करना चाहिए। अर्थात् हम अपने हाथ में थोड़ीसी माला लेकर बालक से गिनवायें और वह उसी संख्या को बताने-वाला कार्ड लाकर दे। जैसे कि दसवाली सात मालाएँ बताने पर बालक ने ७० का कार्ड लाकर देना चाहिए।

इसके बाद बालक को ऐसी संख्याओं का उपयोग सिखाने की जरूरत है कि जिन में दोनों स्थानों (दस और खुले) पर अंक हों। इसके लिये बालक से कहना चाहिए कि "तीन 'दस' और चार 'खुले' लाओ और इन्हें बोर्ड पर लिखो।" बारबार के पुनरा-

दस	खुले
३	४

वर्तन से पूर्ण अभ्यास हो जाने पर कार्डों की सहायता से विशेष अभ्यास कराना चाहिए। जैसे ६० के कार्ड पर दाईं तरफ़ शून्य के ऊपर ५ का कार्ड रखने से ६५ दीख पड़ते हैं। यह बताकर बालक से उसी संख्या का कार्ड मँगवाना चाहिए। यदि उस समय बालक की समझ में न आये तो ६० और ५ के कार्डों को अलग अलग करके बताया जाय और बोर्ड पर लिखने को कहा जाय। तदनंतर ६० के कार्ड पर शून्य के स्थान पर ५ का कार्ड फिर रख कर बालक को यह विश्वास कराया जाय कि इस प्रकार बनाई गई संख्या और बोर्ड पर लिखी संख्या एक-सी ही हैं। ऐसा करने में पहले कुछ देर कार्ड बता कर उन्हीं के अनुसार बालक से दस की माला और खुले मोती मँगवाने चाहिए। फिर दसवाली कुछ माला और खुले मोती लेकर बालक से उसी संख्या को बताने वाले कार्ड लाने के लिये कहा जाय। यह निश्चय है कि ६५ की संख्या को बालक "छ 'दस' और पाँच" ऐसे शब्दों से पहचानेगा और पुकारेगा। उस से "छके पाँचे पैंसठ" बुलवाने की जरूरत नहीं।

सच बात यह है कि इसमें समझ की अपेक्षा अभ्यास की विशेष आवश्यकता है और इसी लिये ऐसा होने देना चाहिए कि बालक यह सब पुनरावर्तनों से पक्का करता जाय।

इस के बाद इसी ढंग से 'सौ' का परिचय कराया जा सकता है। अनेक पुनरा-वर्तनों के बाद इस का अभ्यास होने पर हजार को लिया जा सकता है।

'दस' या 'दहाई' की संख्या का ज्ञान होने में एक-दो सप्ताह लग जायँ तो भी धैर्य

रखना चाहिए। इतने समय में बालक को इस का पूर्ण अभ्यास हो जाना भी आवश्यक है। इस के बाद 'सौ' (सैकड़े) और हजार का ज्ञान होने में बहुत समय नहीं लगेगा। कारण, तख्ते पर कैसे लिखा जाता है और वही संख्या कार्ड पर किस प्रकार बनाई जाती है तथा पढी जाती है यह क्रिया, बारबार के अभ्यास से सिद्ध हो जाती है। इस के अतिरिक्त संख्याओं में तो केवल दस तक गिनना आना जरूरी है। यदि बालक को ७३९८ जैसी बड़ी संख्या भी बोली जाय तो भी उसे लानेवाली चीजों में तो ७ घन, ३ वर्ग ९ माला और ८ खुले मोती लाकर ही देने होते हैं। जैसे दूसरी चीजें दस तक गिनने में बालक को कोई कठिनाई नहीं आती वैसे ही उस के लिये इन घन, वर्ग, माला का गिनना भी सरल है। कारण, प्रत्येक वस्तु के गिनने में 'नौ' से अधिक तो गिनती ही नहीं होती। अतः इस खेल में बालक लिखी हुई संख्याओं के अनुसार घन, वर्ग, आदि बड़ी शीघ्रता से लाकर देते हैं और दी हुई वस्तुओं के कार्ड लाकर देने में भी देर नहीं करते। इसी प्रकार तख्ते पर या स्लेट में खाने बना कर दिये जायँ तो वे उन खानों में संख्या भी तुरंत लिख देते हैं।

इ.	सौ.	द.	खुले
७	३	९	८

इस तरह संख्या लिखना बहुत सरल है। कारण, बालक को १ से ९ तक के अंक तो लिखने आते ही हैं और घन, वर्ग, माला आदि भिन्नभिन्न प्रकार की वस्तुएँ उस के पास तैयार होती हैं। अतः ७३९८ संख्या को सुनकर वह सोचेगा कि हजार कितने? ७। सौ कितने? ३। दस या दहाई कितनी? ९। और इकाई या खुले कितने? ८। और फिर इन अंकों को मोतियों के घन, वर्ग, माला तथा खुले मोती गिन कर शीघ्रता से बता सकेगा।

इसी प्रकार समझ के साथ संख्या पढ़ कर चीज़े लाने, संख्या पढ़ने और संख्या लिखने का कार्य साढ़े चार-पाँच वर्ष के बालक अच्छी तरह कर सकते हैं।

संख्यालेखन में बालक के लिये सब से कठिन काम अभी तक संख्या में शून्य का आना प्रतीत हुआ है। परंतु मॉण्टीसोरी पद्धति से अथवा उक्त साधनों द्वारा संख्या-लेखन सीखनेवाले बालकों के लिये यह काम बहुत सरल हो जाता है! जैसे कि बालक से सात हजार छ लाने के लिये मुखसे कहा जाय तो वह तुरंत ही सात घन और छ खुले मोती लाकर देगा और इसी प्रकार लिखने को कहते ही हजार के खाने में ७, सौ तथा दस के खाने में कुछ न होने से शून्य और खुले या इकाई के खाने में ६ लिखेगा। कार्डों के द्वारा यह बात और स्पष्ट हो जाती है। कारण ७००० के कार्ड पर ६ वाला कार्ड रखते ही ७००६, यह स्पष्ट पढा जाता है। कार्ड के रखने में भूल न हो जाय इस लिये बालक को नीचे की रीति पहले ही पक्की कर देनी चाहिए।

संख्यावाले सब कार्डों में पहले हजार का, उस के ऊपर सौ का, उस पर दस या दहाई का और फिर इकाई या खुले का कार्ड इस प्रकार रखना चाहिए कि बाईं ओर अंक के ऊपर अंक आ जाय। इस के बाद सब को दाईं तरफ को पृथ्वी से मिलाते हुए सरकाना चाहिए। ऐसा करने में दो, तीन, चार, जितने प्रकार के कार्ड होंगे वे सब सरक कर यथास्थान आ जायेंगे। प्रत्येक की लंबाई माप के अनुसार होने से वे |३|४|५|७| इस प्रकार दीख पड़ेंगे और संख्या तीन हजार, चार सौ, पाँच दस और सात पढ़ी जा सकेगी। (क्रमशः)

अनु०—नूतन।

—ता०

"इसे शिकंजी पिलाओ"

भूगोल के एक अध्यापक अपने छात्रों को गर्मी के दिनों में शिकंजी और जाड़े के दिनों में चाय पिलाते थे। एक सहपाठी ने अपने बचपन की बातें सुनाते हुए कहा—"जितनी शिकंजी और चाय मैंने पी होगी, कोई क्या पिएगा।"

"मैं तो, भाई, एक गरीब किसान के घर पैदा हुआ। शिकंजी और चाय से देर में परिचित हुआ!"

"सुनो तो!" मित्रने कहा, "हमारे मिडिल स्कूल के भूगोल-अध्यापक जिस को सजा देते, कहते—'अरे भाइ म्युनिटर! इस को एक ग्लास शिकंजी पिलाओ!"

म्युनिटर (प्रमुख छात्र) उठता और अपराधी छात्र को एक चपत लगा आता। चपत हलकी होने पर अध्यापक महाशय बोल उठते—"अरे बाबा! बर्फ जरा ज्यादा डाल; फिर होगी शिकंजी मजेकी!" तब म्युनिटर जरा कसकर चपत लगाता। बड़े और छोटे अपराधों की दृष्टि से शिकंजी के ग्लासों की संख्या में बढ़ती और घटती होती रहती।

और जाड़े के दिनों में! नवम्बर से चाय मिलने लगती। जिस लड़के का अपराध जितना बड़ा होता उसको अध्यापक महाशय के आदेशानुसार म्युनिटर उतनी ही गरम चाय पिलाता—कसकर चपत पड़ती!

"मैं इस प्रकार की शिकंजी और चाय से वंचित रहा हूँ। हां, बालवर्ग में 'पारितोषिक' बहुत मिले हैं।"

—ना०

मुद्रक व प्रकाशक : पु. आ. चित्रे, बी.ए., आत्माराम मुद्रणालय, रावपुरा बड़ौदा
कार्यालय : महाजन गली, ज्ञानमंदिर, रावपुरा, बड़ौदा ८-४-४४

व्यवस्थापक मंडल का चुनाव

इस महीने की १२ वीं तारीख को नये व्यवस्थापक मंडल का चुनाव करना था। विधान के अनुसार व्यवस्थापक मंडल के कुल ११ सभ्यों २ आजीवन सभ्यों में से, २ सहायक सभ्यों में से, ६ सक्रिय तथा संस्था-प्रतिनिधि सभ्यों में से और १ सामान्य सभ्यों में से चुनाव करना था।

आजीवन सभ्यों के विभाग की तरफ से मात्र दोही उमेदवार होने से वे बिना प्रतिस्पर्धी के चुने गये है; इसी प्रकार सहायक सभ्यों की तरफ से भी दोही उमेदवार होने से वे भी बिना प्रतिस्पर्धी के चुने गये हैं। सक्रिय और संस्था-प्रतिनिधि सभ्यों की तरफ से ६ स्थानों के लिये ८ उमेदवार और सामान्य सभ्यों की तरफ से १ स्थानके लिये ३ उमेदवार खड़े हुए थे।

हमारे पास आये हुए मतपत्रकों के आधार पर नया व्यवस्थापक मंडल निम्न सभ्यों का चुना हुआ सूचित करते हैं।

आजीवन सभ्यों के विभाग की तरफ से

१ श्री. सरलादेवी साराभाई, अहमदाबाद
२ ,, बाब्रीब्हेन मुलजी, बंबई

सहायक सभ्यों के विभाग की तरफ से

३ सौ. कुसुमावती देशपांडे, नागपुर
४ श्री. जमुभाई दाणी, बंबई

सक्रिय और संस्था प्रतिनिधि सभ्यों के विभाग की तरफ से

५ श्री. नानाभाई का. भट्ट, भावनगर
६ ,, ताराबेन मोडक, दादर
७ श्री. सरोजबेन योध, बंबई
८ ,, गंगुबाई पटवर्धन, बडौदा
९ ,, हरप्रसाद भट्ट, अहमदाबाद
१० ,, विष्णुप्रसाद मजमुदार, बडौदा

सामान्य सभ्यों के विभाग की तरफ से

११ श्री. प्रभुदास धोळकीया, मदनवाडी (कच्छ)

नूतन बाल शिक्षणसंघ कार्यालय, दादर
ता. १३-४-४४

सरोजबेन योध अने ताराबेन मोडक
मंत्री

...स्वावलम्बी बनाता है; और ऊपर से लादा हुआ अनुशासन मनुष्य को परतंत्र, पराधीन और गुलाम बनाता है।

—बं०

इंदोर, बीकानेर, जोधपुर, देवास, बड़वानी, बम्बई, मध्यप्रान्त-बरार, पंजाब, बिहार, यू० पी० और उडीसा की सरकारों के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिये स्वीकृत।

आद्य संपादक:
स्व० गिजुभाई

वार्षिक मूल्य:
देश में एक रुपया
विदेश में दो शिलिंग

हिन्दी शिक्षण-पत्रिका

संपादक:
श्री० ताराबहन मोड़क.

सहसंपादक:
श्री० बन्सीधर
श्री० काशीनाथ त्रिवेदी

(माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र)

वर्ष १० वाँ] मई १९४४, वैशाख २००० [अंक ८ वाँ

आत्म-अनुशासन अर्थात् अंदर से पैदा हुए अनुशासन और ऊपर से लादे हुए अनुशासन में जमीन-आस्मान का फर्क होता है। आज्ञाओं और नियमों द्वारा ऊपर से लादा हुआ अनुशासन मनुष्य को दूसरों के इशारे पर कठपुतली की तरह नचाता है। उसकी इच्छा शक्ति और आत्मानियंत्रण की शक्ति को नष्ट करता है; उस के जीवन को नीरस, निस्तेज और सत्वहीन बनाता है। इसके विपरीत आत्म-अनुशासन मनुष्य की समस्त शक्तियों का विकास कर उसके जीवन को सफल बनाता है। एक शब्द में आत्म-अनुशासन मनुष्य को स्वतंत्र, स्वाधीन व स्वावलंबी बनाता है; और ऊपर से लादा हुआ अनुशासन मनुष्य को परतंत्र, पराधीन और गुलाम बनाता है।

—बं०

बालशिक्षण-एक योग।

[भगिनी समाज के टी. एन्. मालवी, बाल-मंदिर के वार्षिकोत्सव के अवसर पर सभानेत्री पद से श्रीमती सरलादेवी अम्बालाल साराभाईने एक महत्त्वपूर्ण और पथ-प्रदर्शक व्याख्यान दिया था। इस व्याख्यान में गृह और शाला के सामंजस्य पर जो जोर दिया गया है और उसे एक प्रकार के 'योग' के रूप में वर्णन किया गया है, वह विशेष ध्यान खींचनेवाली बात है। भगिनी समाज के कार्यकर्त्ताओं द्वारा प्राप्त प्रस्तुत व्याख्यान "प्रबुद्धजैन" में प्रकट हुआ है। यह "हिन्दी शिक्षण-पत्रिका" के पाठकों के लिये उपयोगी होगा, ऐसा सोचकर इसे दोनों का आभार मानते हुए यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।—सं.]

संसार के विचारकों की समक्ष में यह बात आती जा रही है कि राष्ट्र या विश्व का नव निर्माण आर्थिक अथवा राजकीय सुधारों के बल पर नहीं; वरन् व्यक्तियों के यथायोग्य शिक्षण-द्वारा ही सिद्ध हो सकता है और यह बात सहज में समझ में आने जैसी है कि व्यक्तियों की शिक्षा का पूर्ण आधार बालकों के शिक्षण पर निर्भर है। इस प्रकार होनेवाला नूतन निर्माण आश्चर्य में डालनेवाली शीघ्रता से कदापि नहीं होता; फिर भी बुनियादी होने के कारण उसकी स्थिरता और दृढता के विषय में दो मत नहीं हो सकते। मलिन स्पर्धा के दूषित वातावरण से दूर रहते हुए संयम के साथ स्व-निर्मित स्वतंत्रता और स्वाश्रय की परिस्थिति में पालन-पोषण किये गये बालक, जब अपने अन्दर रहनेवाले उत्तम तत्त्वों को प्रकट करने में समर्थ होंगें; तभी समाज सच्ची प्रगति कर सकेगा।

हमारा यह स्पष्ट मत है कि ये सब संभावनाएं बाल-शिक्षण की नवीन दृष्टि में सन्निहित हैं, परन्तु इस के साथ यह भी स्पष्ट है कि केवल बालमंदिरों के स्थापन करने और साधनों के एकत्र करने से ये संभावनाएं स्वयमेव सिद्ध नहीं हो जातीं। बाह्य साधनोंको इकट्ठा करने से हम सफल—मनोरथ नहीं हो जाते। शिक्षक और संचालक यह मान बैठें कि बाह्य साधनों की सजावट से नव—शिक्षण का चक्र सुचारु—रूप से चल गया और माता—पिता यह समझने लगें कि अपने बालकों को किसी बालमंदिर में भेजकर हम अपने कर्तव्य से मुक्त हो गये, तो हमारी समझ में उन की यह विचार—धारा बिलकुल भ्रम—पूर्ण है। कारण, जड़ साधनों में ऐसी कोई शक्ति नहीं जिससे गंभीर मंथन के बिना नूतन शिक्षण का 'नवनीत' अपने आप प्रकट हो जाय। साधनों का यदि उचित उपयोग न किया जाय तो इस बात का पूर्ण भय है कि वे साधन अनुचित मार्ग पर ले जानेवाले सिद्ध होंगें। यदि हम सदा सजग न रहें तो साधनों में एक प्रकार की ऐसी मोहकता विद्यमान है कि जिससे हमें मिथ्या—सफलता के अनुभव का नशा होना स्वाभाविक है। उस से बचने और अपने आदर्शों की सिद्धि के लिये

चिन्तन, वैज्ञानिक प्रयोग, और शिक्षकों तथा माता-पिता के सच्चे एवं गंभीरतम सहयोग की नितांत आवश्यकता है। हमारा साध्य जितना उच्च और क्रांतिकारी है, उसे प्राप्त करने के साधन भी उतने ही कठिन और एक प्रकार के नवीन तप की अपेक्षा रखनेवाले होते हैं। नूतन बालशिक्षण की दृष्टि से जो उचित साधन माने जाते हैं, ये किसी सामान्य अर्थ में समझने जैसे नहीं। उन साधनों का आयोजन, उनका वैज्ञानिक उपयोग और बालकों का अधिकार-भेद आदि सब के पीछे एक क्रांतिकारी दृष्टि विद्यमान है और इस क्रांतिकारी दृष्टि के रहस्य को प्राप्त करने के लिये जिस शक्ति की आवश्यकता है वह 'तप' शब्द से प्रकट होती है।

बालक बालमंदिर में कितनी देर रह सकते हैं? प्रतिदिन के पाँच-छ घंटे निकाल कर शेष समय वे अपने घर ही व्यतीत करते हैं। इस प्रकार वे बालमंदिर की अपेक्षा अपने माता-पिता और परिवार के अन्य व्यक्तियों के संपर्क में ही विशेष रहते हैं। बालक अथवा अन्य, कोई किसी की भी चेतना के विभाग नहीं हो सकते कि जिससे बालक बालमंदिर में या अन्य शाला में केवल शिक्षा प्राप्त करे और शाला के बाहर, घर या मुहल्ले में वह निष्क्रिय बैठा रहे अथवा आराम करे। अमुक समय घंटी के बजने पर शिक्षण आरंभ हो और फिर घंटी के बजते ही शिक्षण-कार्य पूर्ण हो जाय, इस ढंग से बालक की अथवा अन्य किसी की भी मानस-रचना नहीं हुई। इस प्रकार चेतना और शिक्षा के विभाग नहीं किये जा सकते। शिक्षा तो अविच्छिन्न रूप से सतत चलनेवाली क्रिया है। अतः चेतना और शिक्षा समग्र रूप से प्राप्त की जानेवाली हैं। इससे हमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि घर और बालमंदिर ही नहीं; वरन् मुहल्ले और मार्ग में आते-जाते मनुष्य, दृष्टि में आनेवाले सब दृश्य, हमारे विनोद-साधन, बालक की आँखों के आगे आनेवाले सभी मानव-व्यवहार आदि बालशिक्षण की दृष्टि से एक दूसरे के पूरक होकर रहने चाहिएं। मार्ग में दिखाई देनेवाले दृश्य, रास्ता चलते मनुष्यों की बातचीत, क्या ये सब बालकों के कोमल मन पर अपना प्रभाव नहीं डालती होंगी? वास्तव में हमारा समाज सुशिक्षित और सर्वदा जागरूक हो तो प्रकटरूप से जाने एक भी ऐसी घटना या दृश्य न होना चाहिए-एक भी ऐसा शब्द मुँह से न उच्चारण करना चाहिए कि जिसका दूसरों पर-विशेष कर बालकों पर बुरा असर हो। परन्तु इस समय तो ऐसे शुभ दिन की केवल कल्पना की जासकती है। कारण, मनुष्यों के बाह्य व्यवहार को इस दृष्टि से नियंत्रित करने की हम में शक्ति नहीं। यह तो तभी हो सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को समझने वाला हो। इसलिये अभी तो अपने घरों और बालमंदिरों के वातावरण में नियमन लाकर ही हमें सन्तोष मानना होगा। यह नियमन, गृह और बालमंदिर के बीच दृष्टि और आचार विषयक एकरूपता तथा सामंजस्य

स्थापित करके ही लाया जासकता है। एक ही स्वर-ताल के साथ घर और बालमंदिर का जीवन संगीत चलना चाहिए। गृह और शाला के इस सुमेल को 'योग' का गौरव पूर्ण नाम देना उचित है। इस विषय में जरा भी शंका नहीं रहती कि हिन्दू तत्त्वज्ञान के प्रसिद्ध 'योग' में इस योग को सम्मिलित करके उसकी साधना की जाय तो व्यष्टि और समष्टि (व्यक्ति और समाज) के संयोग से जीवन की सार्थकता सिद्ध की जासकती है।

इस बाल-मंदिर के शिक्षक माता पिता के साथ सम्पर्क बढ़ानेका प्रयत्न करते हैं, यह बडी ही प्रशंसनीय बात है। इससे शिक्षक और मातापिता बालककी सर्व प्रवृत्तियों से परिचित रहते हैं और इस प्रकार बालकको पूर्णतया समझ सकते हैं। विकासको प्राप्त होनेवाले बाल-मनका उचित दिशामें विकास होता रहे, इसके लिये उसके मनका ज्ञान, सूक्ष्म अवलोकन और अपार समभावके साथ बाल-मन के लिये सम्मान होना भी आवश्यक है। इस विषय में शिक्षक तो अधिकांश शास्त्र-संपन्न और पद्धति से भी परिचित होते हैं; परन्तु सामान्यतः मातापिता अपने दैनिक व्यवसायों में उलझे रहनेके कारण और यथार्थ में बाल-शिक्षण क्या है, इस प्रश्नकी उपेक्षा के कारण उतने तैयार नहीं होते। पहले तो इस उपेक्षा को दूर करना है। अब मातापिता को भी यह समझना है कि बाल-शिक्षण केवल शिक्षकों का ही नहीं बरन् हमारा भी काम है और अपने घरोंमें भी हमें इसे अपने हाथ में लेना चाहिये। इस विचार के रहते हुए भी बालकोंको बालमंदिर में भेजना तो होगा ही। इस शिक्षा के उत्तम परिणाम के लिये मातापिताको बडी लगन और सूक्ष्मतासे इसका अध्यापन तथा अवलोकन करना अनिवार्य होगा। केवल इस बातके स्वीकार करने से ही हमारा निर्धारित उद्देश सिद्ध नहीं होगा। इस पद्धति के साधनों अभ्यास से तथा शिक्षकों के साथ संपर्क सिद्ध करने से भी हमारा कर्त्तव्य पूर्ण नहीं होता। नूतन शिक्षण की भावना और कल्पना में असाधारण सर्जन-शक्ति विद्यमान है और यह सर्जन केवल बालकोंका ही नहीं; वरन् साथ-साथ मातापिताका भी सर्जन करता है। दूसरे ढंग से कहें तो घर और बालमंदिर का सच्ची रीति से सुयोग सिद्ध करने के लिये मातापिता को पहले अपने आपको शिक्षित करना पडेगा। नूतन बाल-शिक्षणके मूल में घर और बालमंदिरका ऐसा सुयोग मुख्य स्थान रखता है। हम बालकके पास से जिस स्वयंस्फूर्ति, आत्मस्वातंत्र्य, स्वाश्रय और आत्मसंयमकी अपेक्षा रखते हैं; उसे पहले हमें अपने जीवनमें प्रकट करनेका प्रयत्न करना होगा। बालककी दृष्टिमें घर और बालमंदिरमें भेद नहीं। उसके बाल-मन पर व्यापक रीतिसे आघात-प्रत्याघात हुआ ही करता है। इसलिये हमारे गृहजीवनमें आज्ञाधीनता, पराश्रय, नियमहीनता और दंभ प्रचलित होंगे, तो नूतन बाल-शिक्षणका प्रयोग बिलकुल अपूर्ण ही रहेगा और उसका

परिणाम भी शून्य रहना अनिवार्य है। हमारे विचार, वाणी और व्यवहार में संयमका अभाव हो; परिवार पड़ोसी और मित्रोंके बीच होनेवाले संबंधोंमें आडंबर और कृत्रिमता हो; हम असहिष्णु हों; नौकर चाकरों पर प्रतिदिन आधार रखनेवाले हों; उन पर हुक्म चलानेवाले हों; तो हम कैसे आशा रख सकते हैं कि बालमंदिरमें ही जाकर हमारे बालकों में स्वयंस्फूर्ति, स्वाश्रय, नियमन और स्वभाव-सरलता आ जायगी? छोटे बालक भी बड़े चतुर (Shrewd) होते हैं। घर और शाला में प्रचलित झूठ और दंभको वे सहज में समझ जाते हैं। इस लिये हमारी समझ में आ जाना चाहिए कि बाह्य रूपसे हम बालमंदिर के शिक्षकों से वर्ष में दो-चार बार मिलें और बालकों के विषय में जानकारी प्राप्त करें, तो केवल इतने से हमारा काम सिद्ध होना संभव नहीं। नूतन बालशिक्षण की संजीवनी का संचार पहले माता-पिता और परिवार के जीवन में होना उचित है।

दूसरी ओर बालमंदिरों को भी सदा सजग रहना चाहिए। शिक्षकों में बाल-मन के अध्ययन की तत्परता, सूक्ष्म अवलोकन, इस पद्धति में रहने वाली अपार शक्ति के चिन्तन, मनन और कर्तव्यनिष्ठा की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। यदि ऐसा न हो तो स्वयंस्फूर्ति के नाम पर शिक्षकों में प्रमाद एवं निष्क्रियता और बालकों में स्वतंत्रता के आवरण में स्वच्छन्दता के परिपुष्ट होने की पूर्ण संभावना रहती है। इस पद्धति में अनेक भय-स्थान हैं। इन्द्रिय-शिक्षण, इन्द्रियों को विकसित करके प्रतारणा के लिये नहीं—जगत को ठगने के लिये नहीं; वरन् उन्हें तीव्रतम बनाकर उस तीव्रता के द्वारा ही इन्द्रिय-संयम की सिद्धि के लिये है। स्वतंत्रता का वातावरण उत्पन्न करना इसलिये आवश्यक है कि बालक में अनुशासन जड़रूप और मंत्रवत् न होकर स्वयंस्फूर्ति-संपन्न हो। व्यक्तित्व का विकास करना है, तो वह व्यक्ति को पृथक् रखने के लिये नहीं; वरन इसलिये कि जैसे एक सुन्दर चित्र में रहनेवाले विविधरंग एक दूसरे में मिलकर—एकत्व को पाकर, अभूतपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार इस व्यक्ति को भी समष्टि में मिलकर एकत्व का साक्षात्कार करना होता है। **'आत्मशासन'** इस पद्धति की मुख्य पुकार है। अपूर्ण अभ्यास के कारण या परिशीलन की न्यूनता अथवा उदासीनता से इस मुख्य प्रकार का विस्मरण हो जाय, अथवा बालक की चाहे जैसी अनियंत्रित एवं अव्यवस्थित क्रिया को सृजनात्मक कार्य का बड़ा नाम देकर संतोष मान लिया जाय तो यह नवीन योग अपूर्ण रह जाता है।

एक और भयस्थान है, उस के विषय में भी मातापिता और शिक्षक—सब को अत्यन्त सावधान रहना अभीष्ट है। संगीत, वाद्य, नृत्य ये छोटे बालकों को स्वभाव-प्रिय हैं। इन के द्वारा वे अपनी सर्जनात्मक शक्तिका परिचय पाते हैं। ये ललित कलाएँ, जो आज

तक समाज में और शिक्षण में बहिष्कृत मानी जाती थीं, उन्हें अपने बालशिक्षण में सम्मान–पूर्ण स्थान देकर बालमंदिरोंने बालजीवन में उल्लास और स्फूर्ति उत्पन्न की है। इस के लिये हम उन के ऋणी हैं; परन्तु फिर भी जनता और विशेष कर बालकों के माता-पिताओं को आकर्षित करने के लिये सत्रांत में प्रसन्न करनेवाले मनोरंजक कार्यक्रमों और प्रदर्शनों की योजना के कहीं–कहीं जो कृत्रिम प्रयास होते हैं, उन्हें देखकर हमें सजग होना उचित है। वर्ष भर में होनेवाले संपूर्ण कार्य के फल स्वरूप ऐसे कार्यक्रम यदि स्वाभाविक रीति से उपस्थित किये जायँ तो सर्वथा उचित हैं; परन्तु दृष्टि को चकाचौंध करनेवाले कृत्रिम प्रयासों–द्वारा बाल–सर्जन के विकास का परिचय देने की वृत्ति शिक्षकों में हो और ऐसे परिचय द्वारा ही माता पिता सन्तोष मानने के प्रलोभन में पड़ें तो बालकों की शक्ति को अपार हानि पहुँचना संभव है। बालकों की सौम्य कृतियों द्वारा उनकी सर्जन शक्ति का परिचय प्राप्त करना–कराना बड़ा कठिन है। सब रसों के अतिरिक्त शांतरस में अवगाहन करने के लिये जिस प्रकार विशेष योग्यता अपेक्षित होती है, उसी तरह बालकों कि समस्त प्रवृत्तियों में से शांत और सौम्य प्रवृत्तियों में उनकी प्रकृत शक्ति को पहचानना बड़ा कठिन कार्य है। इसलिये शिक्षकों और संचालकों को इस प्रकार की केवल कृत्रिम मनोरंजक कृतियों से सफलता अनुभव करने का सरल मार्ग अपनाना उचित नहीं। इसके साथ ही मातापिता भी केवल कृत्रिम अवसरों पर बालकों की शक्तियों के प्रकट करनेवाले प्रदर्शनों से और उनके द्वारा प्राप्त प्रसन्नता से फूले न समायेंगे और यह मान बैठेंगे कि उनकी शिक्षा उचित दिशा में हो रही है, तो हम अपने प्रिय बालकों का एक स्थायी अहित कर बैठेंगे। ऐसा होने से उनकी सब शक्तियाँ कुंठित हो जायेंगी और स्वभाव में विकृति आ जायगी। स्तुति का उपभोग कठिन है। कृपया मेरे कथन का कोई और अर्थ न लगायें। मेरा अभिप्राय तो आपके समक्ष होने-वाले भयस्थानों का सामान्य निर्देश करना मात्र है। हममें से बहुत से कदाचित् यह मानते होंगे कि यह नूतन शिक्षण तो केवल छोटे बालकों के लिये है। हाँ, इसे हम स्वीकार करते हैं कि ये प्रयोग अभी तक बाल-शिक्षण क्षेत्र में ही हो रहे हैं; फिर भी विचार करने पर जान पडेगा कि यह तो जीवन की एक व्यापक दृष्टि है। इस जीवन–दृष्टि में आयु, देश या जाति की सीमित मर्यादा नहीं। अपने सनातन स्वभाव--धर्म के रूप में यह प्रत्येक युगमें और प्रत्येक पद्धति में रहनी चाहिए। यह दृष्टि बालमंदिरों में देखे जाने-वाले स्थूल साधनों तक ही सीमित नहीं; वरन् शिक्षा की सर्वोच्च और सम्मान्य श्रेणियों के अंतर्गत भी रहनी चाहिए। उसलिये हमारी साग्रह सूचना और विनम्र प्रार्थना है कि केवल प्राथमिक शिक्षा देनेवाले 'शिक्षक ही नहीं; बल्कि माध्यमिक और उच्च शिक्षण में संलग्न शिक्षक और हमारे विद्यापीठों के सभी

शिक्षणकार बालमंदिरों की प्रवृत्तियों का गंभीर परिचय प्राप्त करें। इस नव-शिक्षण के दृष्टि-कोण और उसके रहस्य को पहचान कर इस पर विचार करें कि उसे व्यापकरूप से सभी श्रेणियों में किस प्रकार दाखिल किया जा सकता है और शिक्षण को किसी एक विभाग में न देखकर उसे एक संलग्न सूत्रके रूप में सर्वत्र देखने का प्रयत्न करें।

वृक्षकी शाखा-प्रशाखाओं और पल्लव-पुष्पों को जैसे एक ही मूल-द्वारा रस मिलता है; उसी प्रकार जब देशकी सर्वप्रकारकी शिक्षण-संस्थाएं मानव-जीवन और जीवन के परम लक्ष्यको एक व्यापक रूपमें देखकर शिक्षा की एक सर्व संग्रही योजना का निर्माण करेंगी, तो जीवनकी विविध शक्तियों और रुचियोंको रस तथा पोषण मिलेगा। इसका फल यह होगा कि जीवन अधिकांश में सरल तथा सुखी बन जायगा। ऐसा होने पर ही समाजका सच्चा पुनर्निर्माण प्रारंभ हुआ माना जायेगा।

बालशिक्षण की दृष्टि को इससे भी अधिक व्यापक बनाने की कल्पना भी है। यह क्यों अनिवार्य हो कि शिक्षा का विचार शाला और महाशाला में ही सीमित रहे? शिक्षा तो मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक एक सतत प्रवाहित होनेवाला प्रवाह है। आजकल शिक्षा में उद्योग-तत्व (bias) को स्थान देने का प्रयत्न हो रहा है। परन्तु हमारा यह कहना है कि हम समाज का ऐसा पुनर्निर्माण क्यों न कर सकें कि जिसमें शिक्षा को उद्योग तत्व-प्रधान बनाने के बदले प्रत्येक उद्योग को ही शिक्षा का प्रमुख साधन बना सकें। द्रव्यो-पार्जन करने और जीवन-यापन के विविध उपायों में जो अनुभव होता है उसके द्वारा क्या मनुष्य को कुछ कम शिक्षा मिलती है? यदि हाँ, तो फिर हम प्रत्येक मनुष्य की शक्ति और वृत्ति के अनुरूप उद्योगों की ऐसी योजना कर सकते हैं और साथ-साथ संपूर्ण मानस-व्यवहार को भी समभाव-पूर्ण बना सकते हैं कि जिस से प्रत्येक मनुष्य अपने उद्योग-धंधे द्वारा भी शिक्षा प्राप्त करता चले और उस में जो शक्ति है वह प्रकट होती जाय। आज की परिस्थिति में तो अपनी शक्ति और वृत्ति के अनुरूप कदाचित् ही किसी को उद्योग-धधा या काम मिलता हो। इसी लिये प्रत्येक व्यक्ति किसी दूसरे की आज्ञाओं को मूक भाव से, दास के समान, यंत्रवत् पालन करता चलता है और ऐसे नीरस जड़ व्यापार में मनुष्य का मनुष्यत्व नष्ट-प्राय होता जाता है। उसे न तो संतोष मिलता है और न मानसिक प्रफुल्लता ही प्राप्त होती है। इस अस्थिर और निराधार जीवन की सार्थकता को सिद्ध करने के लिये शिक्षा को जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होनेवाली एक सतत प्रवृत्ति समझ कर जीवन के सब क्षेत्रों को शिक्षा के सफल साधन मानना चाहिए। हमारे समाज-निर्माताओं और मातापिताओं को ऐसी जीवन दृष्टि का विकास करना होगा।

वक्ता—**सरलादेवी साराभाई**
अनु० 'नूतन'

अंकगणित-शिक्षण

(९)

बालकों को छोटी-छोटी अर्थात् दस के अंदर की संख्याओं की जोड़ बाकी सिखाने में जिन चीज़ों की सहायता लेनी होती है और याद कराने में जो रीतियाँ काम में लाई जाती हैं, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उक्त रीतियों द्वारा अबतक छोटे-छोटे जोड़ और बाकी के प्रश्न बालकों को जल्दी-जल्दी मौखिक करने का अभ्यास हो गया होगा। ५ और ७ कितने होते हैं? इसका उत्तर १२ बालकको बिना गिने ही जल्दी से देना चाहिए। बार बार के पुनरावर्तन से, आपस में एक दूसरे से पूछते रहने से अथवा इस प्रकार के प्रश्नों को स्वयं गिन कर करते रहने से, यह अभ्यास बहुत जल्दी हो जाता है। पुरानी पद्धति की शालाओं में भी इस प्रकार के प्रश्न मौखिक कराने की पद्धति में, बालक स्वानुभव से वस्तु गिनकर जबाब ढूँढ निकालने की क्रिया के पुनरावर्तन द्वारा जो सिद्धि प्राप्त कर सकता है, वह पुरानी पद्धति में नहीं प्राप्त होती। उसमें तो बालक शिक्षक के कथन का ही पुनरावर्तन किया करते हैं। जैसे बालक पाँच और छ ग्यारह, छ और छ बारह, छ और सात तेरह इस प्रकार बोलना मात्र ही सीखे होते हैं। उनकी दृष्टि में पाँच और छ केवल शब्द या अंक ही होते हैं और ग्यारह भी एक अंक या शब्द ही होता है। इसके अतिरिक्त उनका और कोई महत्व नहीं होता।

ऊपर लिखे अनुसार छोटी संख्याओं की जोड़ बाकी का पूर्ण अभ्यास हो जाने पर और पूर्वकथित ढंग से हजार तक की संख्याओं का समझपूर्वक लिखना-पढ़ना आ जाने पर यदि बालकों को हजार तक की जोड़बाकी सिखाई जायगी तो यह काम बड़ा सरल होगा। संख्या-लेखन के साधनों-द्वारा यह बात बहुत सरलता से सिखाई जा सकती है।

पहले, बालकों को दो संख्याएँ लाने के लिए कहना चाहिए। यथा-चार हजार तीन सौ बारह और तीन हजार पाँच सौ अड़सठ।

यदि सिखनेवाला एक ही बालक हो तो इन दोनों संख्याओं को प्रकट करनेवाले साधनों को वह अलग-अलग 'ट्रे' में रख कर लाये और यदि दो बालक हों तो वे दोनों संख्याओं को स्वतंत्र रूप से अपनी-अपनी 'ट्रे' मे रखकर लायें। इन दोनों संख्याओं का योग, साधनों को इकट्ठा करके और उन्हें गिनकर, बालक स्वयं ही प्राप्त कर सकते हैं। जैसे एक बालक के पास चार हजार के चार घन हैं, यदि उनमें दूसरे बालक के तीन हजार के तीन घन जोड़ दिये जायँ तो सात घन अर्थात् सात हजार हो जायँगे।

इस बातको बालक तुरंत समझ सकते हैं—अपनी आँखों से देख सकते हैं। इसके बाद वे यह भी जान सकेंगे कि पहले बालक के पास तीन सौ के जो तीन वर्ग हैं, उनमें दूसरे बालक के पाँच सौ के पाँच वर्ग जोड़ने से आठ वर्ग अर्थात् आठ सौ हो जायँगे। इसी प्रकार एक दहाई की एक माला और छ दहाई की छ माला मिलकर सात माला अर्थात् सात दहाई होगी और पहले बच्चे के दो खुले मोती तथा दूसरे के सात मोती मिलकर नौ होंगे, इसे भी बालक बड़ी सरलता से जान सकते हैं।

इस प्रकार संख्याओं को एकत्र करने से सात घन अर्थात् सात हजार, आठ वर्ग अर्थात् आठ सौ, सात मालाओं की सात दहाई और नौ खुले मोती अर्थात् उनासी होते हैं; इस बात को बालक ट्रे में रक्खे हुए साधनों द्वारा प्रत्यक्ष देख सकते हैं और इस ढंग से वे जोड़ के चाहे जितने प्रश्न अपने आप ही कर सकते हैं। बच्चा अकेला हो अथवा दो साथी हों, तो भी इस क्रिया को बिना भूल किये अपने आप कर सकते हैं और पुनरावर्तनों द्वारा वेग बढ़ा सकते हैं। बिना हासिलवाली संख्याओं के जोड़ के बहुत से अभ्यास कक्षा में बोर्ड पर लिख कर तैयार रक्खे जा सकते हैं अथवा खुले कागजों पर लिख कर बच्चों को दिये जा सकते हैं। मोटे कागज पर ऐसे बहुत से उदाहरण लिख कर बच्चों के लिये "जोड़ की पोथी" नामवाली स्वतंत्र पुस्तक भी बनाई जा सकती है। यह ढंग बालकों को बड़ा रुचिकर प्रतीत होगा।

आरंभ में कुछ समय तक जोड़ करने के लिये बालक घन, वर्ग आदि साधनों के द्वारा अनुभव प्राप्त करें। इस के बाद उन्हें सादे बोर्ड या नोटबुक का उपयोग बताया जा सकता है।

सामने बताये ढंग से खाने खिंचे हुए कागज तैयार रक्खे जायँ तो बच्चों के लिये जोड़-बाकी का काम सरल हो जाता है।

हजार.	सौ.	दहाई.	खुले.

बच्चों को बताया जा सकता है कि ऐसे खानोंवाले कागजों पर वे बोर्ड पर से या जोड़ की पोथी में से नीचे लिखे ढंग पर संख्याओं की नकल करलें और फिर उनके नीचे रेखा खींच कर जोड़ का उत्तर लिखें। आरंभ में ऐसे खाने खींचने का यह कारण है कि जब बालक साधनों को छोड़कर केवल संख्याओं का उपयोग करने लगें, तो वे इस बात को

	ह.	सौ.	द.	खुले
+	४	२	३	५
	२	३	४	१

हमेशा ध्यान में रक्खें कि 'हम केवल अंक नहीं लिख रहे, बल्कि प्रत्येक खाने के ऊपर उसका नाम लिखा होने से चार हजार में दो हजार, दो सौ में तीन सौ आदि जोड़ रहे हैं।' इस के अतिरिक्त अभी तक बालकोंने घन वर्ग आदि साधनों का उपयोग किया है; अतः जोड़ करते समय छ हजार कहते ही उन के मन में छ घनों का ध्यान आना अनिवार्य है। इस रीति से सामने साधन न होने पर भी मूर्त से अमूर्त की ओर जाने की तैयारी बड़ी सरल रीति से होती रहती है। जोड़ के इन अभ्यासों को करते समय बच्चे, "चार हेजार और दो हजार छ हजार, दो सौ और तीन सौ पाँचसौ" इस प्रकार बोलते रहेंगे और खानों में उत्तर की संख्या ठीक लिखकर कहेंगे कि छ हजार पाँचसौ छिहत्तर उत्तर हुआ। यहाँ यह भी बता देना अनुचित न होगा कि जोड़ करते समय संख्या के एक ओर जोड़ का चिन्ह + लगा देना चाहिए। इस से बालकों को यह ध्यान बना रहेगा कि हमें कौन-सी क्रिया करनी है।

इस प्रकारके अधिकाधिक पुनरावर्तन करनेसे बहुत लंबे अभ्यास के फलस्वरूप बालक ५२६३ जैसी संख्याको खानोंकी सहायता के बिना तुरंतही पाँच हजार दो सौ तेरसठ पढ देंगे। परन्तु बिना भूल किये कार्य की सफलता और वेग बढ़ानेके लिये उक्त प्रकारके खानोंवाले कागज एक वर्ष पर्यन्त बालकोंको दिये जाँय तो बहुत अच्छा हो। जोड़, बाकी, गुणा और भागकी इस मूलभूत क्रिया के सिद्ध होने तक ऐसे खानोंवाले कागजोंका उपयोग करवाने की हमारी अनुभव-सिद्ध सम्मति है।

जब बालकोंको साधनोंकी सहायता से और फिर ऊपर बताये खानोंवाले कागजों पर जोड के प्रश्न करनेका पक्का अभ्यास हो जाय, तब उन्हें बाकी के प्रश्न सिखाये जासकते हैं। बाकीका काम भी जोडके समान ही सरल है अथवा संभव है कि उससे भी सरल हो जाय। इस काम में बालकोंको बताया और समझाया जा सकता है कि—बाकी का केवल यही अभिप्राय है कि एक बालकके पास एक संख्या है। दूसरा बालक उससे जितनी संख्या माँगता है उतनी उसे दे दी जाय अथवा पहली संख्या में से कम कर ली जाय।

उदाहरण के लिये एक बालक से ६७५४ की संख्या लाने को कहा जाय और दूसरे बालक को ३६४२ की संख्यावाला कार्ड देकर उतनी ही संख्या पहले बालक से माँगने को कहा जाय। 'तीन हजार लाओ' दूसरे बालक के इस प्रकार माँगने पर पहला बालक अपने पास के छ घनो में से तीन घन उसे दे दे, छ सौ माँगने पर छवर्ग दे दे, चार दहाई माँगने पर चार माला दे दे और इसी प्रकार दो खुले मोती दे दे। इस तरह देते समय देनेवाले बालक से बीच-बीच में पूछते रहना चाहिए कि "तुम्हारे पास अब क्या शेष रहा? बालक अपने पास के शेष बचे घन आदि को गिनकर उत्तर देगा कि "मेरे पास तीन हजार एक सौ बारह शेष रहे।"

इस प्रकार की बाकी के अभ्यास बालकों से बारबार कराने चाहिए। जोड़ की तरह इसमें भी बोर्ड पर उदाहरण लिखकर रक्खे जासकते हैं और बालकों से कहा जासकता है कि वे दो-दो की जोड़ी बनाकर अथवा अलग अलग इन प्रश्नों को अपने आप करें। इसके बाद बाकी के दस दस या कम ज्यादा उदाहरण लिखे हुए खुले पृष्ठ बच्चों को दिये जासकते हैं।

जोड़ की तरह से ही बाकी में साधनों के बारबार के व्यवहार से जब बालक स्वयं लिखने लगें तो उन्हें हजार, सौ, दहाई और खुले लिखकर खाने बने हुए कागज देने चाहिए। बच्चों को ऐसी आदत डाल देनी चाहिए कि वे इन कागजों पर बाकी के अभ्यास करते समय भी "छ हजार में से तीन हजार गये तीन हजार बचे" कहें।

हासिलवाले जोड़

इन्हें सिखाते समय आरंभ में ऐसे दो अंक लेने चाहिए जिनको जोड़ने में हासिल लगता हो। उदाहरण के लिये ४७ और २८ दो संख्या लीं और इन्हें जोड़ने को कहा गया। अब बालक एक ट्रे में दस की चार मालाएं तथा सात खुले मोती लायेगा और दूसरी में दस की दो माला तथा आठ खुले मोती लायेगा। दोनों ट्रे के साधनों को एकत्र करने पर दस की छ मालाएँ होंगी और खुले मोती दससे अधिक अर्थात् पन्द्रह होंगे। इस समय बालक से कहना चाहिए कि खुले मोती अधिक हैं। इनमें से दस की एक माला बना लें तो पाँच मोती शेष रहेंगे और मालाओं में एक माला बढ़ जायगी। इसे हासिल कहते हैं। इन संख्याओं का योग दस की सात माला और पाँच खुले मोती अर्थात् ७५ होगा।

इसी प्रकार दूसरे उदाहरणमें खुले छ में
+ ४७६
  ३५८
आठ खुले जोडने पर उनमें से दसकी एक माला बनाई जा सकती है और चार खुले रहेंगे। दसकी मालाओंका योग १२ दस होगा, उसमें हासिलकी दसवाली एक माला जोडनेसे दसकी तेरह माला होंगी। इनमेंसे दसकी दस मालाओं का एक वर्ग बनेगा और दसवाली तीन माला शेष रहेंगी और फिर चार सौ में तीन सौ तथा हासिलवाले एक सौ जोडने पर आठ सौ हो जायँगे। इस तरह कुल उत्तर आठ सौ चौंतीस ८३४ होगा।

इस प्रकार छोटी संख्याओंमें हासिल जोडनेके अनेक पुनरावर्तनों से हासिलका अभ्यास होजाने पर दस सौ का एक हजार, दस हजारका एकदसहजार और दस-दस हजारका एक लाख हासिल होगा, यह बात बच्चोंको बडी सरलता से समझाई जासकती है।

ऐसे जोड बालकोंको आरंभ में हजार की संख्याओं तक के दिये जासकते हैं; परन्तु जोडके लिये संख्याएँ दो ही होनी चाहिएँ। इस प्रकारके योगका पूर्ण अभ्यास होजाने पर बालकोंको दोसे अधिक संख्याओं का योगफल भी कराया जासकता है।

दो अंकोंवाली जोडकी अधिक संख्याओं का योगकल्प निकालने में बच्चोंको बड़ा

आनन्द आता है। यदि कक्षामें बहुत बालक हों तो इस प्रकार किया जा सकता है कि प्रत्येक बालक एक-एक संख्या ले आये और फिर सबको एक जगह जोड़ा जाय।

सौ	दस	खुले
	४	६
	६	४
	३	८
	७	९
	२	७
२	५	४

इस प्रकार का खेल शुरू करने के लिये दस की मालाएं और खुले मोती अधिक संख्यामें होने चाहिएँ। जैसे यदि सात बालक सात संख्याएँ ले आयें तो लम्बी पंक्ति बन जाय और बच्चों की अधिक संख्याओं का योगफल निकालने की इच्छा तृप्त हो सके। जब बालक सब संख्याएं अलग अलग ले आयें तो उनमें से दस की मालाएँ अलग कर ली जायें और खुले मोती अलग। फिर एक बालक को खुले मोतियों के दस दस के समूह बनाने को कहा जाय। दूसरे से कहना चाहिये कि तुम दस की मालाओं को गिनो और बताओ, उनमें से कितने 'सौ' बने और कितनी माला बचीं। अब खुले मोतियों को गिनने पर उनमें से तीन दस हुए और चार खुले मोती रहे। खुले वाले खाने में चार रखकर हासिल वाले तीन को दस की मालाओं के योगफल में जोड़ा तो २५ दस हुए। इनमें से दो सौ के दो को अलग लेकर शेष बचे ५ दस को दस के खाने में और अंतमें दो सौ को सौ के खाने में लिखा। इस प्रकार कुल उत्तर दो सौ चोपन हुआ।

ऐसे लम्बे जोड़ के लिये आरंभ में मोती के साधनों का उपयोग करने के बाद उदाहरणों का बोर्ड या खानोंवाला कागज बालकों को दिया जासकता है। ऊपर के उदाहरण में मोतियों का योग ३४ हुआ। इसे पहले अलग लिखकर ४ के बीच में एक खड़ी रेखा ३।४ खींचकर बच्चों का ध्यान इस ओर खींचा जा सकता है कि ३ दस और ४ खुले इस प्रकार लिखकर बताये जा सकते हैं। फिर खुले ४ को खुले के खाने में लिखकर दस के तीन हासिल को दस वाले खाने में सब से ऊपर लिखने को कहना चाहिए। दस वाले खाने की संख्याओं का योग २५ है। इस में भी बीच में २ लिखने को कहना चाहिए। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कागज पर प्रश्न करना सिखाते समय इतने लंबे उदाहरण आरंभ में न लिये जायँ।

हासिल की बात सिखाने से पहले यदि शिक्षक बालकों को खुले बनाने का खेल खेलाये तो काम बहुत सरल हो सकता है। जैसे दस खुले मोती हों तो दसकी बँधी हुई माला लेना अथवा सौ का वर्ग हो तो दसकी दस मालाएँ लेना और फिर दसकी माला के दस मोती लेना आदि। खुले मोतियोंकी बँधी माला और मालाओंके खुले मोती लेने देनेका खेल बालक आपस में खेलें। इस प्रकारके खेलसे हासिल लेनेका काम बालकों के लिये बहुत सरल हो जाता है और वे हासिल का बुद्धि-पूर्वक उपयोग करना सीख जाते हैं।

अनु०—नूतन —ता०

मुद्रक व प्रकाशक : पु. आ. चित्रे, बी.ए., आत्माराम मुद्रणालय, रावपुरा बड़ौदा
कार्यालय : महाजन गली, ज्ञानमंदिर, रावपुरा, बड़ौदा ८-६-४४

इंदौर, बीकानेर, जोधपुर, देवास, बड़वानी, बंबई, मध्यप्रान्त–बरार, पंजाब, बिहार, यू०पी० और उड़ीसा की सरकारों के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत।

आद्य संपादक :
स्व० गिजुभाई
वार्षिक मूल्य :
देश में, एक रुपया
विदेश में, दो शिलिंग

शिक्षण–पत्रिका

संपादक :
श्री० ताराबहन मोडक
सहसंपादक :
श्री० बन्सीधर
श्री० काशिनाथ त्रिवेदी

(माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र)

वर्ष १० वाँ] जुलाई १९४४, आषाढ २००० [अंक १० वाँ

निर्बल को सभी दबाते-सताते और तंग करते हैं।
निर्बल को सभी डराते धमकाते और फटकारते हैं।
निर्बल को सभी का अन्याय-अत्याचार सहना पडता है।
निर्बल को सब के सामने सिर झुकाना पडता है।
निर्बल का कोई आदर सन्मान नहीं करता।
निर्बल का पग-पग पर पतन होता है।
निर्बल का जीवन नीरस और निराशा पूर्ण होता है।
निर्बल का शरीर और मन सदा अस्वस्थ रहता है।
निर्बल पराधीन, परतंत्र, कायर और भीरु होता है।
निर्बल होना भयंकर अपराध है, गुनाह है।
निर्बल का जीना न जीना बराबर है।
निर्बल जिंदा होते हुए भी मुर्दा के समान है।

—बं०

बड़े और बालक

घर में और सामान्यतः जन-समूह में या समाज में बड़े और बालकों के आचार-व्यवहार में एक-दूसरे के साथ विरोध और संघर्ष हमेशा उपस्थित हुआ ही करता है। बालकों और माँ-बापों के पारस्परिक व्यवहार-संबंधों के अनेक पहलू हैं। इस प्रश्न के विषय में कुछ दृष्टिकोण और विधान तो इस 'पत्रिका' को नियमित रूप से पढ़नेवालों को भी ज्ञात होंगे ही; परन्तु आज हम एक नये दृष्टिकोण से इस सवाल पर विचार करते हैं।

बालकों और बड़ों के बीच उत्पन्न होनेवाली अधिकांश उलझनों और विरोधों (Conflicts) का एक मुख्य और ज़रा आश्चर्य में डालनेवाला कारण तो यह है कि मानसिक तौर से हम बड़े ही 'बड़ा' होना पसन्द नहीं करते। एक अमेरिकन लेखक के शब्दों में कहें तो :—

"अर्थात् बालक को बालक ही बना रहना पसन्द नहीं। सामान्यतः उसे बड़ा होना—बढ़ना ही रुचिकर जान पड़ता है। हम बड़ों में बचपन की एक ऐसी भूख रह जाती है, जिस के कारण हम अपनी उम्र छिपाते हैं। इतिहास में—जैसा की आज हो रहा है—ऐसे किसी समय का उल्लेख नहीं मिलता की जब बड़ों ने इस कदर निर्लज्जतापूर्वक छोटा होने का दावा किया हो। हमारे वर्तमान समाज में स्त्रियाँ छोटी-छोटी बालिकाओं जैसे कपड़े पहनती हैं और उन्हीं के समान आचार-व्यवहार दिखाती हैं और पुरुष भी छोटे बालकों जैसा ही व्यवहार करते दीख पड़ते हैं। आज के स्त्री-पुरुषों की भावनाओं और प्रयत्नों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है, मानो मानवजीवन की आयु का माप २५ वर्ष से अधिक है ही नहीं। हम केवल अपने व्यक्तित्व के विषय में ही बचपन का दावा नहीं करते; वरन् हमारी सभी रुचिकर (फ़ैशन की) वस्तुओं में भी बचपन की तड़क-भड़क, कोमलता और छुटाई आगई है। घर के फ़र्नीचर से लेकर प्रायः सभी वस्तुओं में इसी का फ़ैशन चल पड़ा है।

सच बात तो यह है कि बालक को तो 'छोटे' और 'कोमल' का मोह नहीं होता; हाँ, बड़ों को इस में कल्पित आनंद की प्राप्ति अवश्य होती है। यह एक तरंगी मनोदशा है। ऐसा तरंगीपन बालकों में नहीं होता। बालक भी तरंगी अवश्य दीख पड़ते हैं; परन्तु कब, जब कि उन्हें अपनी आन्तरिक भूख-तृप्ति की वस्तुएँ नहीं मिलतीं।"

अमेरिकन सज्जन का उक्त कथन उनके देश के विषय में सत्य-विशेषरूप से सत्य होगा। परन्तु पश्चिम की हवा के साथ अन्य अनेक वस्तुओं की तरह यह बात भी हमारे यहाँ आने लगी है। बाहरी फ़र्नीचर या ऐसी सभी दिखावे की वस्तुओं के विषय में प्रकट रूप से

नहीं; तो भी मन में तो हमारे यहाँ भी 'छुटाई' और 'कोमलता' का विचार आ ही गया है।

सूक्ष्म रूप से विचार करें तो बालकों और बड़ों के प्रतिदिन के छोटे-छोटे संघर्ष और विरोध के मूल में यही बात जान पड़ेगी। हमें घूमने जाना है; सिनेमा देखने जाना है; दो-चार मित्रों को दावत देनी है; हमें अपने जीवन का रंगढंग कॉलेज के अनुत्तरदायी लडके-लड़कियों जैसा उच्छृंखल (बे-लगाम) रखना है अथवा रात्री-जागरण करना है! कहने का सारांश यह है कि हमें अपनी स्वच्छन्दगति से और वह भी, जैसे हम अभी छोटे बच्चे हों, इस प्रकार अनुत्तरदायी ढंग से जीवन व्यतीत करना है। बच्चों को यह बात असह्य प्रतीत होती है। इसी से उनके और हमारे संघर्ष की स्थायी जड़ जमती है। हमारी कल्पित बचपन की इन सब प्रवृत्तियों में न तो बच्चों का कोई स्थान है और न उनको इनमें आनंद ही आता है। उनके जीवन-प्रवाह की गति प्राकृतिक, सरल और मंद होती है। इसके विपरीत हमारे इन कल्पित बचपन के दिखावों की सूचक प्रवृत्तियों की गति बहुत ही कुटिल, शीघ्रगामी, छिछली और कृत्रिम होती है। हम चलने-फिरने, बोलने-बतलाने, हावभाव और चटक-मटक में ऐसी बेहूदगी दिखाते हैं; मानो दुध-मुहे बच्चे या अबोध शिशु हैं।

चाहे बालक मुँह से कुछ न कह सकते हों; परन्तु उन्हें इस प्रकार का व्यवहार कदापि सह्य नहीं होता। वे तो हम से धीर-गंभीर और श्रद्धा-जनक व्यवहार की आशा रखते हैं। उन के मन में यह विचार अवश्य उत्पन्न होता होगा कि पिताजी ऐसा व्यवहार क्यों करते हैं और माताजी अन्य व्यक्तियों के साथ यह पागलपन क्यों दिखाती हैं? इस का परिणाम यह होता है की बच्चों में बड़ों के प्रति एक प्रकार की श्रद्धा-पूर्ण भावना होने के बदले उनके मन में अज्ञात रूप से अश्रद्धा और तिरस्कार का भाव पैदा हो जाता है। मित्रों के आने पर जब माता-पिता का व्यवहार बदला जान पडता है और वे बच्चों को कोई काम करने को कहते हैं, लड़ते हैं या धमकाते हैं तो उन्हें ऐसा बोध होता है कि आज ये (माता-पिता) बदल क्यों गये? ऐसे विषम और दु-रंगे व्यवहार से बालक ऊब जाते हैं। उन्हें तो शांत, सरल, सच्चे और आडम्बर-हीन स्वाभाविक वातावरण की आवश्यकता है। 'बाहर के' लोगों के आते ही जिन माता-पिता की आवाज तक बदल जाय और जो अस्थिर जान पड़ें उनके साथ रहना बालकों को अच्छा नहीं लगता। उनके विकास की गति-विधि वातावरण की एकरूपता, समता और एक-प्रवाह चाहती है। मातापिता का अस्थिर और नित परिवर्तनशील व्यवहार बालकों में ऐसी ही मनोदशा उत्पन्न करता है। इस अस्थिरता और अस्वाभाविकता के कारण ही बालक भी

कृत्रिम और अस्थिर हो जाते हैं।

दूसरी बड़ी बात उत्तरदायित्व की है। प्रत्येक माता-पिता स्वीकार करते हैं कि हम अपने बालकों को चाहते हैं—उन से प्रेम करते हैं। बच्चों के प्रति उनके प्रेम में शंका भी नहीं हो सकती। यह तो जन्मजात प्रेरणा की बात हुई। परन्तु प्रेम करते समय प्रेम के सीधे प्रदर्शन या दिखावे की जरूरत नहीं। बच्चों को केवल वातावरण से ही मालूम होता रहना चाहिए कि "माता-पिता हमारे हैं।" यदि बालकों को ऐसा प्रतीत हो कि ये माता-पिता तो 'बाहरी' लोगों के लिये ही जीवित हैं—उन्हीं को हँस कर बुलाते हैं और हमें धक्का देते हैं—दूर-दूर रखते हैं, तो उन्हें बहुत ही बुरा लगेगा और बेहद दुःख होगा। बालकों को अकेला (नर्स, नौकर या अन्य किसी के भरोसे) छोड़कर खुद मित्र-मंडली में मनो-विनोद के लिये जानेवाले मातापिताओं को सच्चे अन्तःकरण से कितने बालक चाहते होंगे, यह एक विचारणीय प्रश्न है। हमारे इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि बालकों को सर्वत्र ही साथ लेजाया जाय। फिर भी यह सच है कि जो बालकों का होना चाहते हैं—उनसे प्रेम करते हैं, उन्हें अपने जीवन का निर्माण बच्चों के हिताहित को विचार कर ही करना अनिवार्य है। जीवन की ऐसी व्यवस्था करनेवाले माँ-बापों के प्रति ही बच्चों के मन में सत्य-सम्मान, आकर्षण या प्रेम पैदा होता है। अन्यथा बालक भी समझते हैं कि हम भी इन लोगों के पाले हुए तुच्छ जीवों के समान हैं जो इनकी इच्छा होने पर पास आते हैं और दुत्कारने पर दूर भाग जाते हैं।

माता-पिता की यह बहिर्मुखता बच्चों पर बहुत ही बुरा प्रभाव डालती है। बच्चे भी कृत्रिम प्रदर्शन की ओर अग्रसर हो जाते हैं। उन्हें भी अकेला रहना, स्थिरता से काम करना, व्यवस्था और शांति से बैठना अच्छा नहीं लगता। उनका मन चंचल और घुमक्कड हो जाता है। वे भी ढोंग बनाकर, काम में बाधक होकर, लड़ाई-झगड़ा करके, यदि और भी कुछ न हो तो अंत में रोगी होकर भी बड़ों का ध्यान अपनी ओर खींचने की प्रवृत्ति में लग जाते हैं। बालकों को जो प्रेम और सँभाल स्थिरता-पूर्वक स्वाभाविक रीति से प्रतिदिन के वातावरण में से मिलनी चाहिए, वह बहिर्मुख, ढोंगी और अभी स्वयं ही बालक हैं ऐसा मानने की उलझन में पडे हुए माँ-बापों द्वारा कभी नहीं मिल सकती। इसके फलस्वरूप बालक अज्ञात रूप से (unconsciously) ऐसी प्रवृत्तियों की ओर झुक जाते हैं कि जिनसे 'हाँ' या 'ना' कहने के लिये भी वे माँ-बाप का ध्यान अपनी तरफ खींच सकते हैं। ऐसे आन्तरिक संघर्ष या विरोध से उत्पन्न वातावरण में बालक और माँ-बाप दोनों को हानि पहुँचती है। इसके बाद तो जीवन के जिन आधारों पर बालकों को श्रद्धा से ही माँ-बाप की बात माननी चाहिए उनमें भी उनकी

ओर से 'हाँ-ना' होने लगती है। इसका फल यह होता है की बुद्धि और पारस्परिक प्रेम से उत्पन्न विनय या अभिन्नता घर में प्राप्त नहीं होती। बालकों को हमेशा ऐसा असंतोष रहता है की घर की यह सब व्यवस्था हमारे लिये नहीं। इसी कारण उनमें दिनभर खाने-घड़ी-घड़ी में खाना माँगने, काम में बाधक होने, अकड़ने और सब बातों मे 'ना' कहने की आदत पड़ जाती है। संक्षेप में बालकों में प्रत्येक समय यह बताने की वृत्ति रहती है कि "हम भी हैं।"

जिस घर में बड़े वास्तव में बड़ों की तरह व्यवहार करें, जहाँ बालक बुद्धि-पूर्वक निर्धारित अपने अधिकारों और उत्तरदायित्व को समझें तथा उनका उपभोग करें, जहाँ घर के सब मनुष्योंके सुख-दुःख, खेल-तमाशे और आहार-विहार बालकों की भावनाओं को समझकर रचे गये हों (यद्यपि बालक इस विषय में सजग नहीं होते) उसी घर में बालकों का मन स्वस्थ, शांत और प्रसन्न रहता है। इसी दशा में बच्चों के सभी कार्यों में स्थिरता आती है; मनमें एक प्रकार का आनंद प्राप्त होता है और माता-पिताके प्रति विश्वास तथा सन्मान का भाव पैदा होता है।

जिन घरों में बड़े ही बचपन दिखाते हों; बाहर वालों के सामने कुछ और, घरमें कुछ और व्यवहार करते हो; तथा ढोंगी, दंभी और बनावटी जीवन व्यतीत करते हों, उन घरों में बालक सचमुच हैरान हो जाते हैं। उनका पहले माँ-बापमें से और फिर अपने में से भी विश्वास उठ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्तित्व (Personality) का विकास समतोल और सीधा होने के बदले असमतोल और विकृत (Deviated) होने लगता है। फलतः बालक गुंडेपन, चोरी, झूठ, गुप्त कामविकृति, तरंगीपन, बहिर्मुखता अस्थिरता और दूषित प्रेम के शिकार हो जाते हैं। इससे बालकों और माँ-बापों के बीच संघर्ष बढ़ता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि माँ-बापों की अपनी ही अस्थिर-असमतोल-बहिर्मुख मनोवृत्ति के कारण बालकों पर कितना अहितकार प्रभाव पड़ता है।

माँ-बाप अपने प्रति सजग रहें और माँ-बाप होने से उत्पन्न सभी उत्तरदायित्वों को गंभीरता-पूर्वक बिना किसी शिकायत के धैर्य और स्थिरता के साथ, स्वाभाविक ढंग से ही पालन करें तो प्रतिक्रिया के रूप में बालक स्वयं भी स्थिर, सरल और प्राकृतिक रूप से ही अपना विकास करते चलेंगे। ऐसी अवस्था में संघर्ष या विरोध को स्थान ही न होगा।

अनु० नूतन —न०

नूतन बालशिक्षण संघ का वृत्तान्त

(जुलाई १९३७ से दिसंबर १९४३ तक का)

१९३९ के जून तक इस संघ का सारा कारोबार, पैसा वगैरह की व्यवस्था, सब कुछ स्व० पू० गिजुभाई के हाथों से ही चलता था। इस संघ की स्थापना की आदि कल्पना भी उन्हीं की थी। उसका सारा संचालन उन्ही के हाथ में था और उन्हों ने संघ का कार्य १४ साल तक बड़े वेग से चलाया।

उस समय संघ की प्रवृत्ति में सिर्फ 'शिक्षण-पत्रिका' का संचालन ही था। उनके समय में भी गुजराती, मराठी और हिंदी ये तीनों भाषाओं में शिक्षण पत्रिका निकलती थी। लेकिन उसकी व्यवस्था अलग अलग थी। उस समय मराठी पत्रिका दादर से, हिंदी इंदोर से और गुजराती भावनगर से निकलती थी। तीनों का संपादन गिजुभाई और ताराबहन के नामों से चलता था। पू० गिजुभाई गुजराती 'पत्रिका' के लिये लिखते थे और श्री ताराबहन मराठी के लिये। हिंदी में दोनों के अनुवाद प्रसिद्ध किये जाते थे और अनुवाद का काम श्री काशीनाथजी त्रिवेदी करते थे। इसके अलावा बाल अध्यापन-मंदिर की प्रवृत्ति चलती थी। शुरु में यह अध्यापनमंदिर दक्षिणामूर्ति विद्यार्थीभवन भावनगर की तरफ से चलाया जाता था। आगे जाकर स्व० पू० गिजुभाई ने उसे राजकोट में स्वतंत्र रूप से चलाया था। संघ का प्रचार कार्य मुख्यतः इस अध्यापनमंदिर के द्वारा ही होता था। क्योंकि अध्यापन-मंदिर के छात्रवर्ग अलग अलग स्थानों पर जाकर संघ के कार्य के बारे में लोगों को समझाते थे, बालमंदिरों की स्थापना करते थे और 'शिक्षण-पत्रिका' का भी प्रचार करते थे। पू० गिजुभाई आखिर आखिर में अनेक स्थानों पर पर्यटन करते थे और जगह जगह पर छोटे-छोटे अध्यापनवर्ग चलाते थे। इस रीति से उनके समय में संघ के कार्य का प्रचार बहुत ही होता था। इसके पीछे पू० गिजुभाई का उज्ज्वल व्यक्तित्व ही था।

१९३९ के जून में हम सब के दुर्भाग्य से उनका देहान्त हुआ। संघ की सारी जिम्मेवारी हमारे सिर आ पडी। उसका संक्षिप्त वृत्तान्त हमें आज संघ के सदस्यों के सामने पेश करते हैं।

१९२५ की साल में भावनगर में प्रथम की संमेलन बुलाया गया। इसी संमेलन में संघ की स्थापना हुई। उस समय संघ के प्रमुख श्री सरलादेवी साराभाई, उपप्रमुख श्री नानाभाई भट्ट, और मंत्री श्री गिजुभाई और श्री ताराबेन नियुक्त किये गये। इन चारों के हाथ में सारा कारोबार सौंपा गया। लेकिन जैसे कि उपर बताया है सारी कार्रवाई गिजुभाई ही चलाते थे। उन के देहान्त के बाद बाकी के तीनों को सारी व्यवस्था अपने सिर लेनी पडी।

नया विधान (Constitution)

१९४० के फरवरी में अहमदाबाद में हम तीनों मिले और श्री सरोजबहन योध को संयुक्त मंत्री और श्री रामजीभाई हंसराज को कोषाध्यक्ष नियुक्त कर के दोनों को व्यवस्थापक मंडल में ले लिया। एक साल के बाद श्री रामजीभाईने समय न होने से त्याग-पत्र दिया और उनकी जगह पर श्री चंदुलाल मोहनलाल झवेरी को कोषाध्यक्ष का पद दिया गया।

इस तरह स्थापित व्यवस्थापक मंडळ ने ही सारा कार्य चलाया है। इस मंडल की सभाएँ प्राय: अहमदाबाद में श्री सरलादेवी के बंगले पर ही मिलती थीं।

इस व्यवस्थापक मंडल ने संघ का विधान (Constitution) निश्चित कर के उसके मुताबिक सारा कारोबार चलाने का निश्चित किया। इसके पहले संघ के आजीवन सदस्य थे। एक रुपया दे कर के जो लोग 'शिक्षण-पत्रिका' के ग्राहक बनेंगे वे ही संघ के सभ्य गिने जाएँगे ऐसा नियम उस समय था। लेकिन श्री पकवासा साहब की राय लेने पर मालूम हुआ कि ये सब सिर्फ ग्राहक गिने जाएँगे, बाकानून संघ के सदस्य नहीं। इस से संघ के विधान में आजीवन सभ्य के अलावा सामान्य, सहायक, सक्रिय और प्रतिनिधि इस प्रकार चार किस्म के सदस्य नियत किये गये। संघ के कार्य के बारे में सहानुभूति रखते हुए हर साल २॥ रुपया देनेवाले सामान्य सभ्य गिने जाँय ऐसा निश्चित हुआ। (मराठी 'पत्रिका' में बाल-विभाग आता है इस लिये उसका शुल्क आठ आना ज्यादह है। जिस से संघ के सभासद के शुल्क के साथ उसका दो रुपया होता है।)

संघ के कार्य में सहानुभूति रख के उसको मदद करने की इच्छावाले लोग तीन रुपये (अब पांच रुपया) दे कर सहायक सभ्य बन सकते हैं।

बाल शिक्षण की प्रवृत्ति में स्वयं काम करनेवाले लोग तीन रुपये दे कर सक्रिय सभ्य बन सकते हैं।

जो संस्थाएँ संघ के सिद्धान्तों के अनुसार काम करती हैं और जिनको संघ के मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है, ऐसी संस्थाएँ छ रुपये वार्षिक शुल्क दे कर के संघ के साथ जोडी जाती हैं और अपने एक प्रतिनिधि सभ्य को संघ में भेज सकती हैं।

इसके अलावा एक ही समय पर पच्चास या उससे ज्यादा रुपये देनेवाले संघ के आजीवन सभ्य हो सकते हैं। पहले चुनाव में आजीवन वर्ग की तरफ से दो, सक्रिय और प्रतिनिधि वर्ग की तरफ से ९ और सहायक वर्ग की तरफ से दो मिल कर के कुल १३ सभ्य कार्यकर्ता मंडल में चुने गये थे। कार्यकर्ता मंडल में से दो सभ्य व्यवस्थापक मंडल में चुने गये थे। इस प्रकार निम्नलिखित ७ सदस्यों का व्यवस्थापक मंडल हुआ था:—

श्री सरलादेवी साराभाई	प्रमुख
,, नानाभाई भट्ट	उपप्रमुख
,, चंदुलाल मोहनलाल झवेरी	कोषाध्यक्ष
,, ताराबहन मोडक	संयुक्त मंत्री
,, सरोजबहन योध	संयुक्त मंत्री

श्री वजुभाई दवे
,, नरेन्द्र बधेका } कार्यकर्ता मंडल में से नियुक्त सदस्य.

इस व्यवस्थापक मंडल ने पिछले तीन साल सारा कारोबार चलाया है। अब अप्रैल मास में नया चुनाव हुआ है और नया व्यवस्थापक मंडल आया है।

व्यवस्थापक मंडल का पहला काम विधान निश्चित कर के उसके अनुसार काम चलाने का हुआ। इससे जो बहुसंख्य लोग, संघ के काम में दिलचस्पी रखते थे और प्रत्यक्ष कार्य भी करते थे उनको संघ के कार्य में सीधा हिस्सा देने का अवसर मिला। और एक या दो या चार आदमी सारे तंत्र की जिम्मेवारी अपने सिर उठालें इस प्रथा की जगह सारा संघ एक कार्यक्षम संस्था बने ऐसी कोशीस हमने की। आदमी तो आएँ और जाएँ, लेकिन संस्था और उसका कार्य अबाधित रीति से चलता रहे इस भावना से विधान बना कर के तदनुसार कार्य चलाने की प्रथा हमने जारी की है। इस विधान की रचना में हमको श्री मंगलदास पकवासा ने बहुत ही मदद दी है। और पीछे से ज्योति संघ के श्री उत्सवभाई परीख ने भी मदद दी है। इस साल पुराने विधान में कुछ फेरफार करने की जरूरत हम को लगी। इस में श्री प्र. पटवारी ने काफी मदद दी है। हम इन तीनों को इस मदद के लिये धन्यवाद देते हैं।

डॉ. मॅडम मोन्टीसोरी को मानपत्र

व्यवस्थापक मंडल ने संघ की व्यवस्था हाथ में ली उसी साल मॅडम मोन्टीसोरी हिंद में आयीं। इससे संघ ने अपना पहला जाहिर कार्य १९४० के मार्च मास में उनको मानपत्र देने का किया। अहमदाबाद आने के लिये उनको निमंत्रण दिया था। उस समय पर गुजरात, काठियावाड और कच्छ से अनेक प्रतिनिधि उपस्थित थे। वह तो एक तरह संघीओं का संमेलन ही था। मॅडम मॉन्टीसोरी को मानपत्र देने का समारंभ बड़ी सफलता से हुआ। डॉ. मॉन्टीसोरी ने दो जाहिर व्याख्यान और एक महिलाओं के लिये व्याख्यान दिया था। उसके अलावा साबरमती में बालमंदिर का उद्घाटन भी उन्हों ने किया था। मि. मोन्टीसोरी के साथ एक प्रश्नोत्तर का कार्यक्रम भी बडा सफल हुआ था। साथ ही अहमदाबाद के तमाम बालमंदिरों का बालविहार का कार्यक्रम बडा संतोषकारक हुआ था। इसमें बालकों के काम की एक दिलचस्प प्रदर्शनी रखी गई थी। इसकी सारी व्यवस्था अहमदाबाद के कार्यकर्ताओं ने की थी। उसका बहुत सारा बोझ श्री सरलादेवी साराभाई ने उठाया था। खर्च में उन्हों ने १५०० रुपया चंदा दिया था। संघ ने इस समारंभ के लिये ५०० रुपयों का हद तक खर्च करने की दी थी। इसमें प्रदर्शनी की टिकिटों के ३९३ रु. ६ आ. ६ पा. आये थे और बाकी के १०६ रु. ९ आ. ६ पा. संघ ने दिये थे। उसको छोड के बाकी का सारा खर्च प्रमुख ने अपने ही पैसों से किया था।

संमेलन

संघ की तरफ से सभी संघीओं को इकट्ठा

करने की दृष्टि से भावनगर में १९४० के अक्टूबर में एक संमेलन बुलाया गया। इस-में श्री गिजुभाई की ही कर्मभूमि में सम्मि-लित हो कर उनका कार्य वेग से आगे बढाने की भावना सब के दिल में थी। संमेलन की सारी व्यवस्था श्रीदक्षिणामूर्ति भवन ने की थी। भोजन का खर्च श्री नानाभाई भट्ट और श्री माणेकलाल पंड्या ने दिया था। संमेलन का अध्यक्षस्थान श्री सरलादेवी साराभाई ने लिया था। इस संमेलन में दोतीन महत्त्व की बातें तय की गईं। पहली यह कि विधान के बारे में अविविसर चर्चा कर के योग्य फेरफार सूचित किये गये। इन सभी को विधान में शामिल किया गया।

बालमंदिरों का निरीक्षण

दूसरी बात यह तय की गई कि उस समय तक जो अनेक बालमंदिर स्थापित हुए थे और श्री गिजुभाई की सलाह और मार्ग-दर्शन से चलते थे उन सभी को संघ के साथ जोडा जाय। संघ की तरफ से जुडे हुए बाल-मंदिरों का वार्षिक निरीक्षण करने का निश्चय हुआ। इस प्रकार संघ के साथ जुडी हुई ३३ शालाएँ आज हैं। व्यवस्थापक मंडल ने इन शालाओं के निरीक्षण का काम श्री ताराबहन मोडक को सौंप दिया है। वे हरसाल अपनी और बालशालाओं की अनुकूलता से इन सभी का निरक्षण कर लेती हैं। शालाके निरीक्षणके समय स्थानिक पालकों की और जाहिर जनता की सभा भी वे रखती हैं। और शाला के शिक्षक और संचालकों के साथ बातचीत कर के योग्य फेरफार करने की सूचना भी वे देती हैं। शाला के शिक्षकों को कभी प्रत्यक्ष पाठ देकर के या कभी कभी बातचीत कर के योग्य मार्ग-दर्शन भी वे कराती हैं। इस तरह जनता में भी जागृति लाती हैं। यह निरीक्षण की प्रथा संघ के एवं बालमंदिरों के कार्य की दृष्टि से बहुत ही लाभ-दायक मालूम हुई है।

बालक्रीडांगण के प्रयोग

संघ ने जो तीसरी बात इस समय की वह ग्राम बालक्रीडांगण की प्रवृत्तिका प्रयोग करने की। इस समय श्री. सरलादेवी ने जाहिर किया कि वे स्वयं तीन अलग अलग स्थान पर इसका प्रयोग करने के लिये जो खर्च आएगा सो वे स्वयं तीन साल तक देंगी। इसमें से एक प्रयोग आंबला में श्री. नानाभाई की देखभाल में, दूसरा वेडछी में श्री जुगतरामभाई की देखभालमें और तीसरा बम्बई में श्री ताराबहन मोडक की देखभाल में शुरू किया जाय ऐसा निश्चय हुआ। तीन साल के बाद तीनों प्रयोगों के अनुभव और विचार सम्मिलित कर के उस पर से ग्राम बाल-क्रीडांगण की एक योजना बना कर के उसका अमल किया जाय ऐसा निश्चय वहाँ किया गया।

इस योजना के मुताबिक पहले आंबला में क्रीडांगण शुरु किया गया। लेकिन अनेक कारणों और मुश्केलियों से वहाँ यह योजना खिलने नहीं पाई। १९४२ के अगस्त से श्री नानाभाई सरकार के कैदी बने। उससे यह प्रयोग स्थगित करना पडा। श्री नानाभाई ने

इस विषय पर काफी विचार कर के एक योजना भी रची थी।

बाद में वेडछी में प्रयोग शुरु हुआ। वहाँ छ महीनों के बाद ही बहुत अच्छा नतीजा दीखा। उस का अहवाल बहुत ही मार्ग-दर्शक हुआ। लेकिन १९४२ की राजकीय परिस्थिति के फलस्वरूप यह प्रयोग भी स्थगित हुआ। वेडछी आश्रम को सरकार ने जप्त कर लिया और वहाँ के बहुत सारे कार्यकर्ता लोग गिरफ्तार हो गये। इससे वहाँ की शाला भी एकदम बंध हो गई।

बम्बई में प्रयोग का प्रारंभ करने में कुछ देर लगी। क्योंकि योग्य स्थान प्राप्त करना ही मुश्केल हुआ। १९४१ के नवम्बर मास में दादर के कुछ पास काम शुरु किया गया। एक बंगले के बगीचे में खुली जगह में मंडप बना कर के काम का प्रारंभ किया। लेकिन १९४२ के मार्च-अप्रैल में सब लोग बम्बई छोड कर के भागने लगे और इस प्रयोग को स्थगित करना लाजिमी हुआ। बाद में भगिनी समाज के साथ पत्रव्यवहार किया गया और उन्हों ने अपना सेवामंदिर इस प्रयोग के लिये संघ को देने का निश्चय किया। १९४३ के जनवरी से यहाँ प्रयोग शुरु किया। एक वर्ष के अंत में बहुत ही अच्छा परिणाम इस प्रयोगने बताया है। यह प्रयोग बम्बई में ही है। आप सभी सदस्य उसको अपनी नजरों से देख सकते हैं। अभी दो साल तक यहाँ अलग अलग प्रयोग कर के तीन साल के बाद शिक्षा और खर्च के बारे में, देहात और शहरों की परिस्थिति को ख्याल में रखते हुए जो अनुभव हमें मिलेगा उस पर से बालक्रीडांगण की योजना प्रसिद्ध की जाएगी। अभीतक श्री सरलादेवी ने इस प्रयोग के लिये निम्न-लिखित खर्च की रकम दी है, उसके लिये संघ उनको धन्यवाद देता है। उनकी इस काम के लिये जो तमन्ना है उससे ही यह प्रयोग सफल हुआ है। वे न सिर्फ द्रव्य से मदद करती हैं, लेकिन समय समय पर विचारों में भी अपना हिस्सा देती हैं। प्रयोग में स्वयं रस ले कर के उसको देखती रहती हैं।

	रु.	आ.	पा.
आंबला बालक्रीडांगण	२५००	०	०
वेडछी बालक्रीडांगण	२२००	०	०
दादर बालक्रीडांगण	६००	०	०
सेवामंदिर, मुंबई	३००	०	०
कुल	५६००	०	०

वेडछी में ग्राम बालमंदिरों के लिये शिक्षक तैयार करने की दृष्टि से एक ग्राम-अध्यापनमंदिर की और देहातों में शिक्षक किस तरह काम करें उसका विचार कर के ग्राम बालमंदिर स्थापने की योजना श्री नानाभाई बना रहे थे। लेकिन राजकीय परिस्थिति को ले कर यह योजना अभी तक अमल में नहीं आ सकी है। फिर भी उस दिशा में सभी काम स्थगित करना नहीं पड़ा

है। बम्बई का प्रयोग अच्छी तरह चला है इससे हमे खुशी है।

संघकी शाखाएँ

जिन जिन स्थानों पर संघ का विशेष कार्य होता है और सभ्यों की संख्या काफी है, वहाँ वहाँ संघ की शाखाएँ स्थापी जाती हैं। इस प्रकार अहमदाबाद, बम्बई और नागपुर में संघ की शाखाएँ है और वे स्थानिक कार्य अच्छी तरह चला रही हैं। अहमदाबाद की शाखा ने चलद्वाचनालय (Circulating Library) की योजना हाथमें ली थी।

बम्बई की शाखा ने प्रचार कार्य किया था। फरवरी १९४३ में नूतन बालशिक्षकों का एक संमेलन मलाड में सफलता से किया था। इस संमेलन में बालकों को विज्ञान और हस्तव्यवसायों का शिक्षण किस तरह दिया जाय उसके बारे में चर्चा हुई थी। अधिकारी व्यक्तिओं ने इस विषय में व्याख्यान देकर के बालशिक्षकों को मार्गदर्शन कराया था। साथ ही साथ विषयों के अनुलक्ष में एक प्रदर्शनी भी रची थी और कुछ प्रात्यक्षिक पाठ भी बताए गये थे। इस संमेलन को आदर्श दुग्धालय के संचालकों ने अनेक किस्म की सुवीधाएँ दीं थीं। मलाड के इस संमेलन में संघ के साथ जुड़ी हुई शालाओं के शिक्षकों के पास किसी भी किस्म का खर्च लिये बिना उनके खानपान की व्यवस्था की थी। दूसरे महेमानों के पास सिर्फ दो रुपया शुल्क लिया गया था। संमेलन की प्रदर्शनी का सारा खर्च दादर के शिशुविहार ने किया था। यह खर्च ४७५ रुपये का हुआ था और बम्बई के कार्यकर्ताओं ने चंदे के रूप में इकठ्ठा किया था।

नागपूर में वहाँ का महिलामंडल एक बालमंदिर अच्छी तरह चला रहा है। वह मंडल नागपुर शाखा का प्रचारकार्य भी चला रहा है।

हरेक शाखा के कार्यकर्ता नीचे मुजब हैं:—

अहमदाबाद शाखा :—

मंत्री :—श्री हरप्रसाद भट
श्री रेवाशंकर का. महेता

बंबई शाखाः —

प्रमुख :—श्री ताराबहन प्रेमचंद
मंत्री :—श्री बाबीबहेन मूलजी
श्री ताराबहन झवेरी
श्री पूर्णिमाबहन पकवासा

नागपुर शाखा :—

प्रमुख :—जस्टिस शंकरराव नियोगी
मंत्री :—सौ. विमलाबाई देशपांडे एम्. ए.

शिक्षण-पत्रिका

इसके अलावा संघ की प्रारंभ से चलती हुई और प्रचार की दृष्टि से अत्यंत महत्त्व की प्रवृत्ति है 'शिक्षण-पत्रिका' का संचालन। आज-कल ये तीनों पत्रिकाएं बडौदे में छपा कर प्रसिद्ध की जातीं हैं। उनकी सारी व्यवस्था श्री गोपालराव विद्वांस को सौंप दी है। संपादिका श्री ताराबहन मोडक हैं। गुजराती में अनुवाद करने में श्री. गोपालराव विद्वांस मदद करते हैं। हिंदी के अनुवाद के लिये आज तक श्री काशीनाथजी त्रिवेदी (वे आज जेल में हैं), श्री बंसीधरजी, पंचकुला (पंजाब)

और श्री नूतनजी मदद करते आये हैं। हिंदी के लिये कभी कभी एकसौ जितनी रकम या पुस्तक, पेन वगैरह के रूप में थोडासा ओनरेरियम दिया जाता है। श्री गोपालराव विद्वांस तो एक संघी की हैसियत से अनुवाद वगैरह काम कुछ भी वेतन लिये बिना करते हैं। 'पत्रिका' की सारी व्यवस्था श्री गोपालराव विद्वांस को सौंप दी है और उसके लिये उनको खर्च की निश्चित रकम दी जाती है। इन चार सालों में हिंदी और मराठी के ग्राहकों की संख्या बढ़ी है। लेकिन गुजराती ग्राहकों की संख्या बहुत कुछ घटी है। उसके बहुतसे कारण हैं जिन्हें हम दूर नहीं कर सकते। फिर भी संघ का प्रचार कार्य करनेवालों के और दूसरों के परिश्रम से ग्राहकों की संख्या करीब १७००।१८०० जितनी रही है। स्व० पूज्य गिजुभाई का देहान्त यही एक मुख्य कारण उस के लिये गिनाया जा सकता है। इसके अलावा युद्ध की परिस्थिति, देश की राजकीय परिस्थिति वगैरह अनेक कारणों से 'पत्रिका' में इन चारों सालों में खोट ही रही है। इस खोट को पूरने के लिये हमारा व्यवस्थापक मंडल प्रयोगशील है। करीब ५००० रुपया की खोट आई है। उसमें से अभी तक ९००+२०० रुपये इकठे हुए हैं। और दूसरा नया व्यवस्थापक मंडल चुना जाए उसके पहले खोट की रकम इकठा करने की हमें उम्मीद है।

स्व० गिजुभाई स्मारक निधि

स्व. गिजुभाई के देहान्त के बाद उनके मित्र बॅ. श्री पोपटलाल चुडगरजी के प्रयत्न से कई एक मित्रों के नाम से स्मारक निधि जमा करने का निश्चय हुआ। इस निधिको इकठा करने का कार्य मुख्यतः श्री चुडगरजीने ही किया है। बॅ. चुडगर और श्री इन्दुप्रसाद भट्ट उस के मंत्री थे। उन्होंने ११३४८ रुपये इकठे किये। इस रकम का उपयोग बालकों के लिये पुस्तकों का प्रकाशन किया जाय इस शर्त से यह निधि नूतन बालशिक्षण संघ को १९४२ में सोंपी गयी। अभीतक हमने उस का उपयोग नहीं किया है। योग्य और उपयोगी योजना हम बना रहे हैं। बाल साहित्यको स्व. गिजुभाईने स्वयं बढाया था। अब बालकों के लिये अच्छे चित्रपुस्तकों की खोट है। उसको पूरी करने के लिये इस निधि का उपयोग करने का व्यवस्थापक मंडलने निर्णय किया है। लेकिन युद्धकालीन परिस्थिति से चीजें बहुत महँगी हो गई हैं। इस लिये यह योजना हाथ में नहीं ली है। तब तक यह निधि योग्य जगह सुरक्षित रखी गयी है। यह योजना हाथ में ली जाएगी तब उस में ज्यादा पैसा डालना होगा। स्व. गिजुभाई की तरफ प्रेम रखने वाले और उनके कार्यको आगे बढाने की तमन्ना रखने वाले बहुतसे भाई बहनोंने उस में अभी तक अपना हिस्सा नहीं दिया है। वे सब जल्दीसे जल्दी अपनी रकम संघ को भेज देंगे ऐसी आशा हम रखते हैं।*

मंत्री, नूतन बाल शिक्षण संघ.

* ता. १९–४–४४ के दिन मिली हुई साधारण सभा में यह अहवाल पढा गया था।

मुद्रक व प्रकाशक : पु. आ. चित्रे, आत्माराम मुद्रणालय, खारीबाव रोड, बडोदा
कार्यालय : महाजन गली, ज्ञानमंदिर, रावपुरा, बडोदा ८ : ७ : ४४

[नामदार वडोदरा सरकारना हुकम नंबर D 6/4 ता. २३-८-४४ नी मंजूरीथी]

इंदौर, बीकानेर, जोधपुर, देवास, बड़वानी, बंबई, मध्यप्रान्त-बरार, पंजाब, बिहार, यू०पी० और उड़ीसा की सरकारों के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत।

आद्य संपादक : स्व० गिजुभाई

वार्षिक मूल्य : देश में, एक रुपया विदेश में, दो शिलिंग

संपादक : श्री० ताराबहन मोड़क

सहसंपादक : श्री० बन्सीधर, श्री० काशिनाथ त्रिवेदी

हिन्दी शिक्षण-पत्रिका

(माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र)

वर्ष १० वाँ] अगस्त १९४४, श्रावण २००० [अंक ११ वाँ

> बालसेवा ही श्रेष्ठ जनसेवा है; और बालकों की आन्तरिक ऊर्मियों को यथार्थतः माँप लेनाही—श्रेष्ठ बालसेवा है।

क्षमा-प्रार्थना

'शिक्षण-पत्रिका' का यह अंक एक महिने के विलम्ब से प्रकट करने के कारण हम ग्राहकों से क्षमा चाहते हैं।

कागजनियमन के नये कानून अनुसार 'शिक्षण-पात्रिका' प्रकाशित करने के लिये बड़ौदा-सरकार की लिखित स्वीकृति लेने की जरूरत होती है। स्वीकृति मिलने में विलम्ब होनेसेही यह अंक देरी से प्रकाशित हुआ है।

पाठकों का ध्यान अंक के छोटे कद के प्रति आकर्षित हुआही होगा। कागजनियमन कानून के मुताबिक सामयिक का कद घटाकर ३०% प्रतिशत करने से भविष्य के अंक १२ पृष्ठों के बजाय ४ पृष्ठों के ही प्रकाशित करने होंगे। हमारी यह अनिवार्य विवशता ग्राहकगण चला लें—ऐसी नम्र प्रार्थना है। 'शिक्षण-पत्रिका' संपूर्ण कद (१२ पृष्ठों) मेंही प्रकाशित करने देने की स्वीकृति के लिये की हुई हमारी प्रार्थना कानून के कारण स्वीकार नहीं की गई है। इस लिये अब इन ४ पृष्ठों के अंको के निर्णय के बाद—इस मासिक की प्रकाशनप्रवृत्ति किस प्रकार चलाना, इसके वार्षिक मूल्य का क्या करना, क्या मात्र ४ पृष्ठों केही अंक प्रकाशित करना—आदि प्रश्नों के विषय में नूतन-बालशिक्षण संघ के व्यवस्थापक मंडल का जो निर्णय होगा वह आगामी अंक में ग्राहकों को सूचित करेंगे। तब तक ग्राहकमित्र धैर्य धारण करेंगे और अनिवार्य विलम्ब के लिये क्षमा करेंगे, ऐसी प्रार्थना है।

—तंत्री

डॉ. मॉण्टेसोरी और गांधीजी

श्रीमती मॉण्टेसोरी के शिक्षा-विषयक सिद्धान्त का आधार आध्यामिकता के ऊपर है। यही कारण है कि वे शिक्षा में स्वातंत्र्य और स्वयंस्फूर्ति को प्रमुख स्थान देती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार ही विकास के क्रम को पूर्ण करता है, इस लिये शिक्षा में व्यक्ति-विकास की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए, यह उनका प्रबल मत है। मॉण्टेसोरी का कहना है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है; इस लिये बालक में सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक ज्ञान के विकास की दृष्टि से सामूहिक जीवन की शिक्षा भी बालक को मिलनी चाहिए। धर्म अर्थात् शुद्ध भावनाओं का विकास और नीति अर्थात् वैयक्तिक एवं सामाजिक विकास का पोषक व्यवहार, ये दोनों मनुष्य-जीवन की परिपूर्णता के लिये आवश्यक है। अत: धर्म और नीति के संस्कार बालकों में बचपन से ही डालने की मॉण्टेसोरी की योजना है। बालकों की बुद्धि-ग्रहणशक्ति-बहुत ही तीव्र होने से और जिज्ञासावृत्ति बड़ी प्रबल होने के कारण पदार्थविज्ञान, गणित, जीवन-शास्त्र, वनस्पतिशास्त्र और खगोलविद्या जैसे कठिन कहेजानेवाले बौद्धिक विषय भी उचित रूप में बालकों के आगे रखनें की उन्हों ने बड़ी सुन्दर योजना की है। यदि यह सब वास्तविक और चिरस्थायी रूप में ही बालकों के आगे रखना हो तो वह प्रत्येक क्रिया के अनुसंधान में ही रखना चाहिए। यह इनका सिद्धान्त होने से इन्होंने प्रत्येक विषय की शिक्षा के लिये बड़े परिश्रम और विचार के साथ शास्त्रशुद्ध साधन तैयार किये हैं। उन साधनों की सहायता से अनेक प्रकार के अभ्यासों द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों का बालकों को ज्ञान कराना डॉ. मॅडम मॉण्टेसोरी की पद्धति है।

गांधीजी का संपूर्ण तत्त्वज्ञान ही आध्यात्मिक भूमिका पर रचा गया है। उनका संपूर्ण जीवन ही आध्यात्मिक है। श्रीमती मॉण्टेसोरी की तरह वे केवल बालविकास के क्षेत्र में ही नहीं विचरते। वे पूर्ण मानवजीवन के विकास का विचार करते हैं। उनके प्रत्येक सिद्धान्त और क्रिया में संबंध होता है। यही कारण है कि उनके सिद्धान्त क्रिया के रूप में ही संसार के समक्ष रक्खे गये हैं। मानवसमाज का एक भाग होने के कारण बालक भी गांधीजी की विचार-कक्षा में आजाते हैं, और बालजीवन के विकास में मानवसमाज के विकास का बीज विद्यमान है, इस सत्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने भी बालशिक्षण में नई दिशा की ओर संकेत किया है। डॉ. मॉण्टेसोरी के समान इन्होंने दो या तीन वर्ष के बच्चों का विचार नहीं किया, फिर भी छ से चौदह-पन्द्रह वर्ष तक के बालकों के लिये शिक्षा की प्रभावशाली योजना प्रस्तुत की है। इस योजना को हम **'वर्धा योजना'** या आधारभूत शिक्षा (Basic Education) के नाम जानते हैं।

'वर्धा योजना' का मूलभूत सिद्धान्त भी क्रिया-द्वारा व्यक्ति-विकास ही है। अतः इसमें बौद्धिक मानी जानेवाली सभी शिक्षा व्यवस्थित क्रिया-द्वारा देने का आग्रह है। ज्ञान का अर्थ क्रिया-कुशलता होना चाहिए। क्रिया-विहीन ज्ञान निरर्थक है, यह गांधीजी का विश्वास है। इसी लिये उनकी दृष्टि से शिक्षा में अक्षर-ज्ञान का कोई विशेष महत्त्व नहीं। डॉ. मॉण्टेसोरी ने शास्त्रीय साधन खोज निकाले

हैं और गांधीजी ने जीवनपोषक कारीगरियों में जो क्रिया करनी पड़ती है उस कुशलता प्राप्त करने को ध्यान में रखकर उस क्रिया-वाले साधनों का ही स्वीकार किया है। मॉण्टेसोरी साधनों-द्वारा जो शिक्षा मिलती है वही शिक्षा इन साधनों द्वारा भी मिल सकती है, यह वर्धा योजना का दावा है। इसके अतिरिक्त गांधीजी हमारे सामने एक सुन्दर परिणाम उपस्थित करते हैं। वह यह कि जीवन को समृद्ध बनाने की कारीगरी में होनेवाली क्रियाओं में से अनेक उपयुक्त वस्तुएँ पैदा होती है। वर्धायोजना में यह क्रम रक्खा गया है कि बाजार में बेची जा सकने योग्य वस्तु पूर्णता के साथ बनाने की शक्ति बालक में पैदा हो और इसके साथ ही तत्संबंधी ज्ञान का क्षेत्र भी विस्तृत होता जाय। क्रिया और ज्ञान का अनुबंध ही इस वर्धा योजना की विशेषता है और इसीसे यह क्रिया-द्वारा शिक्षा देने की पद्धति है।

डॉ. मॉण्टेसोरी के सिद्धांतों के साथ वर्धा योजना इतनी अधिक संबद्ध जान पड़ती है कि दोनों के निर्माताओं को एक साथ मिलकर दोनों का सुन्दर समन्वय सिद्ध करना उचित हैं। गांधीजी की दृष्टि मुख्यतः राष्ट्रीय है और मॉण्टेसोरी की दृष्टि में बालविकास की प्रमुखता है। इस लिये मॉण्टेसोरी पद्धति के सिद्धान्तों के साथ वर्धा योजना की क्रिया-प्रणाली का समन्वय सिद्ध हो जाय तो संसार को एक अद्वितीय शिक्षणपद्धति मिल जाय, इसमें जरा भी सन्देह नहीं।

मॉण्टेसोरी पद्धति का प्रयोग वर्षों से होता आ रहा है और उसके पीछे संसार के प्रबल शिक्षाशास्त्रियों की तपस्या है। गांधीजी की पद्धति का जन्म छ-सात वर्ष पहले का ही है और उसका प्रयोग अभी संपूर्ण शास्त्रीय रीति से होना बाकी है। इस दृष्टि से गांधीजी की इस शिक्षणपद्धति के परिणामों के विषय में अभी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु मूलभूत सिद्धान्तों को देखने से इतना तो स्पष्ट जान पड़ता है कि मॉण्टेसोरी और गांधीजी दोनों की पद्धतियों का समन्वय कहाँ तक लाभ-दायक हो सकता है, इसका प्रयोग होना चाहिए। शिक्षाशास्त्रियों से निवेदन है कि वे इस दिशा में विचार करने की कृपा करें।

अनु० नूतन — गो. रा.

यह शिक्षण अपूर्ण है

कल्पना कीजिये कि शाला किसी सुन्दर सरोवर के किनारे अथवा नदी या सागर के तट पर है। यह सब होते हुए भी वहाँ केवल तालाब की रचना और गन्दगी की ही बातें होती हैं। उसकी स्नान के रूप में होने वाली उपयोगिता के स्वानुभव से बच्चों को वंचित रक्खा जाता है। नदी का नाम, उसके उद्गम-संगम, धारा-प्रवाह और उपयोगिता-वर्णन में ही समय जाता है। उसके मीठे-निर्मल जल को पीने और उसमें जल-क्रीड़ा करने का बच्चों को अवकाश ही नहीं मिलता। छोटे-छोटे बच्चों की कागजी नौका भी उस में तैर कर सागर की ओर जाती हुई नहीं दीख पड़ती और बच्चों के नहाने-तैरने, खेलने-कूदने की

इच्छा भी पूर्ण नहीं हो पातीं। सागर के ज्वार-भाटे या खारेपन तथा मात्रा-साधनों के वर्णन में ही बातों की इतिश्री होती है। उसकी तरंगों पर नाचने को बिलकुल भुला ही दिया जाता है। सागर के ऊंचे कगारों से कूदने या डूबकी लगाने का सौभाग्य किसी को प्राप्त होता ही नहीं और न गीले रेत में बच्चों को भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियां—मठ-मंदिर ही बनाने दिये जाते हैं। इस दशा में यह कहना होगा कि ऐसा शिक्षण बिलकुल अपूर्ण है।

फिर मान लीजिये कि पर्वत के गगनचुम्बी शिखर पर शाला आसीन है। उसमें पर्वत और उसकी श्रेणियों, दर्रे और घाटी, झाड़ी और जंगल, तलहटी और शिखर की बातें होती है। जेब में डाली हुई या बस्ते में रक्खी हुई पुस्तकों द्वारा ही भूगोल का पाठ पढ़ा-पढ़ाया जाता है। पर्वत के शिखर पर प्रकृति-माता ने जो अपूर्व ज्ञान-कोष सत्र के लिये खुला छोड़ रक्खा है, उसकी ओर किसी की दृष्टि नहीं जाती। चित्तौड का दुर्गम दुर्ग जिस इतिहास-कथा को कह रहा है उसे सुनने या समझने का कोई प्रयत्न नहीं करता। जहाँ ऐसा होता है वहाँ वातावरण की ओजना की की बड़ी भारी कमी रह जाती है।

जहाँ स्लेटों पर सिखने का काम हो रहा है। अनेक विषय पढ़ाये जाते हैं। हिन्दी, गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान, खेल आदि के घंटे क्रमानुसार पूरे होते चले जाते हैं। शिक्षक पाठन-पद्धति के अनुसार एक के बाद दूसरा पाठ पढ़ा रहे हैं। शिक्षकों में जल्दी-जल्दी सिखाने, सरलता से सिखाने, बहुत अधिक सिखाने और स्वयं बिलकुल खाली होकर सभी कुछ दे देने की प्रबल इच्छा रहती है। बच्चे निश्चल भाव से दोनों कान खोलकर सुन रहे हैं। दोनों आँखों से शिक्षक की ओर कठपुतली की तरह टकटकी लगाकर देख रहे हैं। कभी नकली हँसी हँसते है और कभी पढ़ाई से तंग आकर भी वास्तविक स्थिति को छिपाते हुए बैठे रहते हैं। परन्तु सभी विषय औषधियाँ हैं, शिक्षण अनुपान के रूप में है, शिक्षक एक वैद्य है और बालक चेतन-दीप है। जिसमें यह बात भुला दी जाती है वह शिक्षण का आधार ही अपूर्ण है।

राष्ट्र का प्राण सजग हो उठा है। सम्पूर्ण देश में चेतना की चिनगारी चमक रही है। रण-भेरी रण-भूमि में बज रही है। ऐसे समय में यदि हम केवल इतिहास की बातें ही कहते हों, वीर पुरुषों के केवल चित्र दिखाकर ही रह जाँय और शूर सैनिकों की वंदना के लिये बाहर न निकल खडे हों, राष्ट्रपताका की जयध्वनि से आकाश को न गुंजा सकें, तो हम बालक के जीवन-निर्माण के महत्त्व-पूर्ण अंग को ही भूल जाते हैं।

शाला, यदि केवल चार-दीवाले के बीच बन्द हवा और शिक्षण-शास्त्र के सिद्धान्तों के अक्षरशः ज्ञान अथवा बालमन के नियमों की सूची से परिपूर्ण मनवाले बालक को ही भूल जाय तब तो हमें कहना होगा कि यह शिक्षण बिलकुल अपूर्ण है।

अनु० नूतन 'निजानन्द'

मुद्रक व प्रकाशक : पु. आ. चित्रे, आत्माराम मुद्रणालय, खारीवाव रोड, बडोदा
कार्यालय : महाजन गली, ज्ञानमंदिर, रावपुरा, बडोदा ११ : ९ : ४४

[नामदार बडौदा सरकार का हुकम नंबर D 6/4 ता. २३-८-४४ की मंजुरी से]

इंदौर, बीकानेर, जोधपुर, देवास, बड़वानी, बंबई, मध्यप्रान्त–बरार, पंजाब, बिहार, यू०पी० और उड़ीसा की सरकारों के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत।

आद्य संपादक : स्व० गिजुभाई

वार्षिक मूल्य : देश में, एक रुपया; विदेश में, दो शिलिंग

संपादक : श्री० ताराबहन मोड़क

सहसंपादक : श्री० बन्सीधर, श्री० काशिनाथ त्रिवेदी

हिन्दी शिक्षण पत्रिका

(माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र)

वर्ष १० वाँ] सितम्बर १९४४, भाद्रपद २००० [अंक १२ वाँ

ग्राहकों से निवेदन

गत अंक में दी हुई सूचना के अनुसार इस समय तो शिक्षण-पत्रिका का अंक ४ पृष्ठों में प्रकाशित किया जा रहा है। फिर भी संघकी तरफ से 'पत्रिका' को '-न्यूजप्रिन्ट' में छापने देने की और इस प्रकार शक्य हो तो पूरे १६ पृष्ठ ही देने की स्वीकृति के लिये देहली के श्री. कागज नियामक (पेपर कन्ट्रोलर साहेब) के पास प्रार्थना पत्र भेजा गया है। उसका अनुकूल उत्तर मिलने पर पत्रिका के १६ पृष्ठ देने की हमारी पूर्ण अभिलाषा है। इस विषय में कोई पाठक हमें सहाय कर सकें, ऐसी स्थिति में हो तो उन की सहाय धन्यवाद सह स्वीकार करेंगे।

संघ 'पत्रिका' का इस असह्य महँगाई में भी नुकसानी सहकर प्रकाशन कर रहा है, उस का विचार करते हुए एवं देहली से सानुकूल उत्तर आनेकी संभावना होने से ग्राहकों से प्रार्थना है कि-यह १२ वाँ अंक मिलते ही वे [वार्षिक मूल्य का रु. १) तथा सामान्य सभ्य का चंदा ०-८-० मिलाकर] कुल रु. १-८-० अक्टूबर की ता. २० तक भेजने की कृपा करेंगे। तबतक यदि उन की तरफ से रु. १॥ या बंद करने का पत्र नही आया होगा, तो यह समझ कर कि वे ग्राहक रहने के लिये तैयार हैं-उनकी तरफ नये वर्षका अंक (वी. पी. खर्च ०-४-० का मिलाकर) रु. १-१२-० की वी. पी. से भेजा जायेगा। आशा है, कृपाकर वे उस को छुडा लेंगे, और अपना सहकार संघ को सर्वदा की तरह प्रदान करेंगे।

संपादक

बच्चों की बहिर्मुखता

बालक, शरीर और मन से प्रवृत्तिशील होते हैं। शारीरिक प्रवृत्तियों को तो हम स्थूल रूप से देख सकते हैं। मानसिक दृष्टि से भी बालक प्रवृत्तिमय ही होते हैं। उनकी सभी शारीरिक एवं मानसिक प्रवृत्तियाँ उनके मन

और भावनाओं (Instincts) का सामूहिक प्रतिबिम्ब है।

मानसिक प्रवृत्तियों भी बड़े उचित ढंग से दो भागों में बाँटी जा सकती हैं। पहली अन्तर्मुख प्रवृत्तियाँ और दूसरी बहिर्मुख।

ऐसा देखने में आता है कि बहुत छोटी आयु से बालक बहिर्मुख हो जाते हैं। ३–४ मास के बालकों को बड़े लोग बहुत खिलाते रहें तो बहुत से मनुष्यों के हाथ में रहने से आर बड़ों का भिन्न–भिन्न प्रकार से शरीर–संपर्क होने से थोड़ी उम्र में भी बालक बहिर्मुख हो जाते हैं। इस के बाद वे अपने खाने-पीने, सोने और दूसरे प्रकार की वृद्धि से सीधा संबंध रखनेवाली प्रवृत्तियों के अतिरिक्त दूसरे समय भी बड़ों का ध्यान खींचने, उनके साथ खेलने और प्यार करने में बंध जाते हैं। ऐसा न होने पर अकारण रोते–चिल्लाते हैं। यह प्रायः सर्वत्र देखा जा सकता है।

बच्चों के विषय में बहुत–सी झूठी बातें भी चला करती हैं। सामान्यत:—भ्रमात्मक ढंग से यह माना जाता है और कहा भी जाता है कि बच्चों का मन चंचल है। एक काम या एक बात पर उनका मन केन्द्रित नहीं हो सकता। साथ ही यह भी माना जाता है कि बालक स्वभाव से ही अस्थिर मन के, चपल, एक के बाद दूसरी–तीसरी वस्तुओं को लेकर छोड़नेवाले होते हैं। उनका स्वभाव तितली के समान चंचल होता है।

ऊपर की बात बिलकुल असत्य है। वैज्ञानिक ढंग से सिद्ध हो चुका है कि व स्वस्थ मन के बालक ऐसे नहीं होते। ऐसे स्वस्थ मन के बच्चों के विषय में हम आगे लिखेंगे। बालकों की उक्त मनोदशा चाहे काल्पनिक रूप से काव्यमय प्रतीत हो, परन्तु वास्तव में तो यह रोगी मन का ही लक्षण है। इस रोगी मनोदशा का उन्हें भान नहीं और हम इस चंचलता को ही बच्चे की सच्ची और स्वस्थ मनोदशा मान बैठते हैं।

हम इस बौद्धिक और भावना–विषयक बहिर्मुखता (रोगीदशा) के भिन्न–भिन्न प्रकारों पर पृथक्–पृथक् विचार करते हैं।

(१) प्रत्येक समय बालक कुछ न कुछ निरर्थक बोलता रहे।

(२) बालमंदिर में या घर पर एक के बाद दूसरी तीसरी काम की वस्तुओं को लेता–रखता रहे। किसी भी छोटे–बड़े बौद्धिक अर्ध-बौद्धिक अथवा यांत्रिक कार्यों (इस उम्र के बालकों को यांत्रिक Mechanical and Muscular कामों का शौक होता है) में मन केन्द्रित न होता हो।

(३) मॉण्टेसोरी के योग्य साधनों का दुरुपयोग करना।

(४) बहुत बार तो साधनों का उपयोग होता जान पड़े; परन्तु तदनुकूल परिणाम प्राप्त न हो। खराब लिखना–पढ़ना; भूल करना, चित्रकाम में अर्थहीन आकृतियाँ बनाना और बिना ध्यान दिये रेखा खींचना।

(५) पुस्तक, कागज आदि साधनों के

प्रति बहुत ही उपेक्षाभाव दिखाना। वस्तुओं का तोड़ना-फोड़ना, नाजुक और सँभालवाली चीजों के लेने-देने में अपने ऊपर से विश्वास खो देना। ऐसे काम करने से एक अदृष्ट आह्वानरूप वृत्ति जो प्रत्येक बालक में होती है, उसका दर्शन ही न होना।

(६) मन और शरीर की शांति भी चली जाय। स्थिरता का न रहना। बड़ों की तरह दाँड़ना-चलना, ध्यान खींचनेवाला हावभाव दिखाना। प्रायः सभी बालकों में काम की जो धीरता-गंभीरता रहती है उसके बदले कृत्रिम उतावलापन दिखाना। चिड़-चिड़ा, रोनेवाला और बात-बात में फर्याद करनेवाला हो जाना।

सब से अंतिम और आवश्यक बात उनके सामाजिक पक्ष की है। ऐसे बालकों में बड़ों के निकट रहने की भूख बढ जाती है। बिल-कुल स्वच्छन्दता, वाचालता, शारीरिक सम्पर्क, प्यार, अप्रसन्नता, बोलना न बोलना, उत्तर न देना, शरमाना आदि-संक्षेप में जिस जाति (Sex) के बालक हों, उस जाति के बड़ों में उस समय के समाज में विद्यमान लक्षणों का सीधा अनुकरण और अनुसरण दीख पडता है। यह बहिर्मुखता का एक बडा और बहुत ही सीधा लक्षण है।

ऐसे बालक प्रत्येक समय मानों बडों के ध्यान के मध्यबिन्दु में ही रहना चाहते हैं और सभी प्रकार से ध्यान खींचने की चेष्टा किया करते हैं। अंत में यदि और भी कुछ न हो तो रोकर, लड़कर, झगड़कर और रोगी बनकर बड़ों का ध्यान खींचा करते हैं।

बहिर्मुखता का यह सामान्य प्रकार कहा जा सकता है। इस में बालक की परिस्थिति, उम्र, वातावरण और वृद्धि के सभी दूसरे कारणों द्वारा जितना परिवर्तन हो उतना अच्छा है।

शिक्षकों और माँ-बापों को इन लक्षणों के प्रति सजग रहना आवश्यक है। घर में विशेषतः बालकों की सामाजिक प्रवृत्तियों में से विशेष प्यार के कारण, अनुचित रूप से काम में ली गई क्रियाशक्ति के कारण, ऐसे परिणाम आते हैं। इनके विषय में माता-पिता को सावधान रहना जरूरी है।

सामान्यतः स्वस्थ-मन के बालकों का मुख्य लक्षण आत्मलक्षीपन और अपनी धून में मस्त रहना है। बालक को बढ़ना है। अपने शरीर और मन की क्रिया-प्रक्रिया (Reflex-es) में ही उसका मन लगा होता है। अपने आसपास के वातावरण को मानों उसे मापना है-जीत लेना है, या अपना बनाना है। इस लिये उसे प्रत्येक वस्तु के साथ पैसे आदि के विषय में बड़ों की तरह गंभीर हो जाना चाहिए। यही कारण है कि उनमें से चंचलता अदृश्य हो जाती है।

बालमंदिर के संचालकों को ऐसा अनु-भव बहुत बार होता है। नये आनेवाले चंचल बालकों के प्राण को जब प्रबोधक साहित्य का प्राण पुकारता है, तो उनका भटकनेवाला मन

पीछे लौटता है। उसमें स्थिरता-एकाग्रता आ जाती है। इसके फलस्वरूप वह प्रफुल्लित और आनंदित जान पड़ता है। उसकी वृद्धि का मार्ग खुल जाता है और वह प्रगति के पथ की ओर बढ़ने लगता है। शरीर और मन की शक्तियाँ जो अभी तक व्यर्थ और क्षयकारी (Wasteful) ढंग से काम में आरही थीं, उनके सुयोग्य मार्ग की ओर मुड़ते ही बालक स्वस्थ और सुखी हो जाता है। उसका निरीक्षण गंभीर, एवं कार्य शांत, सरल और निर्विघ्न जान पड़ते हैं। उसके स्वभाव में धैर्य तथा गंभीरता आजाती है। अन्य लोगों के साथ उसके सामाजिक संबंध भी आवश्यकता के अनुरूप, मर्यादित और सुभगतापूर्ण (Graceful) हो जाते हैं। ऐसे बालक अधिक शरमीले भी नहीं रहते और न लज्जा को छोड़ कर मेहमान आदि से चिपट ही जाते हैं। वे तो केवल समुचित आर सौम्य भावनाएँ ही प्रदर्शित करते हैं। माँ-बाप के साथ अनुचित प्यार, हठ या विरोध का व्यवहार न करते हुए गंभीरता, समझ और उत्तरदायित्व पूर्ण व्यवहार करते हैं। दिये हुए कामों को प्रसन्न मन से गंभीरता-पूर्वक करते हैं। कार्य की ओर ही इनका आकर्षण होता है। ये किसी की प्रशंसा या भले-बुरे की अपेक्षा नहीं रखते।

बालमंदिर में भी ऐसे बालक सच्ची स्वतंत्रता से घूमते मालूम होते हैं। वे शुद्ध और विकासक प्रवृत्तियों की ओर ही आकर्षित हो सकते हैं।

यह बहिर्मुखता का एक प्रकार है। प्रत्येक माता-पिता और शिक्षक को इसके विषय में सावधान रहना चाहिए, यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा।

अनु०-नूतन न.

'देख कर दंग रह गया'

उस दिन भोजन का घंटा लगने से पहले ही मैं खाना खाने के लिये भोजनालय में चला गया। मैं खाना खा ही रहा था कि इतने में एक लड़की वहां आई। उसकी उम्र कोई छः सात वर्ष की होगी। उसने पास में एक बड़े पट्टे पर रक्खी हुई थालियों में से एक एक थाली उठानी शुरू की और उनको एक कतार में रखने लगी। थोडी देर में उसने सब थालियों को व्यवस्थित रूप से यथा स्थान रख दिया। वह इतनी सावधानी से थाली को उठाती थी कि जरा भी अवाज नहीं होता था। थाली रखने के बाद वह बड़ी गंभीरता से देखती थी कि थाली बिलकुल सीध में है या नहीं। अगर उसे कतार टेढ़ी लगती थी तो फिर थाली को उठाकर धीरे से उसे ठीक कर देती थी। इस प्रकार दो लंबी कतारों में उसने सब थालीयों को सजा दिया।

इतने छोटेसे बालक में इतनी व्यवस्था और कलायुक्त दृष्टि मैंने कभी देखी नही थी। सचमूच वह दृश्य देखकर मैं दंग रह गया! बं०

मुद्रक व प्रकाशक : पु. आ. [illegible], आत्माराम मुद्रणालय, खारीबाव रोड, बडोदा
कार्यालय : महाजन गली, [illegible]नमंदिर, रावपुरा, बडोदा ७ : १० : ४४

[नामदार बड़ौदा सरकार का हुकम नंबर D 6/4 ता. २३-८-४४ की मंजुरी से]
इंदौर, बीकानेर, जोधपुर, देवास, बड़वानी, बंबई, मध्यप्रान्त-बरार, पंजाब, बिहार, यू०पी० और उड़ीसा की सरकारों के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत।

आद्य संपादक :
स्व० गिजुभाई

वार्षिक मूल्य :
देश में, एक रुपया
विदेश में, दो शिलिंग

हिन्दी शिक्षण पत्रिका

संपादक :
श्री० ताराबहन मोडक

सहसंपादक :
श्री० बन्सीधर
श्री० काशिनाथ त्रिवेदी

(माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र)

वर्ष ११ वाँ] अक्टोबर १९४४, अश्विन २००० [अंक १ ला

बालकों को रुचिकर और उनके स्वभावानुकूल सात्विक भोजन की आवश्यकता को माता-पिता स्वीकार करने लगे हैं, यह बड़े आनंद की बात है। परन्तु उनकी बौद्धिक भूख को शांत करने के लिये उन्हें सुन्दर चित्र, मनोहर खिलौने और विशेष रूप से कथा-कहानियों की मनोरंजक पुस्तकें देने की आवश्यकता को अभी तक उन्होंने स्वीकार नहीं किया, यह बड़े खेद की बात है।

इस दशा में बालक यदि संकुचित बुद्धि के रह जाँय तो किसको दोष दिया जायगा?

व्यवस्था बड़ी या स्वयंस्फूर्ति?

बालक अपना काम पूरा करने पर खड़ा होता है। काम के लिये ली हुई 'गट्टा पेटी' को यथास्थान रखना भूल जाता है। वह गट्टों को भी ज्यों का त्यों वहीं छोड़ कर जाने लगता है। शिक्षिका धीरे से उसके पास जाकर उसका ध्यान इस ओर आकर्षित करती है। बालक गट्टों को 'गट्टापेटी' में ठीक-ठीक रख कर उसे यथास्थान रख देता है अथवा ठीक रखते रखते उसीमें तल्लीन हो जाता है।

अवलोकन करनेवाला इस समय प्रायः उलझन में पड़ जाता है। उसे शंका होती है कि शिक्षिका का बालक को रोकना क्या उचित है? बालक में दूसरा काम करने की जिस स्वयंस्फूर्ति का आविर्भाव हुआ था, उसे अवकाश दिया होता, उसे जाने की छुट्टी देकर—वह क्या करना चाहता है—उसने यह देखा होता तो क्या हानि थी? बालक को रोककर उससे गट्टापेटी ठीक करके रखाने में क्या शिक्षिका का बालक की स्वयंस्फूर्ति पर आक्रमण किया नहीं माना जा सकता? कहने का अभिप्राय यह है कि शिक्षण की दृष्टि से व्यवस्था बड़ी या स्वयंस्फूर्ति?

इस प्रश्न पर विचार करने के लिये नूतन बालशिक्षकों का एक छोटा-सा सम्मेलन अगस्त मास में बंबई में हुआ था। उस समय इस विषय पर बहुत कुछ विचार हुआ था। उस विचार का आधार संक्षेप में नीचे लिखे अनुसार माना जा सकता है :-

(१) सच्ची स्वयंस्फूर्ति छोटी-बड़ी सामान्य रुकावटों से रोकी या दबाई नहीं जा सकती।

(२) वर्ग- (कक्षा) संबंधी व्यवस्था के नियमों का जानना बालक के लिये अनिवार्य है। बालक का ध्यान खींचने पर भी यदि वह साधन को यथास्थान रखने से इन्कार करे तो "चलो, हम साथ चलकर रखवा दें," इस प्रकार कह कर शिक्षिका को उसके साथ वह साधन रखवाने में लग जाना चाहिए। परन्तु बालक को यह बात तो ठीक-ठीक समझा ही देनी चाहिए कि "साधन यथास्थान" का नियम अमिट आर अटल है।

(३) इतने पर भी यदि बालक साधन छोड़ कर चला जाय तो उसे तुरंत रोकने के बदले दो-तीन मिनट तक शिक्षक को यह जानने के लिये कि वह क्या करता है, प्रतीक्षा करनी चाहिए।

(४) सामान्यतः बालकों में व्यवस्थित रहने की आदत सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार लिए हुए साधन को यथास्थान रखने के उत्तरदायित्व की बुद्धि भी उनमें जागृत नहीं होती। यही कारण है कि वे काम पूरा होने पर साधनों को ज्यों का त्यों छोड़ कर चले जाने लगते हैं। ऐसे बालकों को साधन लेने के नियम और उनके उपयोग का ज्ञान शिक्षक को करा ही देना चाहिए। यह सच है कि इसके लिये व्यक्तिगत काम के बदले सामूहिक पाठ रखना अधिक उत्तम है। फिर भी बार-बार के समूह-पाठों के बाद जो बालक भूल जाते हों, उनका व्यक्तिगत ध्यान खींचना भी आवश्यक है। ऐसे उदाहरणों में पाठ प्रस्तुत करते समय शिक्षक को कह देना चाहिए कि, "बहुत-से बालकों को यह बात याद नहीं रहती; इस लिये कल काम के समय फिर याद दिलाई जायगी।"

(५) बहुत-से बालक मनमौजी होते हैं। वे इस बात में बड़े बेपरवाह होते हैं। याद दिलाते समय ऐसे बालक कहते हैं, "इसे आपही रख दीजिये। मैं नहीं रखता।" यदि ऐसा नहीं कहते तो बिना कुछ उत्तर दिये ही चले जाते हैं। ऐसे बालक दूसरे दिन जब साधन लेने आयें तो उन्हें पहले ही साधनों के उपयोग के नियम बता देने चाहिएं। उनसे कह देना चाहिए कि "खेल पूरा होने के बाद साधन यथास्थान रख दोगे ? यदि रक्खोगे तो साधन मिल सकेगा !" इस नियम का पालन विनम्र-भाव किन्तु दृढ़ता के साथ करना चाहिए।

(६) व्यवस्था या नियमन बालविकास के विरोधी नहीं, वरन् उसके सहायक हैं। नियमन से सब काम सरल बन जाता है। उसमें गड़बड़ नहीं होती और न घबराहट ही पैदा

होता है। नियमन बालक के बौद्धिक विकास में सहायक बन कर सामाजिक जीवन में अति आवश्यक सिद्ध होता है। इसीसे बालमंदिरों में व्यवस्था अथवा नियमन का मुख्य स्थान है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर व्यवस्था और स्वयंस्फूर्ति एक-दूसरे के विरोधी नहीं, वरन् परस्पर सहायक हैं। बिजली की चमक के समान स्वयंस्फूर्ति केवल क्षणिक वस्तु नहीं। इसके साथ ही हमें यह भी न भूल जाना चाहिए कि व्यवस्थित वातावरण में ही स्वयं-स्फूर्ति सम्यक् रूप से कार्य समर्थ बनती है।

—ता.

अनु०—'नूतन'

पितू

मैं स्कूल जा रहा था। गली के मोड़ पर पीताम्बर मिला। पसीने से तरबतर। हाँफता हुआ। मैंने पूछा—"क्यों रे पीतू, दौड़ता क्यों है? क्या कोई एक्सप्रेस छूटा जा रहा है?"

एक बुजुर्ग से अचानक यों मुलाकात और ऐसा अजीब सवाल! पीतू झेंप गया। कान खुजलाते खुजलाते बोला—"जी, दौड़ना भूला जा रहा हूँ। यहाँ (शहर में) सीधी सड़क या खुला मैदान तो मिलते नहीं कि दौड़ने की इच्छा पूरी हो। सो, मन मचला करता है, देहाती मैदानों की याद में! क्या करूं? किसी तरह मन को समझा बुझा देता हूँ। गलियों का दौड़ना भी क्या कोई दौड़ना है।"

मुझे पीताम्बर का उदास चेहरा अखरा। उसकी पीठ थपथपाते हुए मैंने कहा—"अच्छा, लगा ले दौड़ भाई, देहाती मैदान यहाँ कहाँ से पाएगा।" और वह फिर दौड़ने लगा। थोड़ी ही देर में मेरी निगाह से ओझल हो गया।

उस दिन पीतू की बात से हुआ यह कि घनी आबादी के प्रति पहले ही जो मेरी घृणा थी वह और भी गहरी हो गई।....एक नहीं, लाखों पीतूओं को गलो घुट रहो हैं, फिर भी शिक्षित व्यक्ति देहात छोड़ छोड़ शहरों की ओर ही सपरिवार सरके आ रहे हैं। गंदगी, अविद्या, दरिद्रता और रक्षा का कुप्रबन्ध—इन सब बातों ने आज देहातों को अवश्य ही नगरों की तुलना में 'नरक' बना दिया है। लेकिन ज़रा इन 'स्वर्गों' की ओर तो देखिए!

कुछ बड़े बड़े शिक्षाप्राप्त और सुविधा-प्राप्त बापों की बात छोड़िए; फिर सोचिए कि शहरों में आकर बस जानेवाले निम्नवित्त और मध्यवित्त बापों के बेटे खुली हवा में सांस लेने, बड़े मैदानों में दौड़ लगाने, लहराते खेतों की ठंडी हरियाली देखने के लिए कैसे तरसते होंगे!

और, अब तो स्कूल तथा शालाएं भी घनी आबादी के नजदीक हुआ करती हैं कि लड़कों को आने-जाने में सुविधा हो। बहुत हुआ तो छुट्टी के रोज़ लड़के ज़रा दूर जाकर सैरकर आनेके लिए घरवालों से छूट पाते हैं। बड़ों की बात कुछ न पूछिए। ऐसे लाखों नागरिक हैं जो विस्तृत नीला आसमान तक सालों से नहीं देख पाते हैं। आगे चलकर ये नागरिक धन और मान के पीछे ऐसे पागल हो जाते हैं

कि पूर्णिमा की चांदनी, सांझ का पच्छिमी आकाश, अमावस के झिलमिलाते तारे, धरती की हरियाली, शिशुओं की मुस्कान तक भूल बैठते हैं।

इस सब का नतीजा यह हो रहा है कि हमारे सभी नागरिक-बच्चे मरियल, कमजोर दिलवाले और ज़रा सी सर्दी-गर्मी से घबरानेवाले देखे जाते हैं। किसी लड़के ने साहस कर के अपने पालक (गार्डीयन) से अगर कहा भी कि तैरना सीखूंगा, देहात घूमने जाऊंगा या नावपर चढ़कर समुद्र की लहरों से खेलूंगा या रेगिस्तान की सैर करूंगा तो धमकी, निराशा या जाने क्या क्या उसके सामने खड़ी कर दी जाती हैं!

पीताम्बर मारवाड़ का रहनेवाला है। १६ बरस का किशोर। हँसमुख। फुर्तीला। सही है कि 'पढ़ने-गुनने' में उसका मन नहीं लगता है; लेकिन मैं उससे निराश नहीं हूँ। पूछने पर वह कहेगा-" क्या होगा पढ़कर? किसी एक जगह (स्कूल की तरफ इशारा है) तीन घंटा बैठना मुझसे क्या पार लगेगा? अरे, कोई मुझे हवाई जहाज चलाना सिखा देता!"

फिर पीतू का भाई बोल उठेगा-" इस के करम में पकौड़ा बेचना या कोई और सामान लेकर फेरी लगाना लिखा है। पीतू पढ़ जाए तो धरती न फटे!"-

" हाँ हाँ, तुम्हारे 'बालबोध' से पकौड़ा बेचना कहीं बेहतर है। सो मुझे मंजूर है।"-पीताम्बर जोर देकर कहने लगेगा-" पढ़ना भी कोई पेशा है?"

" वाह भई वाह! क्या खूब कही!"-मैं ऐसे मौकों पर पीतू की पीठ थपथपा दिया करता और वह मुस्कराने लगता।...

...अब वह एक हलुआई की दूकान में काम करता है। कई तरह की मिठाइयाँ बनाना सीख गया है। सचमुच पीतू रचनात्मक प्रवृत्ति का लड़का है। उसे केवल पढ़ना, सिर्फ पढ़ना कैसे भाएगा!...बीच बीच में भाग भागकर वह मारवाड़ की हवा खा आता है और सांड़नी की सवारी कर आता है। पीताम्बर मरियल नहीं, जिंदा लड़का है। उसका दिल बंदिशों से बगावत करता रहता है।

—नागार्जुन

समाचार

गत अगस्त में ६ तारीख को बम्बई में भगिनी समाज बालमंदिर में एक छोटासा नूतन बालशिक्षकों का मिलन थी. ताराबहन मोडक और श्री. सरोजबेन योध के प्रस्ताव से मिला था। यहां कई प्रश्नों पर विचारविनिमय हुआ जिसमें आज के अंक में दिया गया व्यवस्था बद्दी या स्वयंस्फूर्ति का भी एक अगत्य का प्रश्न था।

तारीख ९-१० अक्तूबर को आणंद (गुजरात) में चरोतर एज्युकेशन सोसायटी के प्रस्ताव से एक और बालशिक्षक मिलन हुआ।

मुद्रक व प्रकाशक : पु. आ. चित्रे, आत्माराम मुद्रणालय, खारीबाव रोड, बड़ोदा
कार्यालय : महाजन गली, ज्ञानमंदिर, रावपुरा, बड़ोदा ७ : १० : ४४

[नामदार बडौदा सरकार का हुकुम नंबर D 6/4 ता. २३-८-४४ की मंजुरी से]

इंदौर, बीकानेर, जोधपुर, देवास, बड़वानी, बंबई, मध्यप्रान्त-बरार, पंजाब, बिहार, यू० पी० और उड़ीसा की सरकारों के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत।

आद्य संपादक: स्व० गिजुभाई

वार्षिक मूल्य: देश में, एक रुपया; विदेश में, दो शिलिंग

संपादक: श्री० ताराबहन मोड़क.

सहसंपादक: श्री० बंसीधर, श्री० काशिनाथ त्रिवेदी

हिन्दी शिक्षण पत्रिका

(माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र)

वर्ष ११ वाँ] नवेम्बर १९४४, कार्तिक २००० [अंक २ रा

आनंद का समाचार

हमारे प्रिय ग्राहकों को सूचित करते हुए हमें अत्यन्त आनन्द होता है कि-'शिक्षण-पत्रिका' के लिये न्यूज प्रिन्ट कागज़ का उपयोग करने की स्वीकृति देहली के भारत सरकार के कागज-नियामक-ऑफिसर द्वारा मिल गई है। इसलिये जनवरी १९४५ से (और यदि हो सकेगा तो दीसेम्बर १९४४ से ही) 'शिक्षणपत्रिका' के सभी अंक-न मात्र ४ पृष्ठ या १२ पृष्ठों के, किन्तु सन १९४१ में और उससे पूर्व प्रकट होते थे वैसे-संपूर्ण १६ पृष्ठों में प्रकाशित होंगे।

इसीलिये हमारी सभी ग्राहकों से आग्रह-पूर्वक नम्र प्रार्थना है कि वे अपना वार्षिक मूल्य रु. १-८-० शीघ्र ही भेजने का कष्ट करें।

इस कारण 'पत्रिका' के अंक की वी. पी. करना इस महीने स्थगित रखकर दीसेम्बर में वी. पी. करना निश्चय किया है। आशा है कि तबतक रु. १॥ जिन ग्राहकों ने नहीं भेजा होगा, वे अपनी वी. पी. अवश्य प्रेम-पूर्वक छुडाकर, 'पत्रिका' के ग्राहक बने रहकर -शिक्षणकार्य में हमें सहायभूत होंगे।

-संपादक

बच्चों का भय कैसे दूर हो ?

(वर्ष १०, अंक ७, पृष्ठ ८२ से आगे)

मनोवैज्ञानिकों के कथानुसार सम्मुख उपस्थित व्यक्ति की मुख-मुद्रा देखकर अथवा भयानक चीख सुनकर भी बालकों के मन में डर बैठ जाता है। सिनेमा या नाटक देखते समय हम स्वयं भी इस प्रकार का अनुभव करते हैं। पर्दे के ऊपर नायक-नायिका के मुँह पर या किसी पात्र के चेहरे पर भय की छाया देखते ही हमारा दिल धड़क उठता है। इस प्रकार के भय-पूर्ण भावों का दर्शन बालकों में अधिक स्पष्टता से होता है। दो-ढाई वर्ष का बालक आनंद में मग्न हो खेलता हो और यदि उसके पास हम अपनी घबराहट को प्रकट कर दें, तो बालक भी तुरन्त भयभीत हो जायगा और प्रायः रोने लगेगा। फिर हमारा यह भी

प्रतिदिन का अनुभव है कि जिस बालक की माता या भाई-बहन डरपोक होते हैं वह स्वयं भी डरपोक ही बनता है। इसके साथ ही यह बात भी है कि जिन-जिन बातों से माता या भाई-बहनें डरते हैं, उन्हीं से बालक भी डरने लगता है। मेरी एक सहेली का उदाहरण इसी प्रकार का है। चौमासे में बादलों की गड़-गड़ाहट सुनते ही अथवा बिजली की चकम देखते ही वह इस उम्र में भय से काँप जाती है। उसकी यह भयभीत मनोदशा उसके बालकों में भी देखी जाती है। बादलों की गर्जना, बिजली का कड़कना अथवा चमक से उसके बालक भी भयभीत होकर चीख उठते हैं या दौड़कर घर में घुस जाते हैं।

मेरा अनुभव इसके बिलकुल विपरीत है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि मैं बचपन में निडर-वृत्ति की थी; फिर भी बादल की गर्जना से मैं डरती नहीं थी। मेरा यह विश्वास है कि मेरे इस साहस का श्रेय मेरी संभाल करनेवाली बहन को है। वर्षाऋतु में बादल के गरजते ही वह मुझसे कहा करती कि "देखो अब आकाश में बुढ़िया चने भूनेगी"। इसके सुनते ही डरने के बदले मैं सोचने लगती कि "बादल में बैठी वह बुढ़िया कितनी बड़ी होगी? उसकी भट्ठी कितनी विशाल होगी? इतने अधिक चनों की दाल वह किस के लिये दलती होगी?" इस विचित्र कल्पना का मुझे यह लाभ हुआ कि प्राकृतिक घटना को घर की स्वाभाविक घटना से उपमा देने के कारण, मैंने यह मान लिया कि इसमें डरने का कोई कारण नहीं। बहुत-सी स्त्रियाँ कुत्ता-बिल्ली से भी डरती हैं। इसके फलस्वरूप उनके बच्चे भी डरने लगते हैं। इससे उलटा उदाहरण हमारी कमु बहन का है। कमु की माता को कुत्ते-बिल्ली के बच्चों को खेलाने का बड़ा शौक है। वह उन्हें गोदी में बैठा लेती हैं—सिरपर चढ़ा लेती हैं और कंधे पर भी चढ़ा लेती हैं। यही कारण है कि कुत्ते-बिल्ली को देखकर कमु को कभी डर नहीं लगता।

भय, एक संक्रामक रोग की तरह है। यदि इस रोग से दूसरों को दूर रखना हो—बच्चों को भय से मुक्त रखना हो तो पहले माताओं को अपना भय दूर करना चाहिए। यदि और भी नहीं तो इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि भय लगते समय उसके विषय में (छोटे से छोटे दूध पीते बालक जैसे) बच्चों के सामने भी किसी भी प्रकार का भय-प्रदर्शक भाव हमारे मुँह पर या और किसी तरह से प्रकट न होना चाहिए। इसके अति-रिक्त यह भी जाँच करलेनी चाहिए कि हमारे बालकों के मित्रों में कोई भी डरपोक बालक न आजाय।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि भय का दूसरा कारण अज्ञान है। अँधेरे में बच्चों को डर लगना इस बात का उदाहरण है। बहुत-से बालक अँधेरे कमरे में जाते हुए, वहाँ से कुछ लाते हुए, रात को अँधेरे में नाली पर पेशाब करते हुए अथवा अँधेरे में अकेले रहते हुए बहुत डरते हैं। हम यह तो मानते

हैं कि इस प्रकार का भय बालकों में न घुसना चाहिए। परन्तु इस भय को दूर करने के लिये प्रयोग में आनेवाले उपाय बहुत ही घातक और विचित्र होते है। डरनेवाले बालक का उपहास करने से अथवा उसको डराने-धमकाने या सज़ा देने से उसका भय दूर नहीं होता। ऐसे उपायों से बालक विवश होकर हमारे कहने के अनुसार अँधेरे में अकेला चला भी जाय तो फिर लौटने पर बहुत देर तक उसका भय दूर नहीं होता—उसके दिल की धड़कन नही जाती। इसके अतिरिक्त बड़ों के डराने या मारने से बालक एक-दो बार इस अग्नि-परीक्षा में से सफल हो जाय, तो भी उसके मन से भय सदा के लिये दूर नहीं होता। "काँटे से काँटा निकलता है" यह कहावत केवल काँटा निकालने तक ही सत्य है; परन्तु डराने-धमकाने से बालक का भय नाश नहीं होता। इसका परिणाम तो बिलकुल उलटा हो जाता है और हम जिस भय को दूर करना चाहते हैं, वह स्थायी बन बैठता है। इसका सच्चा उपाय यह है कि अंधेरे से डरने की कोई बात ही नहीं, यह डर बिलकुल निरर्थक है, यह विश्वास बालकों को खूब समझाकर करा देना चाहिए। इसके लिये बालक को साथ लेकर हम अँधेरे में बार-बार आयें-जायें तो हमारी बात उसकी समझ में आसकती है। फिर भी बालक यह मानते हैं—बड़ों के साथ उनकी अंगुली पकड़ कर अँधेरे में जाते हुए कुछ न भी तो अकेले जाने से 'हउआ' जरूर कुछ न कुछ कर डालेगा! अँधेरे से डरनेवाले बहुत से बालकों को मैं अच्छी तरह जानती हूँ और मैंने कुछ उपायों-द्वारा उनमें से बहुतों का भय दूर किया है। ऐसे दो-तीन उपाय उदाहरण के लिये नीचे लिखे जाते हैं।

कमला बहन छ वर्ष की है। अँधेरे में जाकर करने को कोई काम दिया जाने पर वे घबरा जाती थीं। उनके पिता समझदार व्यक्ति हैं। जन्मदिन पर उन्होंने कमलाबहन को उपहार के रूप में एक छोटी-सी 'टॉर्च' लाकर दी और कहा, "देखो, जब कभी अँधेरे में जाना पड़े तो टॉर्च लेकर जाना। कोने में या पलंग के नीचे कुछ छिपे रहने का सन्देह हो तो तुरंत टॉर्च लगाकर देख लेना।" कमला-बहन को यह टॉर्च बड़ी सहायक सिद्ध हुई। शुरु-शुरु में अँधेरे में जाते हुए वह बार-बार टॉर्च लगाती; परन्तु धीरे-धीरे उन्हें यह विश्वास हो गया कि जहाँ-जहाँ भय लगता था वास्तव में वहाँ भयवाली कोई वस्तु नहीं। इस प्रकार महीने डेढ़ महीने में उनका अधिकांश भय जाता रहा।

दूसरा उदाहरण वसन्त का भी इसी प्रकार का है। अंधेरे में जाते हुए वह भी बहुत डरता था। उसका भय दूर करने के लिये उसके चाचा ने नीचे लिखा उपाय काम में लिया। वे शाम को घर लौटते हुए वसन्त को अच्छा लगनेवाला कोई खिलौना या खाने की कोई वस्तु एक-दो आना खर्च करके ले आते। रात को भोजन के बाद जब सब बैठे होते तो वे बड़े स्वाभाविक ढंग से वसन्त से कहते, "वसन्त! मैं तुम से कहना ही भूल गया।

आज मैं एक बहुत सुन्दर लट्टू लाया हूँ; परन्तु वह मेरे कोट की जेब में ऊपर रह गया है। क्या तुम जाकर ले आओगे ?" वसन्त को लट्टू लेने की इतनी प्रबल इच्छा होती कि वह अँधेरे में डरने की बात को भूल ही जाता और दौड़कर ऊपर से अपने चाचा की जेब में से बड़ी खुशी के साथ वह वस्तु ले आता। इसके फलस्वरूप उसकी अँधेरे से डरने की आदत जाती रही। (अपूर्ण)

अनु०-' नूतन ' सुलभाबाई पाणंदीकर

आप भी झूठ बोलते हैं क्या ?

पांचवां घंटा बज चुका था। अध्यापक के पास दो कक्षाएं थीं। एक कक्षा में बड़ी उम्र का एक ही विद्यार्थी था। उसकी परीक्षा समीप थी। जल्दी से कोर्स खतम कराना था। दूसरी कक्षा छोटे बालकों की थी। अध्यापक ने छोटे बालकों से कहा-" अपना सबक मन मन में दो बार पढ़ जाओ। फिर उसको स्लेट पर लिख डालो।" एक बालक ने सवाल किया-"कितना लिखें जी ! पूरी स्लेट भरें या कुछ कम ?" अध्यापक महोदय बड़े विद्यार्थी को पढ़ाने में तल्लीन थे। उनके मुंह से निकल गया कि जितना आये उतना ही लिख डालो। बालक लिखने लगे। १५ मिनट के बाद एक बालक आधी से ज्यादा स्लेट लिखकर मास्टर साहब के पास पहुँचा। मास्टर साहब पढ़ाने में संलग्न थे। उनकी इच्छा थी कि १५ मिनट तक बालक और लिखते रहें तो अच्छा होगा। इस लिये उन्हों ने लड़कों से कहा-" भाई ! यह तो बहुत कम है। कुछ और लिखो। स्लेट को दोनों ओर से भर डालो "। यह सुनकर वह लड़का लौट तो गया। लेकिन मुस्कराते हुए उसने मास्टर साहब से कहा—" आप भी झूठ बोलते हैं क्या ?" मास्टर साहब चौंक पड़े। उन्होंने पूछा—" क्या कहा ?" बालक ने फिर वही कहा—" आप भी झूठ बोलते हैं क्या ? अभी जब मैंने आप से पूछा था तो आपने कहा था कि जितना आता हो उतना ही लिखो। और अब आप कहते हैं कि दोनों तरफ लिखो।" मास्टर साहब समझदार थे। हँसकर बात को टाल दिया और अपनी गलती को महसूस किया।

—बं०

अहमदाबाद (गुजरात) में मोन्टेसौरी प्राथमिक अभ्यासक्रम

डॉ. मेरीआ मोन्टेसोरी और मिस्टर मेरीओ मोन्टेसोरी दिसम्बर १९४४ से साडेतीन मास के लिए सरकार की परवानगी मिलने पर अपना "छठा मोन्टेसोरी प्रायमरी कोर्स " अहमदाबाद में शुरू करेंगे। वर्ग में शामील होनेवाले उमेदवारों के लिए इंग्लिश भाषा का अच्छा-ज्ञान आवश्यक है। वर्ग के प्रोस्पेक्टस (अभ्यासक्रम की नियमावलि) और प्रवेशपत्र के लिए आठ आने के पोस्टेज स्टेम्प भेजकर निम्न पते पर पत्रव्यवहार करें।

श्री. सरलादेवी साराभाई
श्री रीट्रीट,
पो० शाहीबाग
(अहमदाबाद)

मुद्रक व प्रकाशक : पु. आ. चित्रे, आत्माराम मुद्रणालय, खारीबाव रोड, बड़ोदा
कार्यालय : महाजन गली, ज्ञानमंदिर, रावपुरा, बडोदा ७ : ११ : ४४

इंदौर, बीकानेर, जोधपुर, देवास, बड़वानी, बंबई, मध्यप्रान्त–बरार, पंजाब, बिहार, यू०पी० और उड़ीसा की सरकारों के शिक्षा-विभागों द्वारा स्कूलों, पुस्तकालयों और वाचनालयों के लिए स्वीकृत।

आद्य संपादक :
स्व० गिजुभाई

हिन्दी
शिक्षण–पत्रिका

संपादक :
श्री० ताराबहन मोड़क

सहसंपादक :
श्री० बंसीधर
श्री० काशिनाथ त्रिवेदी

(माता-पिताओं और शिक्षकों का एकमात्र मासिक पत्र)

वार्षिक मूल्य : देश में, दो रुपये; विदेश में, तीन शिलिंग

वर्ष ११ वाँ]   दिसम्बर १९४४, मार्गशीर्ष २०००   [अंक ३ रा

स्वतंत्रताकी शिक्षा

जो मातापिता या शिक्षक बालकों को सब तरह की शिक्षा देते हैं पर एक विशेष प्रकार की शिक्षा से उन्हें वंचित रखते हैं, वे बालकों के दुश्मन हैं।

यह शिक्षा निडरता और स्वतंत्रता की शिक्षा है।

निडर और स्वतंत्र बालक सब कुछ पढ़ा है। डरपोक और पराधीन बालक अनपढ़ से भी अधिक अनपढ़ है, मूर्ख है और पामर है।

शिक्षको और मातापिताओ! इस युगधर्म को आप न भूलिये।

पत्रिका के वर्षारम्भ में परिवर्तन

हिन्दी 'शिक्षणपत्रिका' की शुरुआत से ही उसका वर्ष अक्तूबर मास से गिना जाता है। सन १९४० में संघका विधान निश्चय करने के बाद से संघ का वर्ष जनवरी से गिना जाना निश्चित हुआ है। संघ की तरफ से हिन्दी के सिवाय गुजराती 'शिक्षणपत्रिका' निकलती है, उसका वर्ष मार्च मास से और मराठी में 'शिक्षणपत्रिका' निकलती है, उसका वर्ष जून से शुरु होता है। ये तीनों भाषाओं की 'शिक्षणपत्रिका'एँ शुरु हुई तब वे अलग २ स्थानों से शुरु हुई थीं और उस समय की अनुकूलता के अनुसार उनके वर्ष अलग-२ महिनों से गिने जाते थे।

विधान बन जाने के बाद और संघ के सभ्य बनाने की योजना के बाद सभ्यों का चन्दा हर जनवरी से दिसम्बर तक गिना जाता है। इस तरह सभ्य का चन्दा और 'शिक्षणपत्रिका' का वार्षिक मूल्य अलग २ महिनों से गिने जाने से हिसाब में प्रतिकूलता रहा करती है।

सन १९४४ के अप्रेल मास में संघ का नया व्यवस्थापक मंडल चुने जाने के बाद की सभा में वर्ष का परिवर्तन करने का विचार किया गया था। किंतु उस दरम्यान 'शिक्षणपत्रिका' के ऊपर कागज़-नियमन-कानून की असर होने से उसका कलेवर नितान्त छोटा हो गया।

इससे इस परिस्थिति में परिवर्तन न हो तब तक कोई हेरफेर व्यवहार में लाने की इच्छा स्थगित रकखी गयी। अन्त में दिल्लीसे 'न्यूझ-प्रिन्ट' उपयोग करने की छुट्टी मिलते ही विचार हुआ कि अब पहिले का निर्णय कार्यरूप में रखने का अनुकूल समय है।

इस लिये हिन्दी 'शिक्षणपत्रिका' का ११ वाँ वर्ष जो अक्तूबर १९४५ से शुरु हुआ है, ३ महिने का गिना जाकर दिसम्बर में वर्ष समाप्त हुआ माना जायेगा। इसका १२ वाँ वर्ष १९४५ के जनवरी से गिना जायेगा। जो हाल ग्राहक हैं, उनकी पास से बीच के ११ वें वर्ष का वार्षिक मूल्य न लेने का निर्धार किया है। १२ वें वर्ष (जन. १९४५) से 'पत्रिका' का मूल्य बढ़ा दिया गया है। वह दो रूपया वार्षिक नियामित लिया जायगा। किन्तु जो हिन्दी 'पत्रिका' के नये ग्राहक होंगे, और यदि वे ११ वें वर्ष के ३ अंक भी लेना चाहेंगे तो उन्हें उसके सिर्फ ४ आने ज्यादह देने होंगे।

गुजराती 'शिक्षणपत्रिका' का १९ वाँ वर्ष है, वह दिसंबर १९४४ के १० वें अंक से पूरा वर्ष हुआ मानकर, जनवरी १९४५ से २० वाँ वर्ष शुरू होगा; जो पिछले ग्राहक ग्राहक बने रहेंगे, उनके पास से १० मास के मात्र १-८-० लेकर उन्हें १९४५ के दिसम्बर तक के ग्राहक गिने जायेंगे। किन्तु जो नये ग्राहक बनेंगे उन्हें तो २० वे वर्ष के प्रारंभ से ग्राहक माना

जायगा और उन्हे पूरा वार्षिक मूल्य दो रूपया देना होगा।

इसी प्रकार मराठी 'पत्रिका' के वर्ष में भी परिवर्तन कर उसका १२ वाँ वर्ष–जो जून १९४४ से शुरु हुआ है–दिसेम्बर १९४४ के ७ वें अंक से पूरा हुआ माना जायेगा। और १३ वाँ वर्ष जनवरी १९४५ से शुरु होगा। उसका चंदा सालिना ढ़ाई रूपये होगा।

संघ के सब सभ्य और ग्राहक वर्ग इस वर्ष के परिवर्तन की एकरूप साम्यता को सहर्ष स्वीकारेंगे ऐसी आशा है, और भविष्य में 'पत्रिका' के वार्षिक मूल्य का हिसाब इसी प्रकार करें ऐसी प्रार्थना है।

–संपादक

सजा

[अनुसंधान वर्ष १० अंक ९ पृष्ठ १०८ से]

बालकों के अपराध भिन्न–भिन्न प्रकार के होते हैं। झूठ बोलना, चोरी करना, आपस में मार पीट करना, दूसरे का काम बिगाड़ना, जानबूझकर तोड़–फोड़ करना, जोर से चिल्लाना अथवा समय पर काम न करना आदि अनेक प्रकार इन में आ जाते हैं। इनमें से कुछ अपराध नासमझी में हो जाते हैं, अर्थात् आदत के न होने से बालक ऐसी भूल कर बैठता है। कुछ अपराध आवेश में आ जाने से हो जाते हैं और कुछ बालक की विकृत मनोदशा के सूचक होते हैं। जहाँ विकृति हो वहाँ उसे रोग मानकर उसी ढंग पर उसका इलाज करना चाहिए। विकृतियों में भी अंतर हो सकता है; कुछ विकृतियाँ ज्वर, अजीर्ण या सिरदर्द जैसे सामान्य रोग का रूप धारण कर सकती हैं और कुछ निमोनिया और मोतीझला जैसे रोगों की श्रेणी में आ सकती हैं। कुछ विकृतियाँ अधिक समय से घर कर गई होने से चिरस्थायी हो जाती हैं। ऐसी विकृतियों के प्रदर्शन-काल में क्रोधित होना या शारीरिक सज़ा देना उचित नहीं–यह इसका सच्चा उपाय नहीं। इनका सच्चा उपाय तो विकृतियों के मानसिक उपचार में ही सन्निहित है।

प्रतिदिन की आदतों और सामान्य नियमों को पालन करने के लिये ऐसा होना चाहिए कि उनके पालन के विषय में बालकों के मन में ही लगन और आग्रह उत्पन्न हो। केवल कठोरता के साथ अमुक नियमों का पालन कराने से बालकों को इसका स्थायी लाभ नहीं होता। इसके लिये बालक ज्यों–ज्यों बड़े होते जाये त्यों–त्यों नियमों के बनाने में उनका सहयोग लेना चाहिए। ऐसा करने से उनके पालन की कठिनाई कम हो जाती है। यदि किसी कारण–वश कोई कठिनाई आ भी जाय तो उसका निराकरण बड़ी सरलता से हो सकता है।

संक्षेप में, सज़ा देने के विचार से दिया जाने वाला दंड कभी सफल नहीं हो सकता। अतः जो कुछ करना उचित है वह उसका पथ-प्रदर्शन अथवा उपचार है और इस उद्देश से जो भी व्यवहार किया जाता है उसे सज़ा कभी नहीं कहा जा सकता।

क्रोध आने पर या बालक का व्यवहार असह्य प्रतीत होने पर हमारे हाथ से सज़ा का दिया जाना स्वाभाविक बात है। इस दृष्टि से विचार करने पर सज़ा का समूल नाश तो हो ही नहीं सकता। कारण, बडे चाहे जितने समझदार होते हुए भी अंत में हैं तो मनुष्य ही और अपने ऊपर आनेवाली कठिनाइयों से स्वभावतः वे किं-कर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं—उलझन में पड़ जाते हैं। यह तो संसार में होता ही रहेगा। परंतु ऐसे अवसर घर में उपस्थित होने पर ही क्षम्य माने जा सकते हैं। घर के बड़ों और बालकों के पारस्परिक संबंध अति निकट के होते हैं। कुटुंब में एक-दूसरे की अप्रसन्नता सहन कर लेनी पड़ती है, अथवा पारस्परिक हित के लिये एक-दूसरे की सुख-सुविधा अथवा असुविधा को भी बाँटना होता है। यह तब पारस्परिक प्रेम-भाव के कारण सह्य होता है। बालक की शैतानी माता सह लेती है और बालकों की सुविधा के लिये उनके सुख के हेतु माता असुविधा उठाती है। इसके विपरीत यदि कभी बिना कारण भी माता अथवा पिता अप्रसन्न होते हैं तो बालक भी उसे समझ लेते हैं; इसके अतिरिक्त संसार की ओर से भी अनेक विचित्रताएँ, धक्का-मुक्की और कभी अन्याय भी सहन कर लेना होता है अथवा इन्हें सहने को तैयार रहना पड़ता है। बालकों में इतनी सहन-शक्ति होती भी है। बालकों के शरीर जिस प्रकार सर्दी-गर्मी अथवा वर्षा को सहन करने के अभ्यस्त हो जाते हैं, उसी तरह उनके मन भी कुटुंब के मनुष्यों के स्वभाववैचित्र्य, अपमान, तिरस्कार, मार-पीट और धूम-धड़ाका सहने के अभ्यस्त हो जाते हैं। परन्तु जब मार-पीट, क्रोध के शब्द, डाँट-फटकार आदि सीमा उल्लंघन कर जायें;जब बालक अपने आपको निराधार समझने लगे; जब उसे ऐसा मालूम हो कि मेरी ओर प्रेम-भाव रखनेवाला कोई है ही नहीं और मैं किसी को अच्छा भी नहीं लगता; तो बालक रोगी मनोदशा को प्राप्त हो जाता है। बालक को इतना मारने से कि वह घबरा जाय या उलझन में पड़ जाय, उसके पेट में डर बैठ जाता है अथवा वह बिलकुल मूर्ख है, उसे कभी कोई काम करना नहीं आवेगा, इस प्रकार की निराशावृत्ति अथवा लघुता-ग्रंथि उसके मन में हो जाने से उसका सम्पूर्ण जीवन नष्ट हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अविचार-पूर्वक दी जानेवाली सज़ा बहुत थोड़े परिमाण में हो तथा अन्य बातों में बालकों के विकास के लिये पूर्ण अवकाश हो तो ऐसी सज़ा से अधिक हानि नहीं होती।

जहाँ घर के वातावरण में दब कर बालक उलझन में पड़ गया हो और इस के फलस्वरूप उस की मानसिक अवस्था रोगी बन गई हो

वहाँ शाला का काम बालकों को सज़ा देना नहीं, वरन् अपने आप को डॉक्टर या हॉस्पिटल की स्थिति में रख कर उचित उपचार करना ही उसका काम है। सामान्य मानसिक रोगों में शाला के सीधे-सादे उपायों से तत्काल सुपरिणाम आता है। शिक्षक की ओर से बालक को सहायता, सहानुभूति, उसके काम का सम्मान, उसकी आत्म-प्रतिष्ठा के लिये योग्य अवकाश आदि यदि शाला में बालक को प्राप्त हो जाँय और बालक को शाला की ओर से उचित प्रकार का स्वस्थ उद्योग करने का क्षेत्र दिया जाय तो हॉस्पिटल में जिस तरह शारीरिक रोगी शीघ्र स्वस्थ हो जाता है, उसी प्रकार रोगी मनोदशावाले बालक भी शाला में रहते-रहते भी मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त कर लेते हैं। बालक के अपराधों की ओर किस दृष्टि से देखा जाय, यही बात सर्वत्र मुख्य है।

बहुत बार यह भी देखने में आता है कि एक साधारण-से चपत या मुक्के से जो काम शीघ्र निकलता है, वह घंटों तक समझाने का प्रयत्न करने पर भी अपूर्ण ही रहता है।

ऐसे उदाहरण देखे जाते हैं, यह बात हमें स्वीकार करनी ही चाहिए। वास्तव में जरा भी क्रोध किये बिना उचित ढंग से एक-दो चपत मार दिया जाय तो कभी-कभी किसी-किसी बालक के विषय में यह उपाय भी सफल होता दीख पड़ता है। कुछ बालकों में समझने की शक्ति कम होती है, और कुछ बालक समझ सकते हैं; परन्तु समझ के अनुसार व्यवहार करने की इच्छा-शक्ति (will to do) उनमें नहीं होती। कुछ बालक वितंडावादी भी होते हैं, तो कुछ ऐसे होते हैं कि बड़े जिस तरह छोटों को समझाते हैं उसी प्रकार व्याख्या कर के मैं भी समझा सकता हूँ-उन में ऐसी होशियारी दिखाने का घमंड होता है। ऐसे बालकों के संबंध में एक चपत बहुत काम निकालनेवाला सिद्ध होता है। कुछ ऐसे अवसर भी आते हैं कि जब "वादविवाद बंद" (No argument) की नीति ही उचित मानी जा सकती है। परन्तु ऐसे अवसर पर भी जो सज़ा दी जाय वह शारीरिक सज़ा के ढंग की हो और उसका व्यवहार 'उपचार' मानकर ही होना चाहिए। जैसे बालकों को शाला के बाहर अलग-अलग टोलियों में घूमने के लिये ले जाना हो तो उस समय यदि ऐसा नियम बना दिया जाय कि "लाइन के बाहर जानेवाला पिटेगा" तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह नियम अनुचित है। कुछ ऐसे अवसर आते हैं जब 'सैनिक अनुशासन' के समान कठोर नियमों का पालन करना आवश्यक माना जाता है और ऐसे नियमों के पालन कराने में बड़ी सावधानी और पूर्ण सजगता रखनी अनिवार्य होती है।

एक समूह ऐसे लोगों का भी है जो यह मानते हैं कि मार खाने से बालक मजबूत और सहनशील बनता है। बालक को मानसिक चोट

न पहुँचाई जाय इस बात को स्वीकार करने से बालक अकारण ही कोमल बन जाता है। जैसे शरीर को सुदृढ़ बनाने के लिये उसे शारीरिक कष्टों में से होकर जाना लाभदायक है, उसी तरह मानसिक दृढ़ता प्राप्त करने के लिये ऐसे कठिन उपायों का आयोजन करना आवश्यक है। यह कहना पड़ेगा कि एक प्रकार से उनका यह विश्वास सत्य है। बच्चों को न मारना, उन पर क्रोध न करना, अथवा अपराध के बदले में सज़ा न देना आदि का यह अर्थ नहीं कि बालकों का मन गुलाब या शिरीष कुसुम के समान अत्यन्त कोमल अथवा काँच के समान नाज़ुक माना जाय। इसका मूल उद्देश्य यह है कि बालकों के अपराधों, उनसे होनेवाले नियम-भंगों, भूलों, बुरी आदतों अथवा उद्दंडताओं की ओर वैज्ञानिक दृष्टि से देखना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर जाना जा सकेगा कि बालकों को दी जानेवाली सजाओं में से अधिकांश बिलकुल अनुचित होती हैं और विशेष कर सजा देने के हेतु से सज़ा देने की पद्धति तो सर्वथा निन्दनीय एवं त्याज्य है।

एक और बात विचार करने योग्य है। वह यह कि शारीरिक सज़ा न देकर बालकों का अपमान करना, उन्हें कक्षा में नीचे उतारना, उनका उपहास करना आदि ढंग की सज़ाएँ शारीरिक सज़ाओं से भी अधिक दूषित हैं। माता-पिता अथवा शिक्षक चपत मारें या बेंत लगावें तो प्रायः बालक इसे उचित मान लेते हैं; वे समझते हैं कि हमारी अमुक भूल के कारण यह सज़ा मिली है। परन्तु यदि सज़ा देने के बदले माता-पिता बालकों के दोषों को पडौसियों से कहने लगें या शिक्षक उनकी भूलों को उनके सामने प्रकट करने लगें तो यह दुःख उन्हें अधिक असह्य और मानसिक कष्ट पहुँचानेवाला प्रतीत होता है। अपमान करने से अथवा तानें मारने से बालक के व्यक्तित्व को प्रबल आघात पहुँचता हैं; प्रत्यक्ष अपमान से उन्हें अपनी प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगता मालूम होता है। इस प्रकार की सज़ा बालकों को कभी भूल कर भी न देनी चाहिए।

बालकों के साथ न बोलना, उनका नाम भी न लेना, उनसे अप्रसन्न भी हो जाना आदि प्रचलित सजाओं के प्रकार हैं। इनमें, बालकों का अमुक व्यवहार हमे अच्छा नहीं लगा इस बात को उनके सामने रखना भी बड़ों का उद्देश्य होता है। ऐसे अवसर पर बालक बड़ों को अच्छी न लगनेवाली बातें प्रायः छोड़ देते हैं और हमें ऐसा मालूम होने लगता है कि हमारी इच्छा पूर्ण हुई और हमारा चाहा परिणाम आ गया; परन्तु बालकों की इस क्रिया के पीछे केवल हमें ही सन्तुष्ट करने का भाव छिपा रहता है। इसकी अपेक्षा, जो बातें न करने योग्य है, उन्हें न करना चाहिए और जो करने योग्य हैं-उन्हें उसी ढंग से करना उचित है, इस भावना से बालकों को अपना आचरण बनाना अधिक हितकर है। कौटुम्बिक वातावरण में कभी कोई व्यक्ति प्रेम के कारण ऐसे उपायों का आयोजन करे

तो इसे बहुत हानिकर नहीं समझना चाहिए; परन्तु स्थायी उपाय के रूप में प्रतिदिन के उपचार के ढंग पर इस रीति का अवलम्बन न होना चाहिए।

अपराध को विशाल रूप देकर उसके लिये सज़ा देने में या उपदेश करने में अथवा अन्य किसी उपाय के आयोजन में भय सन्निहित है। इस बात की विशेष सावधानी रखनी चाहिए कि ऐसा भय कभी उत्पन्न न होने पाये। कारण, बच्चों में यह भावना (guitly sense) पैदा होने पर कि "हमने कोई बुरा काम किया है" उनके मन में अपने विषयमें तुच्छता की धारणा बँध जाती है। इसीमें से प्रायः बालक में लघुताग्रंथि उत्पन्न होती है। जिन्हें नैतिक अपराध कहा जाता है, जैसे कि हस्तमैथुन, चोरी, झूठ बोलना, आदि से पहले तो शिक्षक अथवा घर के बड़े ही घबरा जाते हैं और बालक के ऐसे अपराधों को अति भयंकर तथा विशाल रूप में उस के सामने रखते हैं। ऐसे अवसर पर सावधानी से काम लेना चाहिए। अपराधों के विषय में विशेषतः मनोविज्ञान-शास्त्र की पद्धति से उपचार करना अधिक श्रेयस्कर समझना चाहिए।

संक्षेप में कहें तो बालकों-द्वारा जो भूल या अपराध होता है वह उनके ध्यान में आ जाय और वे उससे बच जाँय-उसे त्याग दें, इसके लिये किसी भी प्रकार की शारीरिक या मानसिक सज़ा देने की अपेक्षा बालकों का पथ-प्रदर्शन करने और इनका उचित उपचार शोधने की पद्धति को अपनाना चाहिए। (पूर्ण)

अनु०-' नूतन ' -ता०

रूस के शेर बच्चे

वर्तमान महायुद्ध में रूसने जिस उत्कट देशभक्ति, अद्भुत बलिदान, अद्वितीय वीरता-धीरता, अदम्य उत्साह-साहस और अपनी आन पर मर मिटने का जो परिचय दिया है, उसने दुनिया को चकित कर दिया है। यदि रूस हिटलर के सामने घुटने टेक देता, फ्रांस की तरह आत्म-समर्पण कर देता, तो आज दुनियाका नकशा ही बदला हुआ होता यह कहना अत्युक्ति न होगा कि जर्मनी के तानाशाह हिटलर को पीछे धकेलकर रूसने दुनिया को बचा लिया है।

यही रूस जिसकी प्रशंसा सभी मुक्त कंठ से कर रहे हैं, आज से कुछ वर्ष पहले गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ था। स्वतंत्रता का वहाँ नाम निशान तक न था। जारशाही की तूती वहां बोलती थी। अन्याय-अत्याचार का बाजार गर्म था। गरीबी का दौर-दौरा था। धनवानों और पंडे-पुजारियों

को छोड़कर वहां कोई भी सुखी नहीं था। जनताको न भरपेट भोजन मिलता था और न तन ढाँपने के लिये वस्त्र। शिक्षा का तो फिर कहनाही क्या ? शिक्षितों की संख्या केवल ३–४ प्रतिशत थी। वहां के शिक्षा-मंत्रीने एकबार कहा था— " Knowledge is useful only when, like salt, it is used and offered in small measures according to the peoples' circumstances -- To teach the mass of people, or even the majority of them, will bring more harm than good. " अर्थात् नमक के समान शिक्षा थोडी मात्रा में ही दी जानी चाहिए। सर्व साधारण को अधिक शिक्षा देने से लाभ के बजाय हानि ज्यादा होती है। इसका मतलब यह है कि शिक्षा धनवानों के बच्चों के लिये थी, गरीबों के लिये नहीं. स्त्रियों की दशा उस समय और भी दयनीय थी। उन के साथ भेड़-बकरियों का सा व्यवहार किया जाता था। पशुओं की तरह उन को बजारों में खुले आम बेचा जाता था। लड़की के पैदा होने पर घर में हाहाकार मच जाता था। उस बेचारी को पांच–छः वर्ष की उम्र में ही नौकरी करनी पड़ती थी। यही हाल बच्चों का था। बचपन में ही कारखानों में नौकरी करके उन्हें पेट पालना पड़ता था। ठीक ढंग से लालन-पालन और साठ-संभाल नही होने के कारण एक हजार बच्चों में से २८५ मृत्युका शिकार बनते थे। बालकों को दर-दर की खाक छाननी पड़ती थी। उन्हें राजभक्ति, गुलामी, जीः हजूरी और हाँ में हाँ मिलाने का पाठ पढ़ाया जाता था उन के लिये न खेल के मैदान थे और न मनोरंजन के साधन। मैले–कुचेले, फटेपुराने कपड़े पहने बच्चे गलियों–मुहल्लों में फिरा करते थे। इस प्रकार क्या बड़े, युवक और क्या बच्चे सभी दासता की चक्की में बुरी तरह पिस रहे थे। गुलामी से छुटकारा पाने के लिये वे छटपटा रहे थे। अन्ततः विद्रोह की एक जबरदस्त लहर रूसके एक कोने से दूसरे कोने तक जंगल की आग की तरह फैल गई। ऐसी क्रान्ति हुई कि जमीन कांप गई और आसमान थर्रा गया। खून की नदियाँ बह गई और रूस का कायाकल्प हो गया। क्रान्ति के बाद रूसने जो कुछ किया वह एक खुला रहस्य है। आज रूस में एक नई दुनिया का निर्माण हो रहा है। अमीर–गरीब का वहां कोई भेद-भाव नहीं। समानता का बोल बाला है। कोई बेकार नहीं, कोई भूखा नहीं; कोई नंगा नहीं; कोई अनपढ़ नहीं।

अब सवाल यह पैदा होता है कि रूसने इस विद्युत-गति से इतनी उन्नति कैसे की ? रूस की आश्चर्य-जनक तरक्की का वास्तविक कारण क्या है ? क्रान्ति के बाद रूस के कर्णधारों ने अपनी सारी शक्ति और ध्यान बच्चों की ओर लगा दिया। सोवियट रूस के जन्मदाता महान् क्रान्तिकारी लेनिन कहा करते थे कि " बच्चों को पढ़ाने के लिये मुझे चार वर्ष दो, और जो क्रान्ति का बीज मैं उन में बो दूंगा, वह कभी भी उखाड़ा न जा सकेगा "। बस रूस की उन्नति व प्रगति का वास्तविक कारण रूस के शेर बच्चे ही हैं। अब जरा उनका हाल सुनिए।

बच्चे सोवियट रूस के प्राण हैं-सर्वस्व हैं। उनके विकास के साधन जुटाने में सोवियट सरकार कोई कसर उठा नहीं रखती है। आरंभ से ही बच्चों की शिक्षा का प्रबंध किया जाता है। रूस में माता और बच्चों दोनों को अत्यंत आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

खेतों और कारखानों में काम करनेवाली माताओं के बच्चों की सारसंभाल के लिये सोवियट सरकार ने रूस में शिशुगृहों और बालगृहों का जाल बिछा रखा है। इन पर जो खर्च होता है, वह सब सरकार ही करती है। एक शिशुगृह में प्राय: ६० से लेकर १०० बच्चों के लिये स्थान होता है। डेढ़ माह से लेकर तीन साल की उम्र के बच्चे उन में दाखिल किये जाते हैं। बालगृहों में तीन साल से सात साल तक के बच्चे रहते हैं। प्रातः ही बच्चे शिशुगृहों में पहुँच जाते हैं। सब से पहले उनका मैडिकल निरीक्षण किया जाता है। फिर स्नान वगैरा कराकर उनको साफ-सुथरे वस्त्र पहना दिये जाते हैं। गर्मी के मोसम में तालाबों में तैरने की खुली छुट्टी दी जाती है। बच्चों की देख-भाल के लिये योग्य डाक्टर और नर्सें रहती हैं। सब बच्चे एक ही साथ, एक ही समय खाते-पीते, खेलते-कुदते और सोते-जागते हैं; कपड़े उतारना-पहनना, हाथ-मुंह धोना, उठना-बैठना आदि सब बातें अच्छी तरह सिखाई जाती हैं। बाजे आदि का भी प्रबंध रहता है। बड़े बच्चे बाजे के साथ नाचते हैं। इस तरह मनोरंजन के साथ व्यायाम भी हो जाता है। इसके अलावा नाना प्रकार के खिलौने, हवाई जहाज, पानी के जहाज, पम्प, इंजन आदि की व्यवस्था रहती है। हमारे देश के बालकों की तरह उनको गुड्डे-गुड्डियों का विवाह करना या देवी-देवताओं की पूजा करना नहीं सिखाया जाता। शिशुगृहों में बच्चों की रुचि-अरुचि का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है और उसी के अनुसार साधन जुटाए जाते हैं। हमारे देश की तरह सब बच्चों को एक साँचे में नहीं ढाला जाता। सब बच्चों का अलग अलग रिकार्ड रक्खा जाता है। बीमार बच्चों को अलग रक्खा जाता है। उनकी माताएं चाहें तो उनके पास रह सकती हैं, लेकिन घर नहीं ले जा सकतीं।

बालगृहों में किंडर-गार्टन पद्धति से पढ़ाया जाता है। चरित्र-निर्माण की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। साहस, वीरता, निर्भयता, स्वाभिमान और आज़ादी के भाव उनमें भरे जाते हैं। समय की पाबंदी का विशेष रूप से ख्याल रक्खा जाता है।

इसके बाद बच्चे स्कूल में जाते हैं। स्कूल ७॥ बजे शुरु होता है। आध घंटे तक जल-पान होता है। फिर बच्चे कारखानों में काम सीखने के लिये जाते हैं। एक बजे एक घंटे का विश्राम होता है। फिर दो घंटे पढ़ाई होती है। शाम के पांच से रात के दस बजे तक संगीत, अभ्यास, खेल, राजनीति आदि की कलबों में जाते हैं। सब की उपस्थिति अनिवार्य है। विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ

वहाँ रहते हैं जो बच्चों की मदद करते हैं। इसके अलावा पार्क (उद्यान) और क्रीडांगण हैं, जहां बच्चे खूब मस्ती से खेलते हैं। हमारे देश जैसी प्राणघातक शिक्षा-पद्धति रूस में नहीं है। मनुष्य बनाना ही शिक्षा का ध्येय है। कमजोर बालक शक्ति के अनुसार पढ़ते हैं। सालभर का काम देख कर योग्यता की जाँच की जाती है। रटा कर बच्चे का दिमाग स्कूल में खराब नहीं किया जाता। शारीरिक परिश्रम सब को करना पड़ता है। साधारण ज्ञान प्राप्त करने के बाद बालक उद्योग-धंधे सीखते हैं ताकि स्वतंत्रतापूर्वक अपना निर्वाह कर सकें। १६ साल की उम्र तक पढ़ना सब बालकों के लिये जरूरी है।

छुट्टी के दिन बालक खूब घूमते हैं। गांवों में सफाई आदि का प्रचार करते हैं। कपड़े धोते हैं। कमरे साफ करते हैं। नाटक खेलते हैं। वादविवाद करते हैं। कहानियां पढ़ते और सुनाते हैं।

निराश्रित, लूले-लंगड़े, अपराधी और अवगुणी बालकों की उपेक्षा रूस में नहीं की जाती, उनको ठुकराया नहीं जाता। उनको, अच्छा बनाने का भरचक प्रयत्न किया जाता है। उनके लिये योग्य निरीक्षक और शिक्षक रखे जाते हैं।

रूस में बच्चों को शारीरिक दंड नहीं दिया जाता। कविवर टागोर के सवाल करने पर एक बालक ने कहा था—"हमारे यहाँ किसी प्रकार का शासन नहीं है। हम अपने को खुद ही सजा दिया करते हैं। हम सब मिलकर बातचीत करते हैं। किसी को अपराधी सिद्ध कर देना ही सब से बड़ी सजा है। इससे बढ़कर और सजा क्या हो सकती है। वह भी दुःखी होता है। हम भी दुःखी होते हैं। बस, झगड़ा खतम हो जाता है।" इसके विपरीत हमारे देश में सजा को ही रामबाण समझा जाता है। घर में भी और स्कूल में भी बच्चों को खूब दंड किया जाता है; उनको बुरी तरह अपमानित किया जाता है। लेकिन रूस में बच्चों के साथ ऐसा क्रूर व्यवहार कोई नहीं कर सकता। बालक को सजा देना वहाँ भयंकर और अक्षम्य अपराध समझा जाता है।

सामाजिक व राजनैतिक शिक्षा सब बच्चों के लिये अनिवार्य है। एक बार एक अंग्रेज यात्री ने एक दस वर्ष के लड़के से पूछा, "तुम्हें झारशाही की निस्बत सोवियट सरकार क्यों पसंद है? लेनिन तो एक झार ही था न?" इतना सुनते ही बालक भिन्ना गया। क्रोध से उसकी आंखें लाल हो गईं। अकड़कर उसने जवाब दिया—"आपकी बात बिलकुल थोथी और द्वेषपूर्ण है। हम लोग झार के आधीन नहीं हैं। हम लोग तो पंचायती राज्य के संरक्षण में हैं। इस सरकार का भला झारशाही से क्या मुकाबला? यह सरकार ऐसी है जिस में सब बराबर हैं। हमारी सरकार तो प्रजा की सरकार है।"

रूसी बच्चे बड़े परिश्रमी, उत्साही, साहसी,

स्वावलंबी, निडर, हृष्ट-पुष्ट और प्रसन्नचित्त होते हैं। कठिनाइयों और आपत्तियों से वे जरा नहीं घबराते। बलिदान के लिये वे सदा तैयार रहते हैं। आत्मविश्वास, आत्मबल और आत्म-सम्मान तो उनमें कूटकूट कर भरा रहता है। उनमें न संकोच है, न जड़ता। सब के सामने एक प्रकार का कार्यक्षेत्र है। सभी के हृदय में एक प्रकार का प्राण है। शिथिलता और आलस्य उनके पास तक नहीं फटकते। रूस के बालक धन या इज्जत के भूखे नहीं। वे सब का हित चाहते हैं। ऊंच-नीच का उनमें भाव तक नहीं। वहां के बालक खुशी-खुशी हँसते-हँसते सब काम करते हैं। अन्याय-अत्याचार के खिलाफ लड़ने के लिये सीना ताने, कमर कसे सदा बैठे रहते हैं। पढ़ने-लिखने में बड़े होशियार होते हैं। दिल लगाकर अपना सब काम करते हैं। काम से जरा जी नहीं चुराते। अपनी गलतियों और भूलों को कभी नहीं छिपाते। फौरन बिना किसी संकोच के साफ साफ कह देते हैं। अपने शिक्षकों से वे जरा नहीं डरते हैं। उन्हें अपना साथी और मित्र समझते हैं। उनसे दिल खोलकर खूब सवाल पूछते हैं और अपनी कठिनाइयों को दूर करते हैं। वहां के बच्चे हमारे देश के बच्चों की तरह मरियल और दब्बू नहीं होते। सवाल पूछा जाने पर भीगी बिल्ली बनकर शिक्षक के सामने खड़े नहीं होते। निर्भय होकर सवालों का जवाब देते हैं। नयी नयी चीजें निकालने का, अन्वेषण करने का उन्हें बड़ा शौक है। छुट्टी के दिनों पाँच-पाँच, दस-दस की टोलियां बनाकर वे चूना और फास्फोरस की खान ढूंढने के लिये जाया करते हैं। एक लड़के ने चूने की एक बड़ी खान ढूंढ निकाली थी जिस से बहुत अच्छी खाद तैयार होती है। इसी प्रकार कोयले और लोहे की बहुत सी खानें लड़कों ने खोज निकाली हैं। इसके अलावा फुरसत के समय अनपढ़ों को पढ़ाने का काम भी वे करते हैं। घर-घर जाकर अक्षरज्ञान कराते हैं। कागज, स्लेट और किताबें सरकार की ओर से बाँटते हैं।

बच्चों के मनोविनोद के लिये सरकार ने बहुत-सी रेलें जारी की हैं। बालक ही इनका संचालन करते हैं। बारह से सोलह साल की उम्र के बच्चे इनमें काम करते हैं। बालक ही टिकट काटते और सिगनल देते हैं। स्टेशन मास्टर का काम भी वही करते हैं। नीपर नदी के तट पर बालकों द्वारा प्रबंधित एक छोटा जहाजी बेडा भी है।

वर्तमान युद्ध में भी बच्चों का भाग कुछ कम नहीं है। वे पढ़ते भी हैं और साथ ही खेतों में जाकर किसानों के साथ काम भी करते हैं, ताकि आधिक अन्न पैदा किया जा सके। शाक, सब्जी आदि भी पैदा करते हैं। सैनिकों के कपड़े सीते हैं। मौजे तैयार करते हैं। रूमाल और झंडे भी बनाते हैं। एक जगह से दूसरी जगह खबर पहुंचाने का काम भी वे बड़ी सुगमता से करते हैं—जान हथेली पर रखकर, इस दिशा में बच्चों ने जो काम किया है, वह इतिहास में सदा अमर रहेगा। कहीं कहीं तो बच्चों ने गाँव के

गाँव शत्रुओं के हाथ से बचा लिये हैं। घायलों की मलमपट्टी करते हैं। उनके घाव धोते हैं। दवाई आदि पिलाते हैं। घर से आये हुए पत्रों को पढ़कर सुनाते हैं और फिर उनका जवाब लिखते हैं। नकली बंदूकों से निशाना लगाना सीखते हैं। बम–गोलों से बचने के लिये छोटे छोटे खंदक खोदते हैं। और खतरे की नकली घंटी बजा-कर उन खंदकों में छिपने की कोशिश करते हैं।

ऐसे होते हैं रूस के शेर बच्चे! धुन के वे इतने पक्के होते हैं कि अपना काम कर के ही दम लेते हैं। अपने प्यारे देश के लिये वे भारी से भारी कुर्बानी करने के लिये सदा तैयार रहते हैं। देश के लिये मर मिटना तो उनके बांए हाथ का काम है। पीठ दिखाना वे जानते ही नहीं। यही कारण है कि रूस हिटलर के दाँत खट्टे कर सका है, उससे लोहा ले सका है।

हमारे देश के बच्चे भी किसी से कम नहीं हैं। उनके अंदर भी स्फूर्ति है, प्राण है, जोश है, और उत्साह है। लेकिन उन बेचारों को अपने विकास का मौका नहीं मिलता। बचपन से ही उनको पराधीन और पराव-लंबी बनकर रहना पड़ता है। उनको ठीक ढंग की शिक्षा नहीं दी जाती। स्वतंत्र रूप से काम करना और सोचना उनको नहीं सिखाया जाता। घर और स्कूल में उन्हें बंदियों की तरह रहना पड़ता हैं। ऐसी दशा में वे वीर और शेर बच्चे कैसे बन सकते हैं। काश, हम अपनी मूर्खता को समझें, बच्चों के प्रति अपना कर्तव्यपालन करें, उनकी प्रत्येक हल-चल का अवलोकन करें, उनको फलने-फूलने का मौका दें। इतना होनेपर ही हमारे देश के बच्चे भी शेर और वीर बन सकेंगे और तभी हमारा देश आजाद हो सकेगा।

–बंसीधर

बच्चों का भय कैसे दूर हो?

(अनुसंधान गतांक अं० २, वर्ष ११ से आगे)

बालक का अँधेरे से डरने का एक यह भी कारण है कि अँधेरे के विषय में बालक के मन में अनेक डरावने काल्पनिक चित्र घर कर लेते हैं। इस लिये अँधेरे में जाते समय बालकों का मन उनकी रुचिकर वस्तु में लगाने की योजना बना ली जाय तो अँधेरे से डरने के काल्प-निक चित्र मन में उत्पन्न ही न हों और अँधेरे से डरने की आदत कम हो जाय। सब से उत्तम उपाय बालक को छोटेपन से ही अँधेरे में सुनाने की आदत डालना है। सोने के कमरे में रोशनी कर के सोने की आदत बालकों को बचपन से हो जाने पर वे अँधेरे से डरने लगते हैं।

भय का यह नियम है कि जिस वस्तु का

भय लगता है उससे हमेशा दूर-दूर रहने को बालक का मन चाहता है। जैसे-जैसे भय का माप बढ़ता जाता है वैसे ही जीवन में आनंद की मात्रा कम होती जाती है। अपनी समीपवर्ती अनेक वस्तुओं का उपभोग करने लगे, हम उनमें तल्लीन हो जायँ तो हमें आनंद आता है। इसके विपरीत यदि हम सब वस्तुओं से अलग रहें तो हमारा जगत् बहुत ही संकुचित और सीमित हो जाता है। इस दशा में हमारा मन भी संकुचित वृत्तिवाला बन जाता है और जीवन का आनंद भी कम होने लगता है।

भय के कारण वस्तुओं और व्यक्तियों से पृथक् रहने का भाव मन में घर कर लेता है। इस पृथकुता से हमारी हलचल और क्रियाओं का परिमाण घट जाता है। क्रिया-शक्ति की न्यूनता बुद्धि-शक्ति और भावनाओं में जड़ता का प्रवेश करा देती हैं। इसी लिये भय का दूर करना बहुत जरूरी है।

जिससे भय लगता है उसीके विषय में किसी नवीन प्रवृत्ति की योजना कर दी जाय तो भय दूर हो जाता है। इस संबंध में यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है। इन्दु बहन चार वर्ष की था। वह प्रत्येक पालतू प्राणी से डरती थी, परन्तु इन्हीं प्राणियों की आकृतिवाले लकड़ी या मिट्टी के खिलौने से खेलने की ओर उसका मानसिक झुकाव जान पडता था। इन्दु के इस सद्गुण के सहारे हमने उसके मन से प्राणियों का भय दूर कर दिया। हमारी टीपूड़ी (कुतिया) बहुत ही भोली थी। कभी किसीको भौंकती तक न थी। उसे छोटे बच्चे बड़े प्यारे लगते थे। वह इन्दुबहन के साथ खेल करने आती; परन्तु इन्दु तो उसे दूर से देखते ही भाग जाती। हम इन्दु को समझाते " देखो इन्दु, टीपूडी तुम से प्यार करती है। तुम इसे बहुत ही अच्छी लगती हो। तुम इस पर हाथ फेरती हो। इस लिये यह तुम्हारे पास आती है। तुम तो भाग जाती हो। यह देखती और पूछ हिलाती ही रह जाती है। इसे कितना दुःख होता होगा ! " हमारे ऐसा कहने से इन्दु के प्रेमी स्वभाव को उत्तेजना मिलती। इस प्रकार धीरे-धीरे इन्दु के मन से टीपूड़ी का भय जाता रहा।

बालकों में रहनेवाले स्वाभाविक प्रेमभाव, सहानुभूति, स्पर्धा के सजग होते ही उनका भय अपने आप दूर हो जाता है। अनुकरण-वृत्ति को भी प्रबलता होती है। इसके उपयोग-द्वारा भी उनका भय दूर किया जा सकता है। बहुत से बालक पानी से बहुत डरते हैं, तैरने चलने का नाम लेते ही वे काँपने लगते हैं, ऐसे बालकों को पानी में उतारने से पहले नहाने और तैरने के शौकीन बालकों के साथ नदियों तालाब पर ले जाना चाहिए। इन बालकों को पानी में तैरते या नाना प्रकार के खेल करते हुए देखकर डरनेवाले बालकों के मन में भी तैरने की इच्छा जागृत होगी। धीरे-धीरे वे भी पानी में घुसने लगेंगे। प्रथम

घुटनोंतक, फिर कमर तक पानी में घुस कर और अंत में सब के साथ वे भी तैरने का आनंद लूटने लगेंगे।

बालकों का भय दूर करने के कुछ मार्ग ऊपर बताये हैं। मुख्य बात यह है कि बालकों का भय दूर करने लिये जो उपाय चुने जायें उनमें सर्वप्रथम समझ की आवश्यकता है। दूसरे ये उपाय बालक को यह विश्वास करानेवाले हों कि इन में डरने जैसी कोई बात नहीं है। विशेष आग्रह के कारण बालक कभी कुछ साहस भी दिखाये तो भी उस के मन में यह विश्वास नहीं होता कि इस में भय की कोई बात नहीं है। ऐसे समयपर कुछ आग्रह क बाद रुक जाना चाहिए। दबाव से तो उलटा ही परिणाम आने की विशेष संभावना रहती है। जहाँ मार या दबाव के बल पर बच्चों का भय दूर करने का प्रयत्न किया जाता है वहाँ-वहाँ यह भय बहुत शीघ्र विकृत स्वरूप धारण कर लेता है। नूतन मनोविज्ञान-शास्त्र इसके अनेक उदाहरण हमारे सामने उपस्थित करता है। इस शास्त्र की गंभीर चर्चा करना यहाँ अप्रासंगिक प्रतीत होता है। फिर भी इतना तो विशेष रूप से याद रखना ही चाहिए कि बालकों के मन से भय दूर करना हो तो दबाव या विवशता के उपाय बिलकुल निरर्थक हैं--सर्वथा अनुचित हैं। बच्चों का भय दूर करने में बड़ों के ज्ञान और धैर्य की सच्ची कसौटी है।

हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि बच्चों को किसी भी बात का भय न होना चाहिए। जिन बातों से वास्तव में डरने की जरूरत है, उनसे बालकों को स्वाभाविक रूपसे डरते ही रहना उचित है। यथा, अग्नि के पास जाने, बहुत ऊँचे से लटक कर कूदने, या बड़े शहरों में सड़क पार करते समय घोड़ागाड़ी या मोटरों के नीचे दब जाने का भय रहता है। ऐसे समय पर सावधानी की आवश्यकता होती है। यदि उस समय बालक असावधान रहेगा तो उस में रहनेवाला खतरा बालक को समझाना होगा। यह सावधानी उसके 'स्वरक्षण' के लिये है। यहाँ इस बात ध्यान रखना चाहिए कि यह साव-धानी भय में परिवर्तत न हो जाय। अग्नि से डरने के अभिप्राय से बालक उसके पास जानेसे भी डरने लगे तो इस डरपोक वृत्ति को दूर करना ही उचित है। जहाँ सावधानी भय का रूप धारण कर ले वहाँ भय के मानसिक परिणामों का इस भी आना संभव है और बालकों के मानसिक विकास का रुक जाना अनिवार्य है। बालकों में घुस बैठनेवाले भय का उत्तरदायित्व प्रायः बड़ों पर ही होता है। हमारे वार्तालाप और अजानपन में मुँह पर होनेवाले हावभावों का बालकों पर गंभीर असर हुए बिना नहीं रहता और इस समय की हमारी भयभीत मुखाकृति बालकों में स्थायी भय पैदा करती है। जब कोई बालक न करने योग्य कार्य करता है तो हम उसे रोकने के लिये किसी प्रकार का भय दिखाते हैं। उस समय हम अपनी बात का ध्यान नहीं करते और जब यही भय बालकों में जड़ जमा लेता है तो

हम बालक को डरपोक मानकर उसकी हँसी उड़ाने लगते हैं। हौआ, बिल्ली, सिपाही, काबुली पठान आदि का डर आरंभ में हम ही बालकों में बैठा देते हैं; परंतु भविष्य में ये ही वस्तुएँ बालकों के मन में भयानक और डरावना रूप धर लेते हैं। इसके फलस्वरूप बालक की प्रत्येक प्रवृत्ति में ये काल्पनिक भूत उसके चारों ओर जमा हो जाते हैं और उसे भय के प्रभाव से क्रियाहीन अथवा निश्चेष्ट बना देते हैं। हमें इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि हमारे तुच्छ प्रतीत होनेवाले भय का परिणाम बालक को सदा के लिये भयाकुल, डरपोक और शक्तिहीन न बना दे!

अनु० –'नूतन'—**सुलभाबाई पाणंदीकर**

बच्चों को विषमता पसन्द नहीं।

(१)

शाम का समय था। सब बच्चे शाला के आँगन में खेल रहे थे। मैं भी उनके इस आनंद में भाग ले रहा था। थोड़ी देर बाद मुझे प्यास लगी। मैं ने चपरासी से पानी लाने को कहा। वह एक लोटे और काँच के गिलास में पानी लाया। मैं ने गिलास में पानी लेकर पीया। गिलास धोकर चपरासी को दे दिया। वह गिलास-लोटा वापिस ले जाने लगा। इतने में मेरे निकर खड़े प्रशान्तजी बोले, "कहाँ जाते हो? हमें भी पानी पिलाओ।" चपरासी रुक गया और बोला, "लो बैठो। पानी पीओ।"

प्रशान्तजी कुछ रुके और सोच विचार के बाद पानी पीने को बैठ गये। चपरासी ने उन्हें लोटे की धार से पानी पिला दिया। पानी पीने के बाद प्रशान्तजी बड़ी शीघ्रता से उठे और मुझ से बोले, "देखिये, मास्टर साहब, यह मास्टरों को तो गिलास से पाने पिलाता है और हमें लोटे से ही। बड़ा बैला आदमी है। हमें गिलास से क्यों नहीं पिलाता?"

मैं ने उन्हें समझाकर शांत किया। मेरी समझ में आया कि बच्चों को विषमता पसन्द नहीं।

(२)

एक बार की बात है कि सब शिक्षक स्कूल के ऑफ़िस में बैठे किसी विषय पर विचार कर रहे थे। इतने में आमोदजी भी उधर से आ निकले। कुछ देर तक चुपचाप खड़े इधर उधर देखते रहे। फिर मुझ से बोले, "और मैं कहाँ बैठूँ?" मैंने पास में रक्खी बैंच की ओर संकेत किया। आप बोले, "नहीं, यह तो बैंच है। आप सब तो कुर्सी पर बैठे हैं। मैं यहाँ क्यों बैठूँ?"

उस समय वहाँ कोई कुर्सी खाली नहीं थी। दूसरे, हम सब लोग काम में लगे थे। इस लिये मैं ने उन्हें समझाकर बाहर भेज दिया, जहाँ सब बच्चे खेल रहे थे।

Regd No. B. 4410

कुछ दिन पूर्व की बात है। राजा साहब का जन्मदिवस था। नगर के स्कूलों के सभी बच्चों को मिठाई बाँटी जा रही थी। अपने-अपने स्कूलों के नम्बर पर सभी बच्चे मिठाई लेने जा रहे थे। कुछ समय बाद हमारी शाला के बच्चों का भी नम्बर आया। सब बच्चे एक पंक्ति में खड़े हो गये। प्रत्येक बच्चा मिठाई लेकर जाने लगा। मैं भी उस समय खड़ा रहा था। जब हमारी शाला के बच्चे मिठाई ले रहे थे उसी समय सात-आठ वर्ष का एक बालक मेरे पीछे आकर खड़ा हो गया। वह उधर से आगे बढ़कर लड्डू लेने का प्रयत्न करने लगा। लड्डू गिनती के थे। अतः मैंने उसे आगे बढ़ने से रोका। वह मेरे पीछे खड़ा होकर रोने लगा। मेज पर रखे थाल में लड्डू थोड़े होते जा रहे थे। उसके धैर्य का बाँध टूट गया। उसने मुझे हटाने में अपना पूरा जोर लगाया। इतने में एक छोटा सा लड़का बोला, 'सब लड्डू ले रहे हैं तो आप इसे क्यों नहीं लेने देते ?" लड्डू देनेवाले महाशय ने उसे दो लड्डू देकर विदा किया। मेरे कथन का तात्पर्य यह है कि बच्चे समताप्रिय होता हैं। उन्हें विषमता जरा भी पसन्द नहीं। —नूतन

वार्षिक मूल्य में वृद्धि

सन १९४५ जनवरी से वार्षिक मूल्य २) दो रुपये।

संघ ने अब तक 'शिक्षण–पत्रिका' का संचालन नुकसानी सहकर ही किया है। इसके प्रति यही विचारधारा रही है कि जनता पर कम से कम आर्थिक भार रहे। किन्तु अब विवश होकर मूल्य बढ़ाना पडा है। अब जब 'पत्रिका' का प्रकाशन–चार वर्ष पहले के समान–१६ पृष्ठों में कर सके हैं तो वार्षिक १) के बदले रु. २) लेने का प्रस्ताव व्यवस्थापक मंडल की दीसम्बर के प्रथम सप्ताह में दादर (बम्बई) में हुई सभा में किया गया है।

इस मूल्य में सामान्य सभ्य के चंदे का भी समावेश हो जाता है–अर्थात् अब प्रत्येक ग्राहक संघ का सामान्य सभ्य स्वतः ही होगा। किन्तु 'पत्रिका' का वार्षिक मूल्य कमसे कम रु. २) तो है ही। मराठी 'पत्रिका' के बाल विभाग में पृष्ठ अधिक होते हैं अतः उसका मूल्य २) के बदले रु. २–८–० रहेगा।

जिन की तरफ से मनीआर्डर से १० जनवरी १९४५ तक रु. २) नहीं आवेगा उनकी तरफ ४ आना वी. पी. खर्च के मिलाकर रु. २–४–० (मराठी रु. २-१२–०) की वी. पी. जनवरी ता. १५ के बाद भेजी जायेगी।

यह मूल्य की वृद्धि विवश होकर निरुपाय स्थिति में की गई है। सर्व शुभेच्छक और ग्राहक अब तक जैसा प्रेम रक्खा है उसी प्रकार इस उपयोगी कार्य में प्रेमपूर्वक सहकार देंगे ऐसी आशा है। -संपादक

शिक्षण समाचार

डॉ. मॉन्टेसरी का हिन्दुस्थान में का छ... मॉन्टेसरी प्रायमरी कोर्स (अभ्यासक्रम) अहमदाबाद (गुजरात) में दीसम्बर १९४... के अन्तिम सप्ताहमें सुरु होगा।

मुद्रक व प्रकाशक : पु. आ. चित्रे, आत्माराम मुद्रणालय, खारीबाव रोड, बडोदें
कार्यालय : महाजन गली, ज्ञानमंदिर, रावपुरा, बडोदें १६ : १२ : ४४